❀ ओ३म् ❀

आर्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब)

हीरक जयन्ती

स्मारक ग्रन्थ

प्रथम भाग

सम्पादक

श्री स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

प्रकाशक

म० कृष्ण जी

मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब,

गुरुदत्त भवन, लाहौर।

प्रथम संस्करण] विक्रमी २००३ वैशाख [मूल्य ५)

दो शब्द

१९२५ में मथुरा में ऋषि दयानन्द की जन्म शताब्दी मनाई गई। मैं उन दिनों भी आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब का मन्त्री था और आज जब कि १९४६ में आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की हीरक जयन्ती मनाई जा रही है, मैं फिर सभा का मन्त्री हूँ। अपने ऊपर प्रभु की यह असीम कृपा समझता हूँ कि २० वर्ष के पश्चात् भी मैं आर्य समाज की सेवा के योग्य हूँ। १९२५ में आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब की ओर से जो विशेष ग्रन्थ प्रकाशित किया गया था उसका नाम था—वेदामृत। इसके पहले संस्करण का सम्पादन पं०श्रीपाद दामोदर जी सातवलेकर ने किया था, और दूसरे संस्करण का सम्पादन स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ ने। आज २० बरस के पश्चात् हीरक जयन्ती के उपलक्ष में जो अभिनन्दन ग्रन्थ सभा की ओर से प्रकाशित हो रहा है उसके सम्पादक भी श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ हैं। मैं उनका यह सौभाग्य मानता हूँ।

उन्हें आर्य समाज की २० बरस की निरन्तर सेवा का अवसर मिला है। इससे पूर्व आर्य-समाज के विशेष अवसरों पर जो विशेष ग्रन्थ प्रकाशित होते रहे हैं, वे वेद मन्त्रों का संग्रह थे। सभा की हीरक जयन्ती के उपलक्ष में जो अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है उसमें वेद मन्त्रों का संग्रह नहीं किया गया किन्तु आर्य समाज के सिद्धान्तों तथा उसके कार्य के विषय में विद्वानों के लेख प्रकाशित किए गए हैं। वेदमन्त्रों का संग्रह भी उपयोगिता रखता है, और लेखों का संग्रह भी। मुझे आशा है कि पाठकगण इस अभिनन्दन ग्रन्थ के स्वाध्याय से विशेष लाभ प्राप्त करेंगे। इच्छा बहुत बड़ा ग्रन्थ निकालने की थी। किन्तु कागज़ की कमी और छपाई की कठिनाई के कारण वह इच्छा पूर्ण नहीं हो सकी। जो लेख प्रकाशित नहीं हो सके, उन्हें दूसरे भाग में प्रकाशित कर दिया जायगा। जिन विद्वान् और विचारशील सज्जनों ने इस ग्रन्थ के लिये लेख लिखे हैं, उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाशन में मैं स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ के साथ हूँ और आशा करता हूँ कि इस सभा पर उनकी कृपा दृष्टि बनी रहेगी।

कृष्ण
मन्त्री, आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब
लाहौर

ओ३म्

आर्य्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब)

हीरक जयन्ती

सम्पादकीय वक्तव्य

आर्य्य प्रतिनिधि सभा पंजाब को स्थापित हुए साठ वर्ष होते हैं। पाश्चात्य पद्धति का अनुकरण करते हुए सभा के अधिकारियों ने इसकी हीरक जयन्ती मनाने का निश्चय किया।

सभा का मुख्य कार्य्य वैदिक धर्म्म प्रचार है। यह कार्य्य अतुल धन एवं असंख्यजन की अपेक्षा करता है। जन के तन-रक्षण के लिये धन अनिवार्य्य है। इस पवित्र कार्य्य के लिए सभा को तथा तत्संबद्ध समाजों को राज्य की ओर से किसी प्रकार का प्रोत्साहन अथवा धन संबन्धी सहयोग प्राप्त नहीं हैं। सभा के सभी कार्य्यों के लिए आय का साधन अथवा मूलोद्गम केवल जनता है। सभा तथा तत्संबद्ध समाज प्रति वर्ष लाखों रुपये वैदिक धर्म्म प्रचार एवं लोकोपकार के कार्य्यों में व्यय करती है और यह साधन इसे जन से प्राप्त होता है। यह न भूलना चाहिए कि आर्य्य समाज में अधिक संख्या मध्यवित्त जनों की है। इस से जन साधारण के मूक त्याग एवं श्रद्धा का अनुमान सहज में किया जा सकता है।

सभा की आवश्यकताएं साधारण न रह कर असाधारण होती जा रही हैं। काल के साथ सभा के कार्य्यों का विस्तार होता जा रहा है। उसी अनुपात से धन एवं जन की आवश्यकता बढ़ रही है। आर्य्य जनों का उत्साह, श्रद्धा, कार्य्यतत्परता आदि सद्गुण सकलजन प्रसिद्ध हैं। इन सद्गुणों को स्थिर रखने, बढ़ाने एवं आगामी सन्तानों में संक्रमण करने के लिए आयोजनों की आवश्यकता होती है। उन आयोजनों में उत्सव एक विशेष स्थान रखते हैं। इन उत्सवों में संमिलित होकर जहां पुराने कार्य्य कर्त्ता नूतन स्फूर्त्ति और नवोत्साह प्राप्त करते हैं, वहां उनके स्वार्थ शून्य सेवाभाव एवं परोपकार परायणता कई नये जनों को इन सत्कार्य्यों में सहयोग देने को तत्पर कर देते हैं। इस प्रकार इन आयोजनों से द्विगुणित लाभ होता है। इसी भाव को लक्ष्य में रख कर सभा का हीरक जयन्ती महोत्सव मनाने का निश्चय किया गया है। इस अवसर पर होने वाले अनेक सत्कार्य्यों के साथ साहित्य प्रकाशन की योजना भी है। सभा के मन्त्री महाशय कृष्ण जी की इच्छा थी कि इस अवसर पर विविध विषय विभूषित एक ग्रन्थ तय्यार किया जाए। उन्हों ने इस कार्य्य का भार मुझ पर डालना उचित समझा। पहले से ही नाना कार्य्य भाराक्रान्त होने पर भी मैं उनके प्रेममय अनुरोध को टाल न सका।

यह स्पष्ट है कि यह ग्रन्थ मेरी कृति नहीं है। अधिक से अधिक मेरी स्थिति मालाकार=माला पिरोने वाले की है। फूल यदि अच्छे हों तो माला अनायास ही अच्छी बन जाती है। वह फूलों की महिमा है। मालाकार को उसमें गर्व करने का कुछ भी नहीं है। हां मालाकार का नगण्य तागा फूलों के

के बीच में जाकर अवश्य गौरवान्वित हो जाता है। लेख प्रदान करने वाले लेखकों का मैं अन्तस्तल से धन्यवाद करना चाहता हूं। अनेक कार्य्यों में व्यस्त रहने पर इन महानुभावों ने मेरी प्रार्थना अतीव तत्परता से स्वीकार की। इनमें कई ऐसे महोच्च मनुष्य भी हैं जिनके शुभ दर्शन लाभ का मुझे अब तक सुयोग नहीं मिला। अपरिचित होते हुए भी इन महामनुष्यों ने मेरी अभ्यर्थना की कदर्थना नहीं की। सचमुच इन परिचित और अपरिचित [अब तो ये भी परिचित ही हो गए हैं] विद्वान् सज्जनों के कृपामय सहाय के बिना यह दुष्कर कार्य्य मुझसे संपन्न न हो पाता, अत: मैं इनका जितना भी धन्यवाद करूं थोड़ा है।

काग़ज़ की दुर्लभता के कारण इस ग्रन्थ को इसी आकार के पांच छ: सौ पृष्ठों तक सीमित करने का विचार था। किन्तु अपेक्षित काग़ज़ के न मिल सकने के कारण यह उतना भी नहीं बन पाया। अंत: कई आवश्यक महत्त्वपूर्ण लेख इसमें नहीं दिए जा सके। यत्न हो रहा है कि सुनिकट भविष्य में वे भी जनता के सामने आजाएं।

जिन महानुभावों के उत्तम एवं परिश्रम से लिखे लेखों को इसमें स्थान नहीं दिया जा सका उनसे नतमौलि बद्धाञ्जलि हो कर क्षमा प्रार्थना करता हूँ। उन्होंने मुझ पर कृपा करके जो कष्ट उठाया, उसके लिए मैं उनका उतना ही कृतज्ञ हूँ।

लाहौर गुरुदत्त भवन,
१ वैशाख १२२ द०

विद्वज्जनविधेय
स्वामी वेदानन्द (दयानन्द) तीर्थ

ओम्

आर्य्य प्रतिनिधि सभा (पंजाब)

के

साठ वर्ष

गुरु विरजानन्द जी से धर्म्म प्रचार की दीक्षा पाकर यतिराज दयानन्द ने देश में घूम घूम प्रचार करते हुए यह अनुभव किया कि इस कार्य को व्यवस्थित रूप दिया जाए। इसी कारण राजकोट के प्रार्थनासमाज के सदस्यों के विचारों में ऋषि के उपदेशों को श्रवण कर जब परिवर्त्तन आया तब ऋषिराज की अनुमति प्राप्त करके उन्होंने उसका नाम आर्यसमाज रख दिया। उसके पश्चात् जब १८७५ में बम्बई में उन्होंने आर्यसमाज की स्थापना की, तो वहां कार्य संचालन के लिये कुछ नियम भी बनवाए। उन नियमों में तीसरा नियम विशेष महत्त्वशाली है। वह नियम इस प्रकार है—

"इस समाज में प्रतिदेश के मध्य एक प्रधान समाज होगा और अन्य समाज शाखा प्रशाखा होंगे।"

यह नियम ऋषि की विशालबुद्धि, दूरदर्शिता, संघटन-निपुणता का परिचायक है। ऋषि ने पहले ही सोच लिया कि एक दिन आएगा जब कि देश में समाजों का जाल बिछ जाएगा। उनको एक सूत्र में बांधने के लिये केवल सिद्धान्तों की एकता ही पर्य्याप्त नहीं है, वरन् सहयोग-साधन भी चाहिये। यह नियम उसी सहयोग-साधन का निर्देश कर रहा है। इसी नियम के आधार पर प्रान्तीय प्रतिनिधि सभाओं की रचना हुई।

ऋषि के इहलीलासंवरण के पश्चात् जहां ऋषि-भक्तों में ऋषि-स्मारक बनाने का भाव अत्यन्त प्रबल था, वहां ऋषि के प्रवर्तित कार्य को सुदृढ़ भित्ति पर अवस्थापित करने एवं सुचारु रूप से सतत संचालन करने के लिये एक एक प्रान्त के समाजों को एक संघटन सूत्र में पिरोने की भावना भी अत्यन्त उत्कट थी।

इस उत्कट भावना ने १७, १८ अक्तूबर १८८५ ई० को अमृतसर में मूर्त्तरूप धारण करने का उपक्रम किया। वहां इन दिनों पंजाब के उस समय के प्रायः सभी समाजों के प्रतिनिधि एकत्थ हुए और उन्होंने प्रान्तीय आर्य प्रतिनिधि सभा बनाने का निश्चय किया और उसके लिये नियमों की एक पाण्डुलिपि तय्यार की।

अनेक विघ्न-बाधाएं पार करके ४-५ अक्तूबर १८८६ ई० को आर्य प्रतिनिधि सभा का पहला अधिवेशन हुआ।

ऋषि का स्थिर स्मारक बनाने के विचार से डी० ए० वी० कालेज की स्थापना हो चुकी थी। आगे चलकर इस कालिज के पाठ्यक्रम एवं आहार के प्रश्नों पर आर्यसमाज में उग्र मतभेद उत्पन्न हुआ। पुरातन सभ्यता, वैदिकधर्म प्रचार के भक्त, आर्षपाठ्यप्रणाली के अनुरक्त सज्जनों ने अपनी सारी शक्ति वैदिकधर्म में लगाने का निश्चय किया।

इस मतविभेद के उग्ररूप धारण करने से पूर्व आर्यसमाज की आशाओं के केन्द्र मुनिवर गुरुदत्त जी का १८९० ई० में देहान्त हो चुका था। पण्डित गुरुदत्त जी तात्कालिक पश्चिमी विज्ञान के

पारगामी विद्वान् के साथ वेद-शास्त्रों के भी अच्छे ज्ञाता थे। साथ ही लोकोत्तर प्रतिभा के धनी थे। निरन्तर कार्य में रत रहने के कारण अकाल में ही वे काल व्याल की कराल गाल में विला गए। गुरुदत्त जी के निधन-वर्ष में ला० साईंदास जी ने अपनी इहलीला संवरण कर ली। अत: परस्पर विरोधी विचार-धाराओं के एक प्रवाह में बहा ले जाने की शक्ति के लोप हो जाने से विभेद अनिवार्य हो गया।

आर्य प्रतिनिधि सभा पर वेद-प्रचार को आर्यसमाज का मुख्य कार्य समझने और मानने वाले मनुष्यों का ही अधिकार रहा। इनमें राय पैड़ाराम धवन, राय बहादुर ठाकुदत्त धवन, लाला (महात्मा) मुन्शीराम जिज्ञासु प्रमुख थे। राय बहादुर ठाकुरदत्त धवन ने 'वेद-प्रचार स्कीम' नामक पुस्तक में वेद-प्रचार की आयोजना आर्य जनता के समक्ष रखी। जनता ने इसका खूब स्वागत किया। [महामहोपाध्याय] पं० आर्य मुनि, पं० लेखराम, पं० कृपाराम आदि उपदेशकों ने प्रचार की धूम मचा रखी थी। इसके अतिरिक्त सभा को कई गण्य मान्य संन्यासियों का सहयोग भी प्राप्त था।

वेद-प्रचार निधि की स्थापना—प्रचार के स्थिर और व्यवस्थित करने के लिए आर्य प्रतिनिधि-सभा ने २ सितम्बर १८६४ ई० के साधारण अधिवेशन में निम्नलिखित दो प्रस्ताव स्वीकार किए।

१—चूंकि सभा की मौजूदा आमदनी वैदिकधर्म के यथोचित प्रबन्ध के लिए काफ़ी नहीं है। इसलिए जरूरी है कि इस मतलब के लिए सभा-हाज़ा के ज़ेरइहतिमाम वेदप्रचार फण्ड नामी एक फण्ड खोला जाए जिसके अग़राज़ ये होंगे—

(क) उपदेश करना कराना और पुस्तक आदि तय्यार करा कर जारी करना।

(ख) उपदेशकों और उपदेशिकाओं को तय्यार करना।

(ग) आर्यधर्म की वृद्धि और उन्नति के लिए पुस्तकालय क़ायम करना।

(घ) लाहौर में विद्यार्थियों के लिए एक आश्रम खोलना।

२—आर्यसमाजों की सेवा में सिफ़ारिश की जाए कि अपने अपने सालाना जलसे पर सिर्फ़ वेद-प्रचार फण्ड के लिए अपील किया करें और दीगर मौकों पर भी धन एकत्र करने की कोशिश करें।

ये दो प्रस्ताव वेद-प्रचार निधि की स्थापना के हेतु बने। 'धर्मात्मा' सामाजिकों ने अपने प्रतिनिधियों की सिफ़ारिश को पूरी तरह अपनाया। सभा उपदेशकों के विषय में क्या सोचती थी, ये उस समय की उसकी उपसभा के शब्दों में सुनिये—

सब से जरूरी और पहला काम जिस पर प्रतिनिधि सभा, आर्य पब्लिक को ध्यान देना चाहिए वह मिशन यानी उपदेश का है, और उसके लिए आवश्यक है कि धार्मिक विद्वान् पैदा किये जायं और उनको इस कदर आजीविका दी जाय कि जिससे उनका गुज़ारा मये अयाल (परिवार-सहित) माकूल तौर पर (पर्याप्त रूप से) हो सके।

उस समय सभा की दृष्टि में माकूल गुज़ारा क्या हो सकता था, वह निम्नलिखित तालिका से ज्ञात हो सकता है—

उप सभा की राय थी ·················पंजाब के हरेक जिले के वास्ते कम अजकम एक उपदेशक होना चाहिए और इसी वास्ते इसकी तजवीज है कि हस्ब जैल तनखाह के आदमी जब मौजूद हों तब समझना चाहिए कि हमारा स्टाफ़ पूरा है—

तादाद	तनख़्वाह फीकस	कुल तनख़्वाह
१	२००)	२००)
२	१५०)	३००)
२	१००)	२००)
४	७५)	३००)
८	५०)	४००)
१०	४०)	४००)
८	२५)	२००)
३५		२०००)

बड़ा वेतन पाने वाले उपदेशक का कार्य सभा ने निम्नलिखित निर्धारित किया—

जो बड़ी-बड़ी तनख़ाह के हैड उपदेशक होंगे वे सदर में रहेंगे। उनका काम होगा—

(१) उपदेशक डिपार्टमेंट की निगरानी करना, (२) एक आले दर्जे का अख़बार और मैगज़ीन जारी करना, (३) शास्त्रार्थ के लिए उद्यत रहना, (४) वार्षिक उत्सवों पर जाना और देशान्तरों में जहां जरूरत हो उपदेश करना, (५) वैदिकधर्म की उन्नति की तजवीज सोचना और आर्य मिशन कान्फरेंस का प्रबन्ध करना, (६) वैदिक उपदेशकों की ऊँची जमाअत को पढ़ाना (७) ट्रैक्ट सोसाइटी का इहातमाम करना।

ट्रैक्ट सोसाइटी—उपदेशक के उपरिलिखित कर्त्तव्यों में अन्तिम कार्य ट्रैक्ट सोसाइटी का प्रबन्ध करना है उसका उद्देश्य इस तरह बताया गया—

ट्रैक्ट और रिलिजस बुक सोसाइटी का उद्देश्य यह होगा कि धर्मविषयक छोटी छोटी पुस्तकें छपवाई जावें। और उनके प्रचार का प्रबन्ध किया जावे। यह बड़ा भारी काम है। प्रतिनिधि सभा की सहायता से केवल वे पुस्तकें छपनी चाहिएं जो वैदिकधर्म के विरुद्ध न हों। आर्यसमाजों के द्वारा उनके प्रचार का भी प्रबन्ध करना होगा ·······
दूसरे, आर्ष ग्रन्थों का छपवाना, उनका अनुवाद कराना और उनको थोड़े मोल पर बेचना भी आवश्यक है।

पुस्तकालय की स्थापना भी वेद-प्रचारनिधि का अंग है यह ऊपर बताया जा चुका है। पुस्तकालय का उद्देश्य यह निर्धारित हुआ—

ऐसा पुस्तकालय होना चाहिए कि जिसमे वेदों के भाष्य और वेदाङ्गों और आर्ष ग्रन्थों और उनकी टीकाओं के अतिरिक्त अन्य धर्मों की पुस्तकें और सब यूरोप के विद्वानों की ओरियंटल पुस्तकें मिल सकें। जो पुस्तकें भी आर्यधर्म या संस्कृत विद्या के सम्बन्ध में किसी स्थान में छपें वे मंगवाई जाया करें ताकि जो विद्वान् गवेषणा करना चाहें वह आसानी से कर सकें।

१८९४ ई० में इस के लिए यत्न किया गया। इसी वर्ष सभा के पास ५०० पुस्तकें हो गईं। और धीरेधीरे यह बढ़ता चला गया। आज यह पञ्जाब के बहुत बड़े पुस्तकालयों में गिना जाता है। इस समय इसमें सोलह हज़ार से ऊपर पुस्तकें हैं। १८९८ ई० में महाधन पं० लेखराम जी का पुस्तकालय भी सभा को मिल गया और वह पंजाब वैदिक पुस्तकालय में सम्मिलित कर दिया गया।

१८९८ से इस पुस्तकालय का उपयोग सर्वसधारण के लिए खुला कर दिया गया। और इसी वर्ष वाचनालय भी खोल दिया गया जो अब तक निरन्तर चालू है। इसमें दैनिक, साप्ताहिक मासिक त्रैमासिक पत्र पत्रिकाएं आती हैं। पर्य्याप्त लोग इससे लाभ उठाते हैं।

इसी प्रकार उपदेशक पाठशाला की स्थापना भी सभा की वेदप्रचार निधि की योजना का एक अंग था।

१८९३ में सभा ने विद्यार्थी आश्रम की स्थापना की। मास्टर दुर्गाप्रसाद ऐसे साधु, सच्चरित्र, तपस्वी महानुभाव इसके अध्यक्ष नियत हुए। इस आश्रम का फल यह हुआ कि सभा के प्रमुख अधिकारियों का युवकों से संसर्ग रहा। राय पैड़ाराम जी जैसे वृद्ध इस आश्रम में आ आ कर विद्यार्थियों से मिलते, उनके सुखदुःख सुनते एवं अपने स्नेहभरे व्यवहार से विद्यार्थियों को आर्य समाज का भक्त और अनुरक्त बनाते। सभा के वर्तमान उपप्रधान पं० विश्वम्भरनाथ जी इस विद्यार्थी आश्रम में छात्र-रूप में वास करते रहे हैं। १८९८ ई० में यह आश्रम बन्द कर दिया गया। १९१२ ई० में पुनरुज्जीवित किया गया। अब कई वर्ष हुए फिर बन्द कर दिया है और उसके स्थान में आर्य्य हाई स्कूल है।

सभा की रजिस्टरी—२४ दिसंबर १८९५ ई० को सभा की रजिस्टरी हो गई और सभा के निम्नलिखित उद्देश्य घोषित किये गए—

(१) वेदों और प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों के पढ़ाने और आर्य्योपदेशकों के तय्यार करने के लिए एक विद्यालय का कायम करना।

(२) धार्मिक और पदार्थ विद्या संबन्धी पुस्तकों का एक पुस्तकालय खोलना जिसमें सर्वसाधारण पुरुष पुस्तकें देख सकें।

(३) वेदों के सिद्धान्तों का प्रचार करने के लिए लघु पुस्तकादि छापना छपवाना।

(४) पंजाब और दीगर (अन्य) मुकामात (स्थानों) में वैदिक धर्म के प्रचार का प्रबन्ध करना।

(५) वैदिक धर्म के प्रचार के लिए तजावीज़ (आयोजनाओं) का सोचना और उनके अनुसार प्रबन्ध करना।

१८९५ तक सभा कार्य्यालय के विना ही कार्य्य चलाती रही। उस वर्ष वच्छोवाली आर्य्यसमाज में ४) मासिक किराया पर एक स्थान सभा कार्य्यालय के लिए लिया गया। आज सभा का कार्य्यालय अपने विशाल और दर्शनीय भवन [गुरुदत्तभवन] में है जो अब अपर्याप्त प्रतीत होने लगा है।

आरंभ में सभासंबन्धी पत्रव्यवहार प्रधान, उपप्रधान तथा मन्त्री कर लिया करते थे। कार्य की वृद्धि के साथ वैतनिक कर्मचारी रखने आवश्यक हो गए। अतः १८९५ में एक लेखक और १८९७ में एक गणक नियुक्त किया गया। आज सभा के कार्यालय में १९ कर्मचारी कार्य करते हैं।

प्रारंभ में वेदप्रचार निधि की आय केवल दो हज़ार थी। १८९५ में यह ग्यारह हज़ार तक बढ़ गई। आज प्रभु की दया से पैंसठ हज़ार के लगभग हो चुकी है।

१८९२ ई० में सभा में केवल सात उपदेशक थे, १८९५ ई० यह संख्या पन्द्रह तक जा पहुंची। आजकल लगभग १०० उपदेशक भजनीक कार्य करते हैं।

पंजाब के सौभाग्य की बात है कि इसे एक न एक चोटी का कार्यकर्त्ता मिलता ही रहा है। आर्य समाज के आरंभ काल में यदि पंजाब समाजों के सर्वस्व मुनिवर गुरुदत्त थे तो उनके पश्चात् ओजोमूर्ति लेखराम समाज को मिल गए। १८८० में लेखराम जी ने ऋषिदर्शनों से अपने आप को निहाल किया। ऋषिदर्शन की पुनीत यात्रा पर जाने पर जाने से पूर्व उन्होंने पेशावर की माई रज्जी की की धर्मशाला में, जहां उन दिनों पण्डित जी रहा करते थे, आर्यसमाज की स्थापना कर दी। १८८४ ई० में इन्होंने पुलिस की नौकरी त्याग दी और अपना सारा समय वेद प्रचार के अर्पण करने लगे। पण्डित

जी विधर्मियों से शास्त्रार्थ किया करते थे। विधर्मियों ने शास्त्रयुद्ध में उनका पार न पाकर धोखे से शस्त्र-प्रहार कर उनकी जीवनलीला समाप्त कर दी।

महाधन लेखराम ने वाचिक प्रचार के साथ लेख का कार्य भी खूब किया। पेशावर से 'धर्मोपदेश' पत्र निकालते रहे, फिर फीरोज़पुर के आर्यगज़ट के सम्पादक बने, ऋषि का विशाल जीवन चरित लिखा और बीसियों अन्य पुस्तकें रची।

६ मार्च १८९७ ई० का दिन आर्यसमाज के इतिहास में विशेष महत्त्व का स्थान रखता है। इसी दिन पं० लेखराम विश्वासघात का शिकर हो कर धर्म पर बलिदान हुए। सभा ने उनकी स्मृति स्थिर बनाए रखने के लिए लेखराम—स्मारक निधि स्थापित की। इस निधि से वेद प्रचार के साथ आर्य मुसाफिर पत्र का संचालन एवं पंडित जी के परिवार का पालन तथा १९०३ ई० के पश्चात् गोपीराम की क्रूरता के लक्ष्यभूत पं० तुलसीराम जी की माता तथा श्री वज़ीरचन्द्रजी की धर्मपत्नी की भी सहायता की जाती रही।

यद्यपि ला० मुन्शीराम जी सभा के प्रधान रह चुके थे पण्डित लेखराम जी उनकी प्रधानता में उपदेशक का कार्य करते थे तथापि पण्डित जी के समय पण्डित जी ही अगुवा माने जाते थे। महाधन लेखराम की इस प्रकार की नृशंसहत्या से मुन्शीराम जी में धर्मोत्साह अधिक बढ़ा और वे सभा के कार्यों में अधिक समय देने लगे। एक प्रकार से उन्हों ने सभाकार्य को अपना मुख्य कार्य बना लिया।

गुरुकुल स्थापना का सूत्रपात—'धर्मात्मा' सामाजिकों के सामने जब वेदप्रचार की योजना आई तब कई महानुभावों को ऋषि दयानन्द प्रतिपादित आर्य पाठविधि की स्मृति जाग उठी और वे इसको प्रचलित करने की चर्चा करने लगे। अनेक सज्जन इसे असंभव समझते थे। परन्तु कई ऐसे भी थे जो इस असंभव को संभव करने पर तत्पर थे। मुन्शीराम उन्हीं में से थे और उन्होंने इस असंभव को संभव कर दिखाया।

यद्यपि गुरुकुल स्थापित करने के आन्दोलन का सूत्रपात १८९७ ई० में हुआ। तथापि इसके खुलने में कुछ समय लगा। सन् १८९८ ई० में साधारण अधिवेशन में सभा ने गुरुकुल खोलने का प्रस्ताव स्वीकार किया। धन की समस्या का समाधान अनहोनी को होनी कर दिखाने वाले मुन्शीराम जी ने कर दिया। उन्होंने प्रतिज्ञा की जब तक गुरुकुल के लिए तीस हजार रुपये संग्रह न कर लेंगे, घर में पग न धरेंगे। उनकी यह प्रतिज्ञा शीघ्र पूरी हो गई। मुन्शीराम जी की यह सफलता असाधारण समझी गई।

महात्मा मुन्शीराम ने गुरुकुल के नियम निर्माण कर १६ दिसंबर १९०० ई० के सभा के साधारण अधिवेशन में स्वीकृत कराए। उनके हस्ताक्षरों से गुरुकुल की पहली नियमावली प्रकाशित की गई उस में २० पृष्ठों की भूमिका है। गुरुकुल के उद्देश्य आदि के सम्बन्ध में सभा की यह प्रमाणिक घोषणा है। तदनुसार १६ मई सन् १९०१ ई० को गुजरांवाला में पूर्व से विद्यमान सभा की वैदिक पाठशाला में गुरुकुल की स्थापना कर दी गई और उपयुक्त स्थान की खोज जारी रखी गई। १९०१ ई० के अन्त में नजीबाबाद वासी मुन्शी अमनसिंह जी ने गंगापार कांगड़ी ग्राम गुरुकुल के लिए सभा को अर्पित कर दिया। ४ मार्च १९०२ ई० को गुजरांवाला से गुरुकुल कांगड़ी ग्राम में लाया गया। उससे पूर्व गुजरांवाला की स्थापना के साथ ही महात्मा मुन्शीराम ने अपने दो पुत्रों को भी गुरुकुल में प्रविष्ट करा

दिया। प्रारंभ में गुरुकुल में २० विद्यार्थी प्रविष्ट हुए। आज गुरुकुल और उसकी शाखाओं में लगभग एक सहस्र विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। दूसरे प्रान्तों के गुरुकुलों की संख्या इस से पृथक् है।

गुरुकुल ने नये शिक्षा प्रकार का उपक्रम किया अतः शीघ्र देश विदेश में प्रसिद्धि पा गया। गुरुकुल का मेला आर्यों का एक बहुत बड़ा मेला माना जाता है और यह आर्यों का प्रान्तीय नहीं, वरन् अखिल भारतीय मेला है।

गुरुकुल से एक विशेष लाभ आर्यसमाज को मास्टर (पश्चात् प्रोफेसर, अन्त में आचार्य) रामदेव की प्राप्ति के रूप में हुआ। यह महानुभाव पहले जालन्धर छावनी के विक्टर हाईस्कूल में प्रधानाध्यापक थे। वे लगभग १९०६ में गुरुकुल में आए। वे योग्य विद्वान् एवं उच्चकोटि के वक्ता थे। उनकी स्मरणशक्ति विलक्षण थी। उनके परामर्श से गुरुकुल के संचालन एवं शिक्षण में पर्य्याप्त परिवर्तन हुआ। रामदेव जी का धर्म प्रेम, प्रचार प्रवणता अनुकरणीय थी।

पं० गुरुदत्त जी ने अंग्रेज़ी में 'वैदिक मेगज़ीन' नामक पत्र का प्रवर्तन किया था। अभी उसके तीन चार अङ्क प्रकाशित हो पाए थे कि पण्डित जी का देहान्त हो गया। उनके अवसान के साथ मेगज़ीन भी लोप हो गया। मास्टर रामदेव जी के उद्योग से १९०७ ई० में इसका पुनरुद्धार किया गया और इस पत्र के अन्तिम अंक तक वे इसके संपादक रहे। सन् १९२४ ई० में पं० चमूपति जी इस कार्य में उनकी सहायता करने लगे। रामदेव जी अंग्रेज़ी भाषा के प्रकाण्ड विद्वान् थे। उनकी अंग्रेजी उच्चकोटि की होती थी। मास्टर जी ने अपनी अंग्रेज़ी की इस उत्कृष्ट योग्यता से मेगज़ीन को अतिशय लाभ पहुँचाया। २५ वर्ष निरन्तर वे इसका संपादन करते रहे।

आर्यसमाज आरम्भ दिन से विधर्मियों की आँखों में खटकता रहा है। उनकी कृपा से शासक वर्ग भी आर्यसमाज पर बांकी दृष्टि रखता रहा है। प्रो० रामदेव जी ने म० मुंशीराम के सहयोग से Aaya samaj and its detractors विशालकाय ग्रंथ लिखकर सर्वसाधारण के आगे आर्य समाज का वास्तविक स्वरूप रखा।

प्रो० जी बहुत सतर्क कार्यकर्त्ता थे। Encyclopaedia Brittanica अंग्रेज़ी भाषा के विशाल विश्वकोष में आर्यसमाज पर जो लेख था, वह भ्रामक था। प्रो० जी ने उसके सम्पादकों एवं प्रकाशकों से पत्र-व्यवहार करके अगले संस्करण में उसे ठीक कर देने का वचन ले लिया था।

इसके कहने की आवश्यकता नहीं कि प्रो० जी धन के लोभ से आकृष्ट होकर गुरुकुल में नहीं आए थे, वरन् वे विशुद्ध धर्म प्रेम से खिंचे हुए आये थे। वे गुरुकुल के प्रथम आजीवन सदस्य Life member बने। ७५) मासिक उनके निर्वाह के लिये निश्चित हुआ। प्रोफेसर जी को धन कभी भी अपनी ओर न खींच सका। कई अवसर आए जब उन्हें पुष्कल वेतन का प्रलोभन दिया गया किन्तु प्रो० जी उसमें न फंसे, न फंसे। जब सभा ने 'दयानन्द-सेवा-सदन' की स्थापना की, तब वह इसके प्रथम सदस्य बने।

जब महात्मा मुंशीराम जी ने संन्यास वेष धारण किया तब प्रो० जी गुरुकुल के आचार्य बने। गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना के बाद आर्यों में गुरुकुल खोलने का एक विलक्षण उत्साह उत्पन्न हो गया। २३ फरवरी १९०९ ई० को मुलतान के समीप गुरुकुल खोला गया। सन् १९११ में ला० ज्योतिप्रसाद जी ने दस हज़ार रुपये एवं १०४८ बीघा भूमि दान देकर कुरुक्षेत्र में गुरुकुल की स्थापना कराई। १९१२ ई० में देहली के सेठ रघुमल के एक लाख रुपयों के दान से देहली के समीप गुरुकुल इन्द्रप्रस्थ की स्थापना

हुई। १९१५ ई० में चौ० पीरूसिंह जी आदि के उद्योग से रोहतक ज़िले के मटिंडू में गुरुकुल की स्थापना हुई, इसी प्रकार भैंसवाल तथा झज्झर में गुरुकुल खोले गये। लुधियाना में रायकोट में गुरुकुल खोला गया, जो पहले महोली में था। इसके प्राण स्वामी गङ्गागिरि जी हैं। गुरुकुलों के सर्वप्रथम संचालक स्वामी दर्शनानन्द जी का चोहा भक्तां में स्थापित गुरुकुल अब स्वामी आत्मानन्द जी के तत्वावधान में रावल में है।

आर्यसमाज संसार का उपकार करने के लिये जन्मा है जैसा कि आर्यसमाज का छठा नियम कहता है—

संसार का उपकार करना इस समाज का मुख्योद्देश्य है। अर्थात् शरीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करना।

भारत देश में कई ऐसे मनुष्यवर्ग हैं जिन्हें कुछ पुरातनधर्माभिमानी अस्पृश्य मानते हैं। पंजाब की सभा का ध्यान इस ओर भी गया। सभा के उद्योग से पंजाब में अब कोई अस्पृश्य नहीं रहा [राजनैतिक चाल में पड़कर कई सज्जन अब पुनः प्रसन्नता पूर्वक अपने आपको अस्पृश्य, दलित आदि कहने लग पड़े हैं।] १८८८ ई० में होशियारपुर ज़िला के निवासी पं० गंगाराम जी ने मुज़फ्फरगढ़ एवं मुलतान और आसपास के प्रदेश में रहने वाले ओडों एवं महतमों की शुद्धि का सूत्रपात किया। कन्या शिक्षा के प्रथम सूत्रधार स्वनामधन्य ला० देवराज के साथ मुन्शीराम जी के उद्योग से जालन्धर समाज ने १८९३ में रहतियों की शुद्धि की। १८९३-९४ में गुरुदासपुर जिला के माधोपुर ग्राम में डूमनों की शुद्धि करके उन्हें महाशय नाम प्रदान किया। पं० रामभजदत्त चौधरी का इसमें बहुत हाथ था। १९०३ में स्यालकोट में मेघों की शुद्धि का सूत्रपात किया गया। इसका श्रेय स्यालकोट के लाला गंगाराम जी को है। मेघों को उन्होंने भक्त बना दिया। कार्य का विस्तार देखकर सभा के सहयोग से १९१२ में मेघोद्धार सभा का संघटन किया गया जिसने १९१७ ई० में मेघों की सामाजिक, नैतिक एवं आर्थिक दशा को उन्नत करने के लिये खानेवाल के समीप आर्यनगर बसाया। १९११ ई० में सिंध के खैरपुर नाथनशाह में वसिष्ठों की शुद्धि का सूत्रपात किया गया।

यह न समझ लिया जाय कि आर्य्य समाज दलितोद्धार का कार्य्य अनायास कर सका। लाखों रुपये के धन के व्यय के साथ कई अमूल्य जीवन भी इसके अर्पण हुए। जम्मू के महाशय रामचन्द्र जी की राजपूतों द्वारा हत्या अभी कल की बात है। आर्य्य समाज दलितों को मनुष्यता के अधिकार देते समय त्रैवर्णिकों का चिन्ह यज्ञोपवीत भी प्रदान करता है। आर्य्य समाज से यज्ञोपवीत प्राप्त एक वृद्ध को राजपूतों ने पकड़ तप्त लोहे से यज्ञोपवीत के स्थान वाले शरीर भाग को दाग़ दिया। रोपड़ एवं जालन्धर के पुराण-पंथियों ने आर्य्यसामाजिकों को कुओं से पानी लेना बन्द कर दिया था।

आर्य्यों ने इस प्रकार की सभी विघ्न बाधाओं का आर्य्योचित वीरता एवं धीरता से सहन किया किन्तु अपने कर्त्तव्य से पीछे न हटे।

आर्य्य समाज मानता है कि वैदिक धर्म्म ही सब से श्रेष्ठ धर्म्म है और कि मनुष्य का कल्याण इसी से हो सकता है। इस भावना से यह संपूर्ण अवैदिक मतस्थों को वैदिक धर्म्म में लाने का यत्न करता है और उस क्रिया का नाम शुद्धि रखता है। इसके द्वारा अनेक मुसलमानों ईसाइयों आदि को आर्यसमाज वेदामृत पान करा चुका है। यह व्यापार भी इसे सस्ता नहीं पड़ा है। पं० लेख-

राम, स्वामी श्रद्धानन्द, म० राजपाल आदि कई दर्जन विभूतियें इसके अर्पण हुई हैं।

आर्य्य जाति के मातृपितृविहीन दीन बालकों को विधर्म्मी हड़प रहे थे। आर्यसमाज ने अनाथालय खोलकर इस में बहुत रोक थाम की है। ओड़ों और महतमों की शुद्धि के संचालक पं० गंगाराम ने ही मुजफ्फर गढ़ में इसका सूत्र पात किया।

हम पहले कह आए हैं कि विधर्म्मी लोग शासकों को सदा आर्य समाज के विरुद्ध भड़काते रहते थे। इसके फलस्वरूप आर्य्य समाजों को फांसने की कुचेष्टा की गई। पटियाला के दो अभियोग इस विषय में अतीव प्रसिद्ध हैं।

आर्य्य भाषा प्रचार—यह सभी जानते है कि ऋषि दयानन्द सब से प्रथम मनुष्य हैं, जिन्हों ने गत शताब्दी में भारत के लिए एक राष्ट्रीय भाषा की आवश्यकता का अनुभव किया। समूचे भारत में घूम कर उन्होंने यह अनुभव किया था कि आर्य्य भाषा (हिन्दी) में ही राष्ट्रभाषा होने की क्षमता है। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित होते हुए भी उन्होंने अपने ग्रन्थ आर्य्यभाषा में लिखे। संयुक्तप्रान्त में आर्यभाषा को अदालती भाषा बनवाने का उद्योग सब से पहले ऋषि ने ही किया था। आर्य्य-समाज के नियमों में भारतीय आर्य्यों के लिये संस्कृत अथवा आर्य्य भाषा सीखना अनिवार्य्य ठहराया।

पंजाब सभा ने अपने गुरु का अनुकरण करते हुए अपनी सभी संस्थाओं में शिक्षा का माध्यम आर्य्यभाषा रखा। किन्तु सभा के कार्य्यालय में उर्दू तथा अंग्रेज़ी का अधिकार था। सन् १६०८ में डा० चिरंजीव भारद्वाज मन्त्री बने। उन्होंने सभा के कार्य्यालय का सब कार्य व्यवहार आर्य्य भाषा में कर दिया। इस पंजाब प्रान्त में सार्वजनिक कार्य्य करने वाली आर्य्य जातीय संस्थाओं में केवल आर्य्य प्रतिनिधि सभा ही ऐसी संस्था है जिसका सब कार्य्य आर्य्य भाषा में होता है।

डा० चिरंजीव भारद्वाज से सत्यप्रिय सिद्धान्तनिष्ठ, धर्मपरायण मनुष्य विरले ही होते हैं।

सभा भवन निर्माण—सभा के कार्य्य के विस्तार के साथ बच्छोवाली समाज वाला कमरा अपर्याप्त सिद्ध होने लगा, अतः सभा कार्यालय नगर से बाहर एक किराये की कोठी में लाया गया। १६१२ ई० में महात्मा मुंशीराम जी ने सभा के लिए 'गुरुदत्त भवन' की आधार शिला का न्यास किया। यह विशाल भवन एक लाख बीस हज़ार रुपयों में तय्यार हुआ। अब इसमें सभा का कार्य्यालय एवं पुस्तकालय तथा व्याख्यान-भवन है। संलग्नविद्यार्थी-आश्रम के परिवर्तित रूप की चर्चा पीछे की जा चुकी है।

साहित्य प्रकाशन व्यवस्था—पीछे हम ट्रैक्टसोसाइटी एवं लेखराम स्मारक निधि की चर्चा कर आये हैं। लेखराम स्मारक निधि के साथ पं० लेखराम की स्मृति में 'आर्य्य मुसाफ़िर' पत्र निकालने का निश्चय १८९७ ई० में हो चुका था। दीवान बदरीदास एम० ए० (सभा के वर्त्तमान प्रधान) इसके संपादक नियत हुए। आरम्भ में यह पत्र महात्मा मुन्शीराम जी के सद्धर्म प्रचारक का परिशिष्ट था। अक्तूबर १८९८ ई० में यह मासिक कर दिया गया और ला० मुन्शीराम जी सम्पादक नियत हुए, ला० वजीर चन्द्र जी सहायक सम्पादक बनाए गए। इस पत्र से मुसलमानों में वैदिक धर्म्म का अच्छा प्रचार हुआ, यह कभी मासिक, कभी साप्ताहिक होता रहा। सभा का साप्ताहिक पत्र आर्य्य भी सूचना-पत्र से साप्ताहिक, फिर मासिक होकर आज कल साप्ताहिक है। वैदिक मैगजीन की चर्चा पीछे हो

चुकी है। सभा द्वारा सैकड़ों ट्रैक्टों और बड़ी बड़ी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं। वेदार्थ कोष जैसा विशाल ग्रन्थ भी सभा द्वारा प्रकाशित हुआ है। सभा ने पं० चमूपति जी स्मृति में चमूपति साहित्य-विभाग स्थापित कर रक्खा है। ग्रन्थ प्रकाशन का कार्य्य इसी विभाग से होता है। सत्यार्थ प्रकाश का प्रामाणिक उर्दू अनुवाद भी सभा से प्रकाशित होता है।

स्त्री शिक्षा—भारत में व्यवस्थित रूप से स्त्री शिक्षा के संचालन का श्रेय भी आर्य समाज को है और वह पंजाब के आर्य समाज को। लाला देवराज जी तथा ला०मुन्शीराम जी केसंमिलित उद्योग से जालन्धर में कन्या महाविद्यालय स्थापित हो चुका था। वह दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति कर रहा था। जालन्धर की देखा देखी पंजाब के प्रत्येक आर्य समाज ने कन्याविद्यालय अपने यहाँ स्थापित कर दिया। आज पंजाब में आर्य कन्या पाठशालाओं की संख्या वैभवशालो की सरकार की पाठशालाओं से भी अधिक है। गुरुकुल की स्थापना के समय से कन्याओं के लिए भी एक गुरुकुल का, सभा का, संकल्प था। १९१३ ई० में यह संकल्प पूरा हुआ। पहले यह देहली में रहा आज कल देहरादून में है।

दयानन्द उपदेशक विद्यालय—सभा अपने आरंभ काल से वेद धर्म्म का प्रचार करने के लिए उपदेशक तय्यार करने के यत्न करती रही है। कभी पाठशाला खुली, फिर विघ्न आने पर बन्द हो गई। अन्त में ऋषि जन्म महोत्सव का स्थिर स्मारक स्थापित करने की भावना से श्री स्वामी सत्यानन्द जी की प्रेरणा पर सन् १९२५ ई० रामनवमी के दिन दयानन्द उपदेशक विद्यालय का प्रारम्भ किया गया। स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी इसके प्रथम आचार्य तथा स्वामी वेदानन्द जी इसके आदिम मुख्याध्यापक थे। आज कल विद्यालय अपने भवन में हैं। यह विद्यालय आजतक लगभग तीन सौ कार्य्य कर्त्ता उपदेशक आदि के रूप में समाज को दे चुका है।

दयानन्द सेवासदन—सभा को स्थिर सेवक देने के लिए इस सदन की स्थापना की गई थी। पं० चमूपति जी जैसे योग्य कर्म्मण्य विद्वान् इसके प्राथमिक सदस्यों में थे। पण्डित जी का त्याग इतने से समझा जा सकता है कि उन्होंने अनेक पुस्तकें लिखी किन्तु उनका पारिश्रमिक स्वयं न लेकर सभा को दिया।

स्कूल-कालिज—दयानन्द मथुरादास कालिज, मोगा से आरम्भ होकर अब सभा के पास कई स्कूल हैं।

संक्षेप

इस समय सभा का कार्य्यक्षेत्र पंजाब प्रान्त, पंजाब से संबद्ध रियासतें, देहली प्रान्त, जम्मू काश्मीर, सीमाप्रान्त, बलोचिस्तान आदि हैं। इन प्रदेशों में सभा से सम्बद्ध समाजों की संख्या लगभग एक हज़ार है। प्रचार कार्य्य करने के लिए लगभग एक सौ उपदेशक, भजनीक आदि हैं। कांगड़ी गुरुकुल, जो अब कांगड़ी ग्राम में न होकर ज्वालापुर में है, और उसकी शाखाओं के अतिरिक्त एक कालिज तथा अनेक स्कूल सभा के प्रबन्ध में चलते हैं। दयानन्द उपदेशक विद्यालय, दलितोद्धार सभा, तथा दलितोद्धाराश्रम भी सभा के अधीन हैं। कई स्थानों पर सभा ने औषधालय भी खोल रखे हैं जिससे सर्वसाधारण को पुष्कल लाभ होता है। गुरुदत्त भवन में बृहत् पुस्तकालय सभा की शोभा को बढ़ाने वाला है।

क्वेटा, विहार, आदि भूकम्प पीडित प्रदेशों में सभा ने जी खोलकर कार्य्य किया। बंगाल के दुष्काल पीडितों की अन्न वस्त्र से पुष्कल सहायता की। हैदराबाद के सत्याग्रह में सभा ने सर्वाधिक योग दिया।

इस प्रकार देखें तो सभा द्वारा पंजाब एवं संलग्न प्रान्तों में शारीरिक, बौद्धिक एवं सामाजिक उन्नति के लिए पर्य्याप्त यत्न हो रहा है।

विशेषविशेष घटनाओं की तालिका

सन्	१८८६ ई०	सभा की स्थापना।
,,	१८८८ ,,	ओड़ों महतमों की शुद्धि का सूत्रपात।
,,	१८९३ ,,	रहतियों की शुद्धि का सूत्रपात।
,,	१८९३-४,,	वेदप्रचार निधि की स्थापना।
,,	१८९५ ,,	सभा की रजिस्टरी।
,,	१८९६ ,,	पं० लेखराम का वध।
,,	१८९९ ,,	स्वामी सत्यानन्द जी का आ० स० में प्रवेश।
,,	१९०० ,,	गुजरांवाला में गुरुकुल की स्थापना।
,,	१९०१ ,,	मुन्शी अमनसिंह जी का भूमिदान।
,,	१९०२ ,,	गुरुकुल का गुजरांवाला से कांगड़ी में आना।
,,	१९०३ ,,	मेघों की शुद्धि का सूत्रपात।
,,	१९०१ ,,	कृपाराम दर्शनानन्द बने।
,,	१९०२ ,,	मुन्शीराम ने अपना पुस्तकालय गुरुकुल को दान दिया।
,,	१९०७ ,,	मुन्शीराम जी ने सद्धर्मप्रचारक प्रेस सभा को दान दिया।
,,	१९०८ ,,	मेघोद्धार सभा की स्थापना।
,,	१९११ ,,	खैरपुरनाथनशाह में वसिष्ठों की शुद्धि का सूत्रपात।
,,	१९११ ,,	म० मुन्शीराम जी ने अपनी जालन्धर वाली कोठी सभा को दान दी
,,	१९१२ ,,	गुरुकुल कांगड़ी से स्नातकों का प्रथम वर्ग निकला।
,,	१९१७ ,,	मुन्शीराम श्रद्धानन्द बने।
,,	१९१७ ,,	प्रो० रामदेव जी गुरुकुल के आचार्य बने।
,,	१९२१ ,,	गुरुकुल को सभा ने विश्वविद्यालय का रूप दिया।
,,	१९२२ ,,	श्रीमती द्रौपदीदेवी प्रथम स्त्री उपदेशिका।
,,	१९२२ ,,	दयानन्द सेवासदन की स्थापना।
,,	१९२३ ,,	गुरुकुल का शिक्षापटल बना।
,,	१९२३ ,,	कन्या गुरुकुल की स्थापना।
,,	१९२४ ,,	गुरुकुल में भयङ्कर जलबाद।

" १९२५ " ऋषि जन्मशताब्दी महोत्सव।

" १९२५ " दयानन्द उपदेशक विद्यालय की स्थापना।

" १९२६ " स्वा० श्रद्धानन्द जी का बलिदान।

" १९२७ " गुरुकुल की रजतजयन्ती।

" १९२९ " म० राजपाल का बलिदान।

" १९३० " गुरुकुल का नए स्थान में आना।

" १९३० " दयानन्द म० कालिज मोगा का सभा से संबन्ध।

" १९३४ " पं० चमूपति गुरुकुल के आचार्य नियत किए गए।

" १९३५ " गुरुकुल के प्रबन्ध के लिए अन्तरङ्ग सभा से पृथक् विद्यासभा का निर्माण।

" १९३५ " पं० चमूपति जी का त्याग पत्र।

" १९३६ " सभा की सुवर्णजयन्ती।

" १९३७ " पं० चमूपति जी का देहान्त।

" १९३९ " आचार्य रामदेव जी का शरीरान्त।

सभा के प्रधानों एवं मन्त्रियों की नामावली

सन	प्रधान	मन्त्री
१८८६	ला० साईंदास जी	ला० मदनसिंह
१८८७	"	ला० जीवन दास
१८८८-९०	"	ला० मुरलीधर
१८९०-९१	ला० हंसराज	ला० ईश्वर दास
१८९२	"	"
		मा० दुर्गाप्रसाद
१८९२-९५	ला० मुन्शीराम	मा० आत्माराम
१८९५-६ नवम्बर तक	"	ला० जयचन्द
१८९६-९७	ला० रामकृष्ण	"
१८९७	ला० मुन्शीराम	"
१८९८	ला० रलाराम	ला० खुशीराम
१८९९	ला० मुंशीराम	ला० शिवदयाल एम. ए.
१९००	ला० रलाराम	"
१९०१	ला० मुन्शीराम	ला० मुरलीधर
१९०२	पं० रामभजदत्त चौधरी	ला० केदारनाथ
१९०३	रा० ब० ठाकुरदत्त धवन	"
१९०४	ला० मुन्शीराम	ला० रौशनलाल बरिस्टर

१९०५	ला० रामकृष्ण	ला० केदारनाथ
१९०६	,,	,,
१९०७	,,	,,
१९०८	,,	डा० चिरंजीव भारद्वाज
१९०९	,,	डा० परमानन्द
१९१०-११	,,	ला० केदारनाथ
१९१२	,,	,,
१९१४-१८	,,	म० कृष्ण
१९१८-१९	पं० विश्वम्भरनाथ	ला० धर्मचन्द्र
१९१९	,,	पं० ठाकुरदत्त शर्मा
१९२०-२१	ला० रामकृष्ण	पं० ठाकुरदत्त शर्मा
१९२२-२६	,,	म० कृष्ण
१९२६-२७	दीवानबदरीदास	,,
१९२७-३०	,,	पं० ठाकुरदत्त शर्मा
१९३१	,,	म० कृष्ण
१९३२	,,	पं० भीमसेन
१९३३-३४	,,	म० कृष्ण जी
१९३५-३६	आचार्य रामदेव	पं० भीमसेन
१९३६-३७	,,	,,
१९३७-३८	दीवानबदरीदास	,,
१९३८-३९	,,	,,
१९३९-४०	,,	,,
१९४०-४१	,,	वानप्रस्थ गुरदित्ताराम जी
१९४१-४२	पं० बुद्धदेव	पं० भीमसेन
१९४२-४३	पं बुद्धदेव । राय अमृतराय	पं० भीमसेन
१९४३-४४	दीवान बदरीदास	,,
१९४४-४५	,,	म० कृष्ण
१९४५-४६	,,	,,

❀ ओ३म् ❀

वेद का स्वरूप

[श्रीमान् शान्त स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज, प्रधान, विरजानन्द वैदिक संस्थान, लाहौर]

वेदोऽसि येन त्वं देव वेद देवेभ्यो वेदोऽभवस्तेन मह्यं वेदो भूयाः ।। यजुः २।२१।।

[देव ! येन त्वं वेदः असि, (येन त्वं) देवेभ्यः वेदः अभवः, तेन (त्वं) मह्यं वेदः भूयाः]

अर्थः—अय दिव्य देव ! जिस नित्य-सत्य-ज्ञान से तुम समस्त विश्व के ज्ञाता होकर स्वयं वेद-स्वरूप हो रहे हो, अपने जिस वेद-ज्ञान से तुम समस्त दिव्य तत्त्वों, दिव्य पदार्थों और दिव्यजीवन रखने वाले ज्ञानियों के लिये भी वेद रूप से ही सर्वज्ञानमय हो;—उसी ज्ञान-रूप से तुम मेरे लिये भी वेदमय—ज्ञानमय—हो।

ऐतरेय २।१०।। में ऋग्वेद ६।१।१।। के आधार पर वैदिक परिभाषा के रूपमें मनोता पद की स्थापना की गयी है। इस मनोता (मन में—ज्ञान में—ओत प्रोत हो रहे विचारों का नियंत्रण) विभाग के अनुसार पृथिवी को 'वाङ्मयी' अन्तर्लोक–अन्तरिक्ष—को प्राण वायु का आधार होने से 'प्राणमय' और सवितृमण्डल को 'मनोमय' कहा गया है। वैसे तो ये तीनों परस्पर बिना किसी भाव के सम्मिलित (यजुः ३२।८।।) हैं, किन्तु गुण धर्म की प्रधानता के अनुसार विभाजित भी समझे जाते हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ५।३३।। में और शतपथ ४।६।६।१६।। में पृथिवी को 'वाक्' जैमिनी० उ० १।२०।२।। में वायु को 'अन्तरिक्ष' के नाम से पुकारा गया है। गोपथ उ० ४।११।। एवं शतपथ ३।२।२।१३।। में वाक् को अग्नि रूप से ऋग्वेद का उत्पत्तिकेन्द्र कहा गया है। इसी भाव से ऋग्वेद को पार्थिव अग्नि का विज्ञान केन्द्र समझा गया है।

अन्तर्लोक में व्याप्त वायु प्राणपति होकर यजुर्वेद का प्रतिनिधि तथा इसी भाव से वायु विज्ञान यजुर्वेद का अधिकार भी माना जाता है।

गोपथ पू० १।३३।। कौषीतकि १६।४।। एवं शतपथ ६।३।१।१३।। में सवितृमण्डल को 'मनोमय' जानकर सौरविज्ञान के रूप में सामवेद का उद्भावक कहा गया है। ध्यान रहे कि, प्रवचनकारों के मत से जितना ठोस पिण्ड भाग है—उसे सूर्य, जितना विद्योतिक (विद्युत) भाग है—उसे इन्द्र कहते हैं। और सूर्य मण्डल के पर भाग में ऊपर वाले गोल मण्डल के लिये अपोमण्डल अथवा परमेष्ठि-मण्डल" तथा उससे भी कहीं अधिक सूक्ष्म, अनन्त एवं अचिन्त्य लोक के लिये "परम व्योम" पद का प्रयोग किया है।

ब्राह्मण ग्रन्थों में वेद को जहां ज्ञानमात्र का पर्याय मानकर "अनन्ता वै वेदाः" ‡की घोषणा की गयी है, वहां ज्ञानवाची वेद "ब्रह्म"❀ भी कहा गया है। प्रवचनसाहित्य का नाम 'ब्राह्मण' भी इसी बात की पुष्टि करता है कि, यह ब्रह्म की व्याख्या करने वाला है। गोपथ पू० १।२३।। में वेद को

‡तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।१०।११।३ ।।

❀जैमिनीय उ० ४।२५।३ ।।

स्वयं "सविता" कहा गया है, इसी वाक्य में वैदिक विद्या-वाणी-को "सावित्री" कहा है। तैत्तिरीय उपनिषद् में वेद के इस 'ब्रह्म' पद एवं 'परमव्योम, पद को एक रूप में वर्णन करके कहा है कि—

सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्।

सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता ॥ ब्रह्मानन्द बल्ली १॥

अर्थात्—सत्य ज्ञान के रूप में वेद अनन्त है, जीवन-जगत् के परम व्योम गह्वर में अवस्थित उस अनन्त को जो योगी जान पा—लेता है, वह सब कामनाओं को पूर्ण करता हुआ उसी परमज्ञान के सहयोग में जीवन बिता देता है।

'परम व्योम' पर प्रकाश डालने वाला एक मंत्र ऋग्वेद में इस प्रकार पढ़ा गया है:—

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः।

यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत्तद्विदुस्त इमे समासते ॥ ऋ० १।१६४।३४॥

[यस्मिन् परमे व्योमनि अक्षरे ऋचः विश्वे देवाः (च) निषेदुः; यः तत् न वेद (सः) ऋचा किं करिष्यति, ये इत तत् विदुः, ते इमे सम् आसते]

अर्थ—जिस परम व्योम स्वरूप अक्षर समुदाय में ऋचायें गुम्फित हो रही हैं—जिनमें कि उसके अर्थ—देवता भी सब के सब समाविष्ट हैं, जो विद्वान् उस अक्षर विज्ञान को नहीं जानता, वह समूची ऋचा से भी क्या जान पायेगा, हां जो उस अक्षर समुदाय की मर्यादा को जान लेते हैं, वे इस समस्त ऋचा की मर्यादा में आकर उसे भी पालते हैं।×

तैत्तिरीय ब्रा० ३।३।७ २॥ में वेद को 'प्रजापति' द्वारा प्रकट हुआ कहा है, शतपथ १।३।३।२२॥ में इसी भाव से 'प्रजापति' को "वाक्पति" कहा गया है। शतपथ १०।४।२।२१-२४॥ में यह भी कहा है कि प्रजापतिद्वारा बारह हजार बृहती छन्दों की अक्षर गणना के बराबर ऋग्वेद, आठ हज़ार बृहती छन्दों की अक्षर गणना के बराबर यजुर्वेद और चार हज़ार बृहती छन्दों की अक्षर गणना के बराबर

×यौगिक मर्यादा के अनुसार अध्यात्म प्रक्रिया में 'परमव्योम' पद से आत्मनिष्ठा की चरम सीमा और 'अक्षर' पद से अविनाशी परमात्मसत्ता स्वीकार की जाती है। उक्त मंत्र का जो अर्थ ऊपर किया गया है, वह भी असंगत अथवा वैदिक विचारपद्धति के प्रतिकूल नहीं, वरन् अधिक से अधिक अनुकूल ही है। व्याकरण के अन्तिम आचाय "पाणिनि मुनि" ने जितने भी धातु शब्द कहे हैं, वे सब एकाक्षरी और सार्थक पढ़े हैं। महाभाष्यकार 'पतञ्जलि मुनि' ने इस विषय पर जो विचार प्रकट किये हैं, उनसे भी यही स्पष्ट होता है—उनके वाक्य ये हैं:—

अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्।

इस वार्तिक पर विचार करते हुए पतञ्जलि ने कहा है कि—

धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते। प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति। प्रत्यया एकवर्णा अर्थवन्तः। निपाता एक वर्णा अर्थवन्तः ॥ अ० १ पा० १ अह्निक २॥

(अनुगत) ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में वेद के अनेक संज्ञा पदों का अर्थ इस अक्षरार्थ

,'सामवेद"* प्रकट हुआ है।

तैत्तिरीय ब्रा० ३।१०।१८।४॥ में जहां अग्निर्वै वाचि श्रितः एवं शतपथ ३।२।२।१३॥ में वागेवाग्निः कहा है, वहां जैमिनीय उ० १।६।२॥ में वागिति ऋक् और शतपथ १४।४।३।१२॥ में वागेवर्ग्वेदः भी कहा गया है। इस विषय में नव्यवेदान्त के आचार्य स्वामी शंकराचार्य के मत का उल्लेख कर देना भी समुचित प्रतीत होता है, अपने "तैत्तिरीय उपनिषत्" के भाष्य में उन्हों ने कहा है कि:—

मनसो हि स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुरित्युच्यते । एवमृगेवं साम च । एवं च मनोवृत्तित्वे मंत्राणां वृत्तिरेवाऽऽवर्त्त्यंत इति मानसो जप उपपद्यते । अन्यथा-ऽविषयत्वान्मंत्रो नाऽवर्तयितुं शक्यो घटादिवदिति मानसो जपो नोपपद्यते । मंत्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः कर्मसु । अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मंत्रावृत्तिः स्यादिति चेन्न, मुख्यार्था-सम्भवात् । "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति = ऋगावृत्तिः श्रूयते । तत्रर्चोऽविषयत्त्वे तद्वि-षयस्मृत्यावृत्तौ च क्रियमाणायां त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमामन्वाहेति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चो-दितः परित्यक्तः स्यात् । तस्मान्मनो वृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठात्मचैतन्यमनादिनिधनं

की शैली से ऐसा अद्भुत किया गया है कि, देखते ही बनता है। शतपथ १४।८।४।१॥ में "हृदय" पद के तीनों अक्षरों (हृ—द—य) को लेकर जो अर्थ किया गया है, वह आज भी अनात्मिकविज्ञान (Anatomical science) के पण्डितों को भी अवाक् कर देने वाला हो सकता है। कहा है कि "हृ" धातु का अर्थ हरण करना—लेना—होता है, दा धातु का अर्थ त्यागना—देना होता है और "यन्" धातु का भाव नियमन—नियंत्रण—करना है। हृदय क्योंकि शिराओं से मलिन रुधिर को लेकर फेफड़ों को देता है और फिर फेफड़ों से निर्मल रुधिर को लेकर शरीर तर्पण के लिये धमनियों को देता है—उसका यह काम निरन्तर एक निश्चित नियम से नियमित होता है; इसी लिये उसका सार्थक नाम हृदय है।

इसी प्रकार छान्दोग्य उप० ८।३।५॥ में सत्य शब्द के तीनों (स-त्-य) अक्षरों की; गोपथ पू० २।५॥ में यज्ञवाची "मख" पद के दोनों (म—ख) अक्षरों की और "भर्ग" पद के तीनों (भ-र्-ग) अक्षरों की व्याख्या की गयी है। सुतरां निरु०अ० ७।१४॥ में यास्क ने भी अपने से पूर्वकालीन निर्वचन-कार 'शाकपूणि' के मतका स्मरण करते हुए अग्नि पद के तीनों (अ-ग-नि) अक्षरों को तीन स्वतंत्र धातुओं से सिद्ध मान कर अक्षरार्थ शैली की पुष्टि की है।

*बृहती छन्द ३६ स्वर वर्णों का होता है, इस लेखे से तीनों का व्योरा इस प्रकार होगा:—

ऋग्वेद: १२००० × ३६=४३२००० चार लाख बत्तीस हज़ार।

यजुर्वेद:—८००० × ३६ = २८८०००, दो लाख अठासी हज़ार।

सामवेद:—४००० × ३६ = १४४००० एक लाख चवालीस हजार

तीनों वेदों की सम्मिलित संख्या ८६४००० आठ लाख चौसठ हज़ार अक्षर होती है।

यजुः शब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मंत्रा इति। एवञ्च नित्योपपत्तिर्वेदानाम्। अन्यथाऽविषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं स्यात्—नैतदुक्तम्भवति। "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति समानासीन आत्मा" इति च श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवति, ऋगादीनां नित्यत्वं समञ्जसा स्यात्। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः"—इति च मंत्रवर्णः।" ब्रह्मानन्द व० २।३

इस सारे सन्दर्भ का आशय यह है कि ऋग्वेदादि मंत्रों की आवृत्ति (बार बार पाठ करना) यदि अक्षरों, शब्दों, पदों और वाक्यों की आवृत्ति को ही सब कुछ मान लिया जाये तो, कोई विशेष परिणाम नहीं निकल सकता यह तो व्यर्थ सी बात है। मानसिक वृत्ति ही वास्तविक वृत्ति है, उसी को दोहराना अथवा वार २ आवर्त्तन करना ही वास्तविक आवृत्ति है। अतः उसी के करने अर्थात् मंत्र अथवा मंत्र खण्ड के मानसिक जप* से ही मन पर प्रभाव हो सकता है और उसी से लाभ भी होता है। वही मानसिक आवृत्ति (मानसिक जप) की उपाधि से सीमाबद्ध मनोवृत्ति में व्यापक एवं आत्म-ज्योति की आवृत्ति से कुछ भी नहीं—यह मानो उसी का रूप है; इसलिये आत्मचैतन्य ज्योति को ही वेद ज्ञान कह सकते हैं। इस प्रकार समझने समझाने से वेद की नित्यता—सत्यता—निर्विकार और निर्विकल्प बनी रहती है। यदि ऐसा न समझा जाये तो, घट पट आदि बनने बिगड़ने वाले साधारण पिण्ड पदार्थों की भांति वेद भी अनित्य सिद्ध हो जाते जो नित्य, सत्य एवं शुद्ध हैं।"

गोपथ पू० १।१६॥ कौषीतकि ६।१०॥ शतपथ ११।५।८।३–४॥ छान्दो० उपनि० ४।१७।२-३॥ और भृगुप्रोक्त मनुस्मृति १।२३॥ में अग्नि, वायु एवं आदित्य द्वारा क्रमशः ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद का प्रकाश बताया गया है। इन वचनों का अभिप्राय कुछ भी क्यों न हो; पर इतना तो स्पष्ट समझा जा सकता है कि, उक्त तीनों वेदों की शब्द राशि अपने २ वर्णित देव तत्त्वों की ही प्रतिनिधि है। भूलोक में अग्नि भौतिक रूप में सुतरां प्रकाश है, विद्या विज्ञान भी बुद्धि तत्त्व और मानसिक विकास के रूप में प्रकाश ही है। भौतिक आंखों को भौतिक पदार्थ देखने के लिये भौतिक अग्नि का भौतिक प्रकाश ही सहायता देता है; किन्तु अर्ध भौतिक मानव मन, बुद्धि एवं ज्ञानतन्तुओं के वेपन केन्द्रों से अनुभूति—संवेदन—पाने के लिये मानसिक प्रकाश ही काम दे सकता है। इसी प्रकार आत्मतत्त्व अभौतिक है, उसे साक्षात् करने के लिये किसी अभौतिक चैतन्य द्वारा विकसित किये गये प्रकाश (ईश्वरीय ज्ञान) की आवश्यकता अनिवार्य सिद्ध हो जाती है। अतः यही समझना उचित होगा कि, इसी ज्ञान = प्रकाश का प्रेरक अथवा प्रवर्त्तक होने से ऋग्वेद को ज्ञानमूर्त्ति कहा गया है। वही पार्थिव जड़ चेतन जगत् पर प्रकाश डालता है; इसीलिये पार्थिव पदार्थों का ज्ञान भण्डार माना जाता है।

भौतिक जगत् में पृथिवी से ऊपर दूसरे स्थान पर अन्तर्लोक—अन्तरिक्ष—है, इसे निरुक्तकार श्री यास्क ने 'मध्यम' के नाम से भी स्मरण किया है, इस का देवता अर्थात् मुख्य आवर्त्तक तत्त्व वायु है। यजुर्वेद में वायु के अनेक भेदों का उल्लेख मिलता है, इन में ५० से भी ऊपर वायु तत्त्वों का वर्णन है। अन्तरालिक मण्डल (Etheral area) में इसी के वेपन-प्रकम्पम—(Vibrations) समस्त चेष्टाओं, गतियों और क्रियाओं के सञ्चालक* तथा प्रेरक माने जाते हैं। इन्हीं अन्तरात्मिक वेपनों पर वैज्ञानिक

*ऋग्वेद १०।४७।७॥ का मनन करने से इस विषय का स्पष्ट समाधान हो जाता है।
*चरक सूत्र स्थान अ० १२ कण्डिका ८॥

प्रकाश डालने वाला वायविक मण्डल का ज्ञान मूर्त्ति यजुर्वेद है।

इससे भी ऊपर तीसरा लोक-मण्डल सवितृ-मण्डल (Solar sphere) है। इसमें कुछ भाग पिण्डीभूत होने से सूर्य्य कहलाता है, इसी पिण्ड भाग में विद्योतिक भाग से विकसित होने वाली प्रकाश की किरणें उसके चारों ओर एक विस्तृत मण्डल (Sphere) सा बना देती हैं। इस विशाल मंडल में जितना विद्योतिक भाग है—उसी को अधिदैविक परिभाषणी में इन्द्र कहते हैं। इस सौरमंडल और अन्तरालिक मंडल के बीच में दोनों को जुदा २ करने वाली एक रेखा है जिसे, अथर्व ८।९।१६॥ मत्स्य पुराण १२३।५१॥ एवं ७६। और वाल्मीकीय रामायण १।६०।३१॥ में वैश्वानर पथ; किन्तु वर्त्तमान ज्योतिष साहित्य में राशिपथ और क्रान्तिवृत्त कहा गया है। यही वह वैश्वानर रेखा पथ है, जिस पर से होकर हमारी पृथिवी सूर्य के चारों ओर एक वृत्त बनाकर घूमती है और पूरे एक वर्ष (वैशाख से चैत्र तक) में एक चक्र देकर अपने पहले वृत्त पर आ जाती है। इसी वैश्वानर पथ पर अपने अर्धगोल (Semisphere) अर्थात् गोल मण्डल के आधे भाग में क्रमशः सूर्य के निकटतर होती हुई घूमती है जिसे वर्ष का अर्धमान अथवा दक्षिणायन कहते हैं। दूसरे अर्धगोल वृत्त से वह उसी क्रम से दूरतर होती हुई घूमती है, यह परिवर्त्तन उसके अपने घुमाव से होता है;—इसी आधे भाग को वर्ष का उत्तरार्ध-मान अथवा उत्तरायण कहा जाता है। इन दोनों के अनुपात से ही सरदी गरमी का उतार चढ़ाव हुआ करता है।

यह वैश्वानर राशिपथ जिस प्रकार नीचे की ओर अन्तरिक्ष को सूर्य मण्डल से अलग करता है, उसी प्रकार ऊपर वाले मण्डलभाग में परमेष्ठिमण्डल को भी अलग करता है। इसी परमेष्ठिमण्डल को वैदिक वाङ्मय में परमधाम, तृतीयधाम, तृतीय सधस्थ, द्यौ और दिव्यलोक कहा जाता है।❀ इसी तेजोमण्डल का वैज्ञानिक वर्णन सामवेद द्वारा प्रगट हुआ है—सामवेद ही मानो इस तृतीय धाम की ज्ञान मूर्त्ति है

तैत्तिरीय ब्रा० ३।१२।६॥ में अति संक्षेप से; किन्तु बड़ी ही सुन्दरता के साथ वेद का स्वरूप इन शब्दों में वर्णन किया है:—

ऋग्भ्यो जातां सर्वशो मूर्तिमाहुः सर्वा गतिर्याजुषी हैव शश्वत्। सर्वं तेजः सामरूप्यं ह नित्यं सर्वं हीदं ब्रह्मणा हैव सृष्टम् ॥

अर्थः—ऋग्वेद की ऋचाओं द्वारा भूलोक के समस्त सृष्टि तत्त्वों को प्रकट किया गया है, यजुर्वेद में वायु धर्म सम्भूत समस्त चेष्टाओं, गतियों, क्रियाओं और वेपनोंपर प्रकाश डाला गया है। समस्त तेजस्तत्त्व, सवितृतत्त्व एवं परमेष्ठिमण्डल का नित्य सम्बन्ध सामवेद से प्रकट होता है; और जीवन जगत् को सार्थक करने वाले समस्त उपदेश ब्रह्म अर्थात् अथर्व अथवा वैदिक विज्ञान के द्वारा ही प्रकट हुए हैं।

भृगुप्रोक्त मनुस्मृति में महामना भृगु ने मनु का मत प्रकट करते हुए एक ही श्लोक में वेद का जो स्वरूप वर्णन किया है, वह ऋषि दयानन्द के विचारों पर प्रमाणिकता की अमिट मोहर लगाता है। वह श्लोक यह है :—

❀ अथर्ववेद १८।३।४॥ आदि अनेक मंत्रों में इसका वर्णन किया गया है। यजुः ३२।१०-१२॥ में भी यह भाव पाया जाता है।

यः कश्चित्कस्य चिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितोवेदे सर्वज्ञानमयो हि सः॥
[२।७।]

अर्थः—"जो कर्म धर्म जिस किसी के विषय में भी मनु ने वर्णन किया है, वह सब तो पहले से ही वेद में कहा गया है;—वेद तो सर्वज्ञान मय है।" मनुटीकाकार 'मेधातिथि' ने इस श्लोक पर टीका करते हुए कहा है कि:—

"सर्वेषां ज्ञानानामदृष्ट विषयाणां हेतुः—निमित्तं—वेदः। सर्वैर्ज्ञानैर्निमित्त इव—इति ज्ञाने तद्विकारत्त्वमध्यारोप्य मयट् प्रत्ययः कृतः। यो हि यद्विकारः स तन्मयः—तत् स्वभाव—इत्युच्यते। वेदश्च ज्ञानहेतुत्त्वात्तन्मय इति।"

अर्थात्—जितने भी विषय इन्द्रियों की पहुँच से परे हैं, उन सबका ज्ञान कराने में वेद ही सहायता दे सकता है; इसी से वेद को सर्वज्ञानमय, सर्वज्ञानमूर्त्ति अथवा सर्वज्ञानस्वरूप कहा जाता है। वेद क्योंकि वस्तु तत्त्व के ज्ञान का मूल प्रकाश है, इसी विचार से स्मृतिकार ने अपने वाक्य 'सर्व ज्ञानमय' में मय प्रत्यय का नियोग किया है। जो गुण कर्म जिस वस्तु से प्रकट होते हैं, वे गुण धर्म उस वस्तु में स्वाभाविक होने से उसका रूप ही होते हैं। वेद क्योंकि ज्ञान—धर्मज्ञान—का आदि मूल है; अतः वेद द्वारा प्रकाशित होने वाला धर्मज्ञान—कर्मज्ञान—भी उसी का रूप है—तन्मय है।

इसलिये हम यह कह सकते कि "अपनी नित्य सत्ता विद्या—विज्ञान—द्वारा मानव विचार-भूमि अर्थात् बुद्धि तत्त्व को उन्नत करने और सृष्टि तत्त्वों के ज्ञान से लाभान्वित करने वाली सर्वज्ञान-मयी शब्दराशि का नाम ही वेद है।"

स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्।
आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्म वर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्॥

वेद संहिता चार ही हैं

[लेखक—श्री पं० द्विजेन्द्रनाथ जी शास्त्री वेदाचार्य, अध्यक्ष वेद संस्था आनन्दपुरी मेरठ]

वेद के विषय में वेद एक है या अनेक? वेद संहिता चार ही हैं या कितनी हैं? इस प्रकार के विवादास्पद प्रश्न अति प्राचीन काल से चले आ रहे हैं, यह बात वैदिक साहित्य के पर्यालोचकों से अविदित नहीं है। अतः अब जबकि वेदों का परिशीलन सब पक्षों में समालोचनात्मक दृष्टि से आरम्भ हो गया है, उक्त विषय एक अनुसन्धान का विषय है। केवल यह कह कर काम न चलेगा। अब समय आ गया है कि प्रस्तुत एवं उपलब्ध अनेक पक्षों में से तात्त्विक दृष्टि से निर्णय कर किसी एक पक्ष को सिद्धान्त पक्ष स्वीकार करना ही होगा। अब तक वेदों के प्रति वेदविशेषज्ञों के औदासीन्य के कारण ही किसी निर्णीत सिद्धान्त पक्ष की स्थापना नहीं हो सकी। हाँ महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती जी महाराज ने वेद चतुष्टय पक्ष की पुष्टि अवश्य की है। तथापि सविस्तर एवं विशद रूप से इसका प्रतिपादन नहीं हुआ है। प्रायः अभी तक वेद विशेषज्ञों के सम्मुख उक्त प्रश्न, प्रश्न रूप में ही विराजमान है। अतः प्रस्तुत लेख में पूर्व निर्दिष्ट विषय पर प्रकाश

डालने का यत्न किया जाता है। वैदिक साहित्य के अवलोकन से वेद संख्या विषयक मुख्य चार पक्ष दृष्टिगोचर होते हैं—

१—वेद एक ही है। २—वेद तीन हैं। ३ - वेद चार हैं। ४—वेद अनेक हैं।

इन सब पक्षों पर आलोचनात्मक दृष्टि डालते हुए सिद्धान्त पक्ष का युक्ति प्रमाण से प्रतिपादन करते हैं।

प्रथम पक्ष की आलोचना

वेद एक ही है, इस पक्ष को मानने वाले विद्वानों का कथन है कि वस्तुतः वेद एक ही है। प्रथम वेद एक ही था किन्तु पश्चात् कालान्तर में उसका संहिता रूप में विभाजन अथवा संकलन हो जाने से वेद अनेक समझे जाने लगे। कारण, प्रायः प्राचीन ग्रन्थों में वेद शब्द का एक वचन में ही प्रयोग देखा जाता है। उदाहरणार्थ तथाकथित पाणिनीय शिक्षा को ही देखिये:—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते। शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम्॥

यहां एक वचन में ही वेद शब्द का प्रयोग किया है। यदि वेद बहुत होते तो वेद शब्द का प्रयोग बहुवचन में ही अर्थात् 'वेदस्य' के स्थान पर 'वेदानाम्' इस बहुवचन का प्रयोग होता परन्तु ऐसा नहीं है। इसी प्रकार महर्षि पतञ्जलि ने भी—

ब्राह्मणेन षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। [महाभाष्य पस्पशाह्निक]

इस वचन में वेद शब्द का एक वचन में ही प्रयोग किया है। इसी प्रकार भगवान मनु ने भी—

वेदोखिलो धर्ममूलं।२।६॥

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तितः। स सर्वोऽभिहितो वेदे सर्वज्ञानमयो हि सः।२।७।

चातुर्वर्ण्यं त्रयोलोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक्। भूतं भव्यं भविष्यश्च सर्वं वेदात्प्रसिद्ध्यति॥१२।९६

इन स्थलों में एक वचन में ही वेद शब्द का प्रयोग किया है। वैदिक साहित्य में अन्यत्र भी—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्, विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरिष्यति।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्।

इत्यादि निरुक्त लेखों से भी वेद का एक होना ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार अनेक स्थलों पर एक वचन में वेद शब्द का प्रयोग स्पष्टतया सिद्ध करता है कि वस्तुतः आरम्भ में वेद एक ही था पीछे से वे संहिता रूप में विभक्त होकर अनेक हो गये। इसी पक्ष का प्रतिपादन श्री दुर्गाचार्य ने भी निरुक्त भाष्य में स्पष्ट शब्दों में किया है।

वेद तावदेकं सन्तमतिमहत्त्वाद् दुरध्येयमनेकशाखाभेदेन समाम्नासिषुः॥ इत्यादि

अर्थात् वास्तव में वेद तो एक ही है पीछे से शाखा भेद बहुत हो गये। इत्यादि—

परन्तु उक्त हेतु वेदैकत्व पक्ष की पुष्टि के लिये पर्याप्त तथा श्रद्धास्पद नहीं हो सकता। कारण, जहां अनेक स्थलों में वेद शब्द का एक वचन में प्रयोग किया गया है, वहां कदाचित् प्रदर्शित स्थलों से भी कहीं अधिक स्थलों में वेद शब्द का बहुवचन में प्रयोग हुआ है, और बहुवचन में प्रयोग हुआ भी अति प्रचुरता से है। जिसका उल्लेख आगे किया जायगा। अतः वेद शब्द के एक वचन में प्रयोग होने

मात्र से वेद एक ही है यह सिद्धान्त पक्ष नहीं हो सकता। वस्तुतः वेदत्वेन वेद एक है और इसी आशय से वेद शब्द का एकवचन में प्रयोग किया गया है अन्यथा एकत्र एकवचन प्रयोग अन्यत्र बहुवचन का प्रयोग वदतो व्याघात दोष से दूषित हो जाने से मान्य नहीं हो सकता। इस लिये वेद एक ही है यह पक्ष निराधार हो जाता है।

द्वितीय पक्ष की आलोचना

द्वितीय पक्ष वेद तीन हैं ऐसा स्वीकार करता है। इस पक्ष के विद्वान् ऋग्वेद, यजुर्वेद तथा सामवेद, इन तीनों को ही वेद मानते हैं। इनकी दृष्टि में अथर्ववेद वेद की कोटि में नहीं आता। उक्त पक्ष की पुष्टि में अनेक प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये जाते हैं—

त्रयोवेदा अजायन्त अग्नेर्ऋग्वेदो वायोर्यजुर्वेदः सूर्यात्सामवेदः। [शत० ११।५।८]

अर्थात्, तीन वेद उत्पन्न हुए, अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा सूर्य से सामवेद। छान्दोग्योपनिषद में भी तीन वेद होने की पुष्टि की गई है:—

अग्नेर्ऋचो वायोर्यजूंषि सामान्यादित्यात्। [छान्दो० ४।१६।२]

तथा तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी उक्त पक्ष का ही समर्थन किया गया है:—

भरद्वाजो ह त्रिभिरायुभिर्ब्रह्मचर्यमुवास। तꣳह जीर्णꣳ स्थविरꣳ शयानमिन्द्र उपव्रज्योवाच। भरद्वाज! यत्ते चतुर्थमायुर्दद्याम् किमनेन कुर्या इति। ब्रह्मचर्यमेवैतेन चरेयमिति होवाच। तꣳह त्रीन् गिरिरूपान् अविज्ञातानिव दर्शयाञ्चकार ……………… वेदा वा एते…… ॥ [तै० ब्रा० ३।१०।११।३।४]

अर्थात् महर्षि भरद्वाज ने तीन आयु पर्यन्त ब्रह्मचर्य का ही अनुष्ठान किया तब उस वृद्ध जीर्ण शीर्ण सुषुप्त भरद्वाज के पास आकर इन्द्र बोला यदि आप को चौथी आयु दी जावे तो आप क्या करेंगे। भरद्वाज बोले ब्रह्मचर्य ही करेंगे। तब उसने तीन पर्वत रूप दिखाये तो ये तीन वेद ही थे। इस आख्यान से भी यही सिद्ध होता है कि वेद तीन ही हैं। इसी प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में भी आता है:—

….तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वेदा अजायन्त॥ [ऐ० २५।७]

गोपथ ब्राह्मण में भी इसी आशय का लेख मिलता है:—

तेभ्यः श्रान्तेभ्यस्तप्तेभ्यः सन्तप्तेभ्यस्त्रीन् वेदान् निरमिमत्…. [गोप० पू० १।६]

अर्थात् श्रान्त एवं सन्तप्त तीन देवों से तीन वेदों का निर्माण हुआ। और भी—

सा वा एषा वाक् त्रेधा विहिता, ऋचो यजूंषि सामानि। [शत० १०।५।१।२]

अर्थात्, उस वाणी का ऋक्, यजु, साम रूप से तीन प्रकार से विधान किया गया है। यहीं स्वयं मनु भगवान् ने भी वेद त्रयी के पक्ष का समर्थन किया है।

अग्नि वायु रविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्मसनातनम्। दुदोह यज्ञसिद्ध्यर्थ ऋग्यजुः सामलक्षणम्॥
[मनु० १।२।३]

अर्थात् अग्नि वायु तथा रवि से यज्ञ सिद्धि के लिये ऋग, यजु तथा साम ये तीन वेद उत्पन्न

हुए। यहीं तक नहीं अन्यत्र भी बहुत से स्थलों में वेदों को त्रयी विद्या के नाम से स्मरण किया गया है।

त्रयी वै विद्या [शत० ४।६।७।१]

अर्थात्, ऋग्, यजु, साम भेद से विद्या तीन प्रकार की है। बृहदारण्यक में भी—

स यावतीयं त्रयी विद्या तावत् ह स जयति। [बृह० ४।१२।२]

अर्थात्, जितनी ऋग्, यजु, साम रूप त्रयी विद्या हैं वह इन सब को जीत लेता है। छाँदोग्य में भी इस त्रयी विद्या का वर्णन आया है।

स एतां त्रयीं विद्यामभ्यपतत्। [छान्दो० ४।१७।३]

अर्थात्, उसने ऋग्, यजु, साम रूपी तीनों विद्याओं का पर्यालोचन किया। ऐतरेय में देखिये:—

अथ केन ब्रह्मत्वं क्रियत इति। त्रय्या विद्यया ब्रूयात्। [ऐत० २५।५]

अर्थात्, किससे ब्रह्मत्व की प्राप्ति होती है ? इसके उत्तर में कहा गया है, त्रयी विद्या से। इसी प्रकार:—

....मन्त्रं गोपाय ममृषयस्त्रयीविदो विदुः ऋचः सामानि यजूंषि। [तै० १।१२।१]

अर्थात्, मेरे मन्त्र की रक्षा कर जिसको त्रयीवेत्ता ऋषि जानते हैं कि वे ऋग्, यजु, साम नाम वाले हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य में अनेक स्थलों में तीन वेद होने का ही निरूपण किया गया है। निरुक्त में भी स्पष्ट उक्त पक्ष की पुष्टि मिलती है जैसे कि :—

'यदेनमृग्भिः शंसन्ति, यजुर्भिर्यजन्ति, सामभिः स्तुवन्ति' (निरु० १३।७)

अर्थात्, ऋग्वेद से जिसकी प्रशंसा करते है यजुर्वेद से यजन करते हैं एवं सामवेद से स्तवन करते हैं। अधिकतर ऋग्, यजु, साम इन तीन वेदों का ही नाम देखने में आता है। अथर्ववेद का नाम तो क्वचित् ही आता है। आधुनिक विद्वानों की सम्मति में तो अथर्ववेद की रचना बहुत पीछे की है। किसीं २ ने तो यहां तक कह डाला है कि अथर्ववेद की भाषा रचना को देखते हुए तो यह वेद की श्रेणी में प्रतिष्ठित ही नहीं हो सकता अतः वेद तीन ही हैं यही पक्ष मान्य है। स्वयं यजुर्वेद में भी तीन ही वेदों का वर्णन है:—

"यस्मिन्नृचः साम यजूंषि यस्मिन् प्रतिष्ठिता रथनाभाविवाराः" [यजु० ३४।६]

अर्थात् जिस मन में ऋग् साम तथा यजु रथ की नाभि में अरों की तरह प्रतिष्ठित हैं। अतः वेद तीन ही हैं इत्यादि।

वास्तव में उक्त आधारों पर जो वेदों का तीन होना सिद्ध करते हैं वे भ्रान्ति में है, कारण कि त्रयीविद्या से तीन वेदों का अभिप्राय नहीं अपितु ज्ञान, कर्म, तथा उपासना इन तीन तत्त्वों का अभिप्राय है। यतः चारों वेदों में ज्ञान, कर्म, एवं उपासना का निरूपण किया गया है अतः त्रयीविद्या से चारों वेदों का ग्रहण होता है, केवल तीन वेदों का हो यह बात नहीं है। चारों ही वेद त्रयी विद्या के नाम से व्यपदिष्ट होते हैं देखिये महाभारत में उक्त तत्व की पुष्टि मिलती हैं:—

त्रयी विद्यामवेक्षेत वेदे सूक्तमथाङ्गतः। ऋक् साम वर्णाक्षरता यजुषोऽथर्वणस्तथा॥

[महा० शान्ति० १६५]

अर्थात्, तीन विद्याओं का अवलोकन करना चाहिये वे तीन विद्या ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व

रूप हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि त्रयी विद्या से चारों वेदों का ग्रहण होता है, कारण यदि त्रयी विद्या से तीन वेदों का ही तात्पर्य होता तो उक्त श्लोक में चारों वेदों का नाम न देकर केवल तीन के ही नाम देते। वस्तुतः बात यह है कि जहां जहां त्रयी विद्या या तीन वेदों का नाम आता है वे वेदों की संज्ञा के रूप में नहीं आता अपितु वेदमन्त्रों के प्रकार द्योतनार्थ में आता है। अर्थात, चारों वेदों में तीन ही प्रकार के मन्त्र हैं ऋक्संज्ञक, यजुसंज्ञक, तथा सामसंज्ञक। जिन मन्त्रों में छन्दोबद्ध पादव्यवस्था होती है उनको ऋक् या ऋचा कहते हैं। जो मन्त्र यज्ञादि वैदिक कर्मकाण्ड में गाये जाते हैं वे साम और इन दोनों प्रकार के मन्त्रों से जो शेष रहें उनकी यजु संज्ञा है। महर्षि जैमिनि ने अपने सुविख्यात मीमांसा शास्त्र में उक्त तत्त्व का निरूपण निम्न प्रकार से किया है।

'तेषामृग्यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था' [मी० २।१।३५]

अर्थात् उन मन्त्रों की ऋक् संज्ञा हैं जिनमें अर्थवशात् पाद व्यवस्था हो। तथा

गीतिषु सामाख्या' [मी० २।१।३६]

अर्थात् जो मन्त्र गीतिका रूप में गाये जाते हैं उनकी साम संज्ञा है।

'शेषे यजुः शब्दः' [मी० २।१।३७]

शेष सब मन्त्र यजुः संज्ञक हैं। यतः चारों वेदों में उक्त तीन प्रकार के मन्त्रों का समावेश है अतः जहां ऋग्, यजु, साम ये तीन ही नाम आवें, वहां ये मन्त्र-प्रकार-परक ही समझे जाने चाहिये नकि वेद संज्ञापरक। इसलिये वेद तो चार ही हैं किन्तु उनमें मन्त्र ऋग् यजु, साम, भेद से तीन प्रकार के हैं। इसी तत्व की पुष्टि सर्वानुक्रमणीवृत्ति की भूमिका में षड्गुरु शिष्य ने भी की है:—

विनियोक्तव्यरूपश्च त्रिविधः सम्प्रदर्श्यते ऋग्यजुःसामरूपेण मन्त्रो वेद चतुष्टये ॥

अर्थात् चारों वेदों में यज्ञादि में विनियोक्तव्य मन्त्र ऋग् यजु, साम रूप से तीन प्रकार के हैं। अतः जहां कहीं त्रयी का प्रयोग हुआ है वह तीन प्रकार के मन्त्रोंके अभिप्राय से हुआ है न कि वेदोंके तीन होने के अभिप्राय से। इसलिये जो पक्ष वेदों का तीन होना स्वीकार करता है वह भी आदरणीय नहीं हो सकता।

तृतीय पक्ष ही सिद्धान्त पक्ष है

वेद संहिता चार हैं। ऋग्, यजुः, साम तथा अथर्व ये चार ही वेद हैं और यही सिद्धान्त पक्ष है। इन चार संहिताओं में निम्न निर्दिष्ट चार विषयों का प्रतिपादन है।

१ ऋग्वेद संहिता—ज्ञान प्रधान।

२ यजुर्वेद संहिता—कर्म काण्ड प्रधान।

३ सामवेद संहिता—उपासना प्रधान।

४ अथर्ववेद संहिता—विज्ञान प्रधान।

इस प्रकार ज्ञान, विज्ञान, कर्म, तथा उपासना भेद से वेद चार है जिस का पूर्ण समर्थन वेद की अन्तः साक्षी से ही होता है। जैसे अथर्ववेद में आया भी है:—

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम्।
[अथर्व १०।६।२०]

अर्थात् जिससे ऋग्वेद बना, जिससे यजुर्वेद प्रकट हुआ एवं सामवेद जिस के रोम रूप हैं

तथा अथर्ववेद जिसका मुख रूप हैं। इस मन्त्र में स्पष्ट चार वेदों का प्रतिपादन है। ऋग्वेद में भी:—

"तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत।"

अर्थात्, सर्वहुत परमात्मा से ऋग्वेद, सामवेद, अथर्ववेद तथा यजुर्वेद उत्पन्न हुए। इस मन्त्र में 'छन्दांसि' पद ऋग्, यजु तथा साम के साहचर्य से अथर्ववेद का ही प्रतिपादक है। जो महानुभाव यह अर्थ करते हैं कि 'छन्दांसि' पद अथर्व वेद का बोधक नहीं हैं किन्तु उक्त तीनों वेदों में आये हुए गायत्री आदि छन्द विशेष का बोधक है वे भ्रम में हैं। कारण यहां वेद के प्रादुर्भाव का प्रकरण है तद्गत गायत्री आदि छन्दों के प्रतिपादन का नहीं। छन्द शब्द वेद वाचक भी है, स्वनाम धन्य पाणिनि मुनि ने भी 'बहुलं छन्दसि' आदि अनेक सूत्रों में छन्द शब्द का वेद परक ही प्रयोग किया है। अतः उक्त मन्त्र में छन्द शब्द का अर्थ गायत्री आदि छन्द नहीं हो सकता। यहां दूसरी एक और बात विचारणीय है। उक्त मन्त्र में 'जज्ञिरे' यह क्रिया दो बार आई है। यदि 'ऋचः सामानि छन्दांसि जज्ञिरे' यह अर्थ करें अर्थात् 'छन्दांसि'को ऋचः सामानि का विशेष मान लें तो जज्ञिरे केवल एक बार ही पार्याप्त होता। दूसरी बार 'जज्ञिरे'इस क्रिया का प्रयोग व्यर्थ हो जाता। अतः'जज्ञिरे' इस दूसरी क्रिया का प्रयोग इस बात का द्योतक है कि यहां 'छन्दांसि' पद को विशेषण मानकर, उसका साधारण गायत्री आदि छन्दःपरक अर्थ न करके विशिष्ट अर्थ अथर्ववेद परक ही लेना यौक्तिक एवं बुद्धिसङ्गत प्रतीत होता है। इस हेतु से भी यही सिद्ध होता है कि 'छन्दांसि' पद यहां पर सुतरां अथर्ववेदवाचक होकर ही प्रयुक्त हुआ है, यह बात निर्विवाद है। इसकी पुष्टि हमें गोपथ ब्राह्मण में भी मिलती है 'अथर्वणां' 'सर्वाणि छन्दांसि' अथर्ववेद में सब छन्द ही है। इससे भी अथर्ववेद का नाम छन्दोवेद ही बनता है। स्वयं वेद की भी अन्तःसाक्षी इस विषय में मिलती है कि 'छन्द' शब्द अथर्ववेद वाचक है। जैसे:—

'यत्र ब्रह्मा पवमानः छन्दस्यां वाचं वदन्' [ऋग्वेद म० ६ सू० ११२ मं० ६]

अर्थात्, जिस यज्ञ में ब्रह्मा पद विभूषित विद्वान् पवित्र छन्दोवेद की वाणी को बोलता है, अर्थात् अथर्ववेद की वाणी को बोलता है। प्रश्न हो सकता है कि यहां 'छन्दस्यां' इस पद से अथर्ववेद ही क्यों लेना चाहिये अन्य वेद क्यों न लें ? इस का उत्तर कर्मकाण्ड की पद्धति से मिलता है। यह सभी याज्ञिक कर्मकाण्ड विशेषज्ञ जानते हैं कि:—

"ऋग्वेदन होता करोति' 'यजुर्वेदेन अध्वर्युः'

'सामवेदेनोद्गाता' 'अथर्ववेदेन ब्रह्मेति'

हमारा अभिप्राय यहां ब्रह्मा से है। जब ब्रह्मा का अथर्ववेद से यज्ञ करने का विधान है तब स्पष्ट ही सिद्ध है कि यहां 'छन्द' पद से अवश्यमेव अथर्ववेद का ही ग्रहण होना चाहिये। अन्यत्र भी संस्कृत साहित्य में 'छन्द' पद, अथर्ववेद के लिये की प्रयुक्त हुआ है, देखिये:—

'ऋचो यजूंषि सामानि, छान्दास्याथर्वणानि च।

चत्वारस्त्वखिला वेदाः सरहस्याः सविस्तराः॥ [हरिवंश पुराण]

अर्थात्, ऋग्, यजु, साम तथा छन्द नामक अथर्व ये सब चार वेद सरहस्य एवं सविस्तर हैं। उक्त श्लोक में भी 'छन्दांसि आथर्वणानि' यह कहा गया है। इससे भी यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि अथर्ववेद का ही नाम छन्दोवेद है, अतः वेद स्वयं वेदचतुष्टयवाद का ही समर्थन करता है। उपनिषदों

में भी चार वेदों का ही वर्णन आया है ।

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थम् । [छान्दो० ७।१।२]

अर्थात् हे भगवन् ! मैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद तथा चौथे अथर्ववेद का अध्ययन करता हूं। बृहदारण्यकोपनिषद् में भी वेदों के चार होने की ही साची मिलती है।

"अरे अस्य महतोभूतस्य निश्वसितमेतत्

यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः" [बृ० ४।२।११]

अर्थात् उस महान् जगदीश्वर का यह निःश्वास (प्रेरणा) स्वरूप है जो ऋग्, यजु, साम तथा अथर्व के नाम से प्रसिद्ध है। अतः वेद संहिताचार ही हैं यही पक्ष बहु सम्मत है।

इसके अतिरिक्त ऋषि मुनियों के लेखों से भी वेदों का चार होना ही सिद्ध होता है। महाभाष्य-कार भगवान् पतञ्जलि मुनि अपनी अमरकृति महाभाष्य में लिखते हैं:—

केषां शब्दानां ? लौकिकानां वैदिकानाञ्च । तत्र लौकिकास्तावत गौरश्वादि । वैदिकाः खल्वपि–'शन्नो देवीरभिष्टये', 'इषे त्वोर्जे त्वा', 'अग्निमीले पुरोहितम्', 'अग्न आयाहि वीतये' इति

अर्थात्, किन शब्दों का उपदेश किया है ? लौकिक तथा वैदिक दोनों का। लौकिक जैसे गौ अश्वादि तथा वैदिक शब्दों के बताने के लिये जो प्रतीकें दी हैं वे चारों वेदों के मन्त्रों की ही हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पतञ्जलि मुनि के मत से भी वेद चार ही हैं।

सायणाचार्य भी अथर्ववेद के:—

"ब्रह्म प्रजापतिर्धाता लोका वेदाः सप्त ऋषयोऽग्नयः । [अथर्व० १९।९।१२]

इस मन्त्र में आये हुए 'वेदाः' इस बहुवचनान्त पद का भाष्य करते हुए लिखते हैं, "वेदाः साङ्गाश्चत्वारः" अर्थात् वेद सम्पूर्ण चार हैं। इसके अतिरिक्त भी वेद में चार वाणियों का वर्णन मिलता है:—

"पाहि नो अग्न एकया पाह्युत द्वितीयया ।

पाहि गीर्भिस्तिसृभिरूर्जाम्पते पाहि चतसृभिर्वसो ॥" ऋग्वेद ॥

अर्थात् हे (अग्ने) ज्ञान स्वरूप अग्रणी परमेश्वर ! (नः पाहि) हमारी रक्षा कीजिये (एकया) एक वाणी से तथा (पाहि द्वितीयया) दूसरी वाणी से हमारी रक्षा कीजिये (ऊर्जाम्पते) हे शक्तियों के स्वामी (पाहितिसृभिः) तीनों वाणियों से हमारी रक्षा कीजिये (वसोः) हे सर्व व्यापक प्रभो। (पाहि चतिसृभिः) चारों वाणियों से हमारी रक्षा कीजिये। इस मन्त्र में 'चतसृभिर्गीर्भिः' यह पद चारों वाणियों का निर्देश करता है। निश्चय से ये चार वाणि ये चार वेद ही हैं। इसके अतिरिक्त निरुक्तकार भगवान् यास्क मुनि भी वेदों के चार होने के पक्ष में ही हैं।

"चत्वारि शृङ्गास्त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्तहस्तासो अस्य" ॥ ऋग् ४।१५।५ ॥

इस ऋचा की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं, "चत्वारि शृङ्गा इति वेदा एव उक्ताः" अर्थात् यहां शृङ्ग से चारों वेदों का ही तात्पर्य है। इसी प्रकार गोपथ ब्राह्मण में भी:—

'चत्वारिशृङ्गा वेदा वा एत उक्ताः' [गो० ब्रा० १।३४]

यहां चार शब्दों से चार वेदों के लिये ही निर्देश किया गया है। अतः वेद चार ही हैं। काठक संहिता में भी चारों वेदों का नाम आता है:—

"यजुर्भीरायस्पोषे समिषा मदेम। [का० सं० २।४]

ऋक्सामयोरेवा ध्यभिषिच्यते" ॥ [का० स० ३७।३]

'आशीर्वा अथर्वभिः' [का० ५।४]

यहीं तक नहीं लौकिक साहित्य में भी चारों वेदों का नाम दृष्टिगोचर होता है। महाभारत में स्पष्ट लिखा है:—

वेदैश्चतुर्भिः सुप्रीताः प्राप्नुवन्ति दिवौकसः। [महा० प्रो० अ० ५१। श्लो० २२]

अर्थात्, देव लोग प्रसन्न होकर चारों वेदों से यथेष्ट हव्यादि को प्राप्त करते हैं। इस प्रकार वैदिक साहित्य एवं लौकिक साहित्य के प्रबल प्रमाणों से वेद चार ही हैं इस पक्ष की इतनी पुष्टि हो जाती है कि इसमें किसी प्रकार की शङ्का करने का अवकाश ही नहीं रह जाता। इस लिये यह सिद्ध हो गया कि वेद संहिता चार ही हैं।

कतिपय योरोपीय विद्वानों का जो यह कथन* है कि अथर्व वेद की रचना बहुत पीछे की है इसलिये यह वास्तविक रूप से वेद कोटि में अधिष्ठित नहीं हो सकता इत्यादि कथन भी निराधार एवं निर्गल होने से आदरास्पद नहीं हो सकता। क्यों कि सम्पूर्ण वैदिक साहित्य में अथर्ववेद का नाम भी उसी आदर से लिया गया है जितना अन्य वेदों का। महाभारत में:—

राज्ञश्चाथर्ववेदेन सर्वकर्माणि कारयेत्।

अर्थात्, राजा के सम्पूर्ण कार्यों को आचार्य अथर्ववेद से करावे।

इसी प्रकार अन्यत्र भी बहुत स्थलों में अथर्व का नाम उसी प्रतिष्ठा के साथ आता है जितना अन्य वेदों का, फिर यह कल्पना कर लेना कि अथर्ववेद की रचना बहुत पीछे की है, कोई अर्थ नहीं रखती।

एक अन्य बात से भी वेदों का चार होना ही सिद्ध होता है। उक्त चार वेदों के चार ही उपवेद माने गये हैं। यदि वेद चार न होकर एक अथवा अनेक होते तो उनके उपवेदों की संख्या चार क्यों कर होती? परन्तु निर्णीतरूप से उपवेद भी चार ही माने गये हैं।

ऋग्वेद का उपवेद धनुर्वेद है। अथर्ववेद का उपवेद आयुर्वेद है। सामवेद का उपवेद गन्धर्ववेद है। यजुर्वेद का उपवेद अर्थवेद है।

इस प्रकार चार उपवेदों का होना भी वेदों के चार होने में बड़ा प्रबल प्रमाण है।

चतुर्थ पक्ष की आलोचना

चतुर्थ पक्ष है कि वेद अनेक हैं। "अनन्ता वै वेदाः" वेद अनन्त हैं, इस पक्ष के मानने वालों का यह

*The fourth collection, the Atharva-Veda, attained to this position only after a long struggle. Judged both by its language & by that portion of its matter which is analogous to the contents of the Rig-Veda, the Atharva Veda came into existence considerately later than that Veda.
(Macdonell)

तम है कि शाखाग्रन्थ तथा ब्राह्मण ग्रन्थ आदि सभी वेद कोटि में आते हैं। परन्तु यह अशुद्ध है, कारण, वेद की शाखाओं को वेद नहीं माना जा सकता, वास्तव में शाखाएं वेद के भाग नहीं है। अपितु वेद व्याख्यान एवं पाठान्तर से वेद विशेष के प्रवचन ही है। इसका सबूत यह है कि वेद की वर्णानुपूर्वी नियत एवं नित्य है, किन्तु शाखाओं की वर्णानुपूर्वी अनियत एवं अनित्य है। इस बात को सभी वैदिक विद्वान् मानते हैं। इससे शाखा ग्रन्थों में बहुत अधिक पाठ भेद हो गया है और उनमें बहुत करके वर्णानुपूर्वी बदली गई है। उनमें कोई निश्चितक्रम या पाठ नहीं रह गया इतना ही नहीं, कहीं कहीं को प्रवृद्ध तथा क्वचित्‌न्यून पाठ भी देखा जाता है। इसलिये ऐसी अवस्था में जो लोग यह कहते हैं कि काण्व, मैत्रायणी, कपिष्ठल, वाष्कल, शाकल, आदि शाखा भी वेद ही हैं वे ठीक नहीं। कारण, यदि शाखाओं को वेद माना जायगा तो काई मर्यादा न रहेगी। वस्तुतः, वेद अनेक हैं, यह कहना—वेदों के स्वरूप से अनभिज्ञता प्रकट करना है। वास्तव में यह एक बहुत विवादास्पद विषय है जो अपने लिये एक स्वतन्त्र लेख की अपेक्षा रखता है। इस लिये यहां केवल उक्त संकेत ही पर्याप्त है।

उक्त लेख में निर्दिष्ट युक्ति प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि वेद संहिताएं चार ही हैं और यही पक्ष सिद्धान्त पक्ष हो सकता है।

ईश्वरीय ज्ञान

[लेखक श्री पण्डित वाचस्पति जी एम० ए०, बी० एस० सी०, विद्यावाचस्पति, लाहौर]

मनुष्य को ज्ञानवान् प्राणी कहा गया है। मनुष्य और पशु में एक बड़ा भारी भेद यह है कि जहाँ भूख मिटाने के लिये पशु भी खाता है और मनुष्य भी, परन्तु पशु को यह ज्ञान नहीं कि यह चारा मेरे बच्चे के लिए है, यदि मैं इसे खा जाऊँगा तो मेरा बच्चा भूखा रहेगा वा मर जाएगा। मनुष्य यह जान सकता है कि कौन सा कार्य उचित है और कौन सा अनुचित। वह अपनी बुद्धि से विचार सकता है और शास्त्र को पढ़कर भी जान सकता है। धर्माधर्म जानने के अनेक साधन शास्त्र ने बताए हैं। महर्षि व्यास लिखते हैं:—

श्रूयतां धर्मसर्वस्वं श्रुत्वा चैवावधार्यताम्।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषान्न समाचरेत्॥ महाभारत॥

अर्थात् धर्म का सर्वस्व यह है कि जो व्यवहार तुम्हें अपने लिये बुरा प्रतीत होता है, उसका आचरण दूसरों के लिये मत करो। धर्म का निश्चय करने में यह साधन बहुत सहायक है। यदि धोके से कोई तुम्हारा धन हर ले तो तुम्हें दुःख होता है, इस लिये यह पाप है, अतः तुम्हें भी दूसरों का धन नहीं हरना चाहिये। कई अवस्थाओं में यह साधन धर्म के जानने में सहायक नहीं भी होता, जैसे यदि एक शराबी वा अफ़ीमी दूसरों को भी शराब वा अफ़ीम का सेवन करा देवें, तो दूसरे के प्राण हरने का वह पापी भी हो सकता है। क्योंकि यह काम उसे अपने लिये अच्छे लगते हैं, इस लिये ये धर्म नहीं बन गए। शास्त्र ने धर्म को जानने के लिये एक और साधन यह बताया है कि अपनी आत्मा (conscience) की आवाज के अनुसार जो कार्य किया जाए वह धर्म होगा। जिन लोगों की आत्मा शुद्ध होती है, वे तो इस साधन से धर्माधर्म का निर्णय कर सकते हैं, परन्तु एक कसाई की, आत्मा

की आवाज़ दब चुकी है, वह जब पशुओं को मारता है तो उसे इसमें पाप प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार से जिन लोगों की आत्मा की आवाज़ दब चुकी हो, उनको यह साधन सहायता नहीं दे सकता। इस लिये शास्त्र ने बताया कि महापुरुषों के आचार का अनुकरण करना चाहिए। यह साधन धर्म का निश्चय करने में सहायक हो सकता है। परन्तु हो सकता है कि कभी महापुरुषों में भी कोई त्रुटि हो। इस लिये शास्त्र ने कहा कि जो स्मृति में बताया है वह धर्म है, क्योंकि स्मृतियां ऋषियों की बनाई हुई हैं। परन्तु स्मृतियें विशेष देश और काल के अनुसार परिवर्तित होती रहती हैं। इसलिये शास्त्र ने बताया कि,क्योंकि वेद ईश्वरीय ज्ञान है, अतः वह सब देशों और कालों के लिये समान है। वेद की शिक्षाओं पर आचरण करने से मनुष्य का कल्याण होता है। इसी बात को मनु महाराज ने इन शब्दों में कहा है:—

वेदः स्मृति सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद्धर्मस्य लक्षणम्॥

कुछ लोग तो ऐसे हैं कि जो मानते हैं कि संसार की कोई भी पुस्तक ईश्वरीय ज्ञान नहीं है, सब पुस्तकें मनुष्यों की बनी हुई हैं, दूसरे लोग वे हैं जो ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता तो स्वीकार करते हैं, परन्तु वेद को नहीं, अपितु अन्य ग्रन्थों—जैसे बाईबल, कुरान आदि को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं।

पहली श्रेणी के लोगों का कहना है कि सृष्टि के आदि में ज्ञान बहुत कम था, शनैः २ उन्नति होती गई, ज्ञान में वृद्धि होती गई तो मनुष्य ज्ञान की उस अवस्था को प्राप्त हो गया जो आज है, जब कि मनुष्य परमाणु बम (Atom Bumbs) तक बनाने लगा है, जिस से एक क्षण भर में सहस्रों मनुष्यों का नाश किया जा सकता है। क्रमोन्नति या विकासवाद का सिद्धान्त इस समय पश्चिमी विचार का सार है। इस सिद्धान्त ने विज्ञान को, साहित्यकला को तथा अन्य प्रत्येक विद्या को प्रभावित किया है। प्रत्येक लेखक बिना ननु नच किये विकासवाद के सिद्धान्त को स्वीकार कर के चलता है। केवल पश्चिम में ही नहीं अपितु इस देश में भी विकासवाद का प्रचार बहुत है। अंग्रेज़ी शिक्षित लोग इस को स्वतः सिद्ध सिद्धान्त स्वीकार करने लगे हैं। परन्तु वास्तविक तथ्य यह है कि यह हमारी सभ्यता और पश्चिमी सभ्यता में मौलिक भेद है। यहां पता लगता है कि जो व्यक्ति विकासवाद को मानता है वह हमारी संस्कृति से (Poles assunder) सर्वथा दूसरे सिरे पर है। उसका विश्वास कभी ईश्वरीय ज्ञान पर नहीं हो सकता। हम तो यह मानते हैं कि प्रभु ने सारा ज्ञान सृष्टि के आदि में ही दे दिया, पर विकास-वादी यह मानता है कि आदि में ज्ञान नहीं था, शनैः २ उन्नति करता हुआ मनुष्य उन्नत होता गया और अब ज्ञान के उच्च शिखर पर पहुंच चुका है।

विकासवाद का सिद्धान्त क्योंकि इतना प्रभावशाली है, इस लिये आगे बढ़ने से पूर्व इस सिद्धान्त पर विचार करना अत्यन्तावश्यक है।

विकासवाद (Evolution theories) तीन हैं। इनमें से वह वाद जो कि सब से पहले क्षेत्र में आया और वैज्ञानिक लोग उसे मानते रहे वह लैमार्क का चलाया हुआ था।

लैमार्क (Lamark) के अनुसार प्राणियों के वे अंग जो काम में अधिक आते हैं, बढ़ जाते हैं, शनैः २ उन्नति करते २ इस स्थिति को प्राप्त हो जाते हैं कि कुछ अंग बहुत बढ़ जाते हैं, और कुछ जो काम में नहीं आते, वे निकम्मे होते जाते हैं, इस प्रकार वे छोटे होते २ सर्वथा उत्पन्न ही नहीं होते।

पीढ़ियों तक इस प्रकार की बात चलती जाती है। कई पीढ़ियों के पश्चात् कुछ अंग बहुत बढ़ गए और कुछ सर्वथा नहीं उगे। परिणाम यह हुआ कि नई प्रकार के प्राणी उत्पन्न हो गए। जैसे जिराफ़ जिसकी ग्रीवा (गरदन) बहुत लम्बी होती है, उसके पूर्वज घोड़े की आकृति के प्राणी थे (या घोड़े ही थे)। वे ऊंचे २ वृक्षों से पत्ते खाने का यत्न करते रहे। गरदन खिंचती गई और थोड़ी २ बढ़ती गई। इस प्रकार से कई पीढ़ियों के पश्चात् जिराफ़ उत्पन्न हो गए। कई फूल ऐसे हैं जिन की एक पत्ती शेष पत्तियों की अपेक्षा बहुत लम्बी और चौड़ी होती है। इस का कारण लैमार्क के विचारानुसार यह है कि ऐसे फूलों के पूर्वजों के तो वस्तुत: सब पत्तियां एक जैसी थीं, परन्तु एक पत्ती पर कीड़े और शहद की मक्खियां आकर शहद चूसने के लिये बैठती रहती थीं। उन के बोझ से वह पत्ती कुछ लम्बी हो गई और उस से अगली पीढ़ी में वह पत्ती कुछ और लम्बी हो गई और उससे अगली पीढ़ी में वह कुछ और लंबी उत्पन्न होगई फिर उस पर शहद की मक्खियें बैठती रहीं, अत:वह कुछ और लम्बी हो गई और शेष छोटी रह गई। शनै:२ कई पीढियों के पश्चात् वह पत्ती बहुत बढ़ जाती है, और शेष छोटी रह जाती हैं। एक और उदाहरण से लैमार्क अपने विचार को व्यक्त करता है। एक साधु अपने एक हाथ को सदा खड़ा रखता हैं। परिणाम यह होता है कि वह हाथ सर्वथा शक्तिहीन और निकम्मा होकर सूख जाता है। लैमार्क का यह कथन है कि जब मनुष्य अपने जीवन काल में ही एक हाथ को काम में न लाकर सर्वथा निकम्मा कर के सुखा सकता है तो सहस्रों वर्षों में प्रकृति इस प्रकार जो अंग काम में आते हैं, उन को बढ़ा कर और जो काम में नहींआते उन को घटा कर नये प्राणी क्यों नहीं उत्पन्न कर सकती। लैमार्क का यह वाद बहुत समय चलता रहा।

लैमार्क के पश्चात् डार्विन (Darwin) का वाद क्षेत्र में आया। इस वाद का इतना प्रचार हुआ कि विकास वाद और डार्विन वाद को पर्यायवाची समझा जाने लगा। साधारण पढ़े लिखे लोग तो यही समझते हैं कि डार्विन के वाद के सिवाय और कोई विकासवाद न है और न हुआ है। डार्विन ने लैमार्क का खण्डन किया और कहा कि लैयार्क के ढङ्ग से नंए प्राणी सर्वथा पैदा नहीं हो सकते। यह ठीक है कि मधुमक्खी फूल की पत्ती पर बैठती है, और वह पत्ती कुछ बढ़ भी सकती है, इसी प्रकार से अन्य प्राणियों के वे अंग जो काम में आते हैं बढ़ जाते हैं, और जो काम में नहीं आते निर्बल हो जाते हैं, परन्तु इस प्रकार से बढ़ने और घटने की एक सीमा होती है और वह बढ़ाव और घटाव अगली पीढ़ी में नहीं जाता और यदि कुछ थोढ़ा बहुत जाता भी है तो इतना नहीं कि शनै: २ इकट्ठा होकर नये प्रकार के प्राणी उत्पन्न कर दे। वह साधु जिसने अपने हाथ को खड़ा रख कर सुखा दिया, उस के अगले कुल में सूखा हुआ हाथ उत्पन्न नहीं होता। डार्विन एक और युक्ति यह देता है कि सदियों से मुसलमानों और ईसाईयों में सुन्नत होती रही है। शरीर में मांस का उतना भाग इस प्रकार से सर्वथा निकम्मा हो गया है। लगभग २००० वर्ष व्यतीत हो गए, जब से यह प्रथा चली हुई है, परन्तु ऐसा कभी नहीं देखा गया कि कोई बच्चा ऐसा उत्पन्न हो जाए जिस के सुन्नत जन्म से ही हुई हुई हो, अर्थात् मांस का तथा कथित भाग उस के उत्पन्न ही न हो। इसलिये लैमार्क के ढङ्ग पर नये प्राणी नहीं उत्पन्न हो सकते। कोई अंग जितना बढ़ता वा घटता है, वह बढ़ाव वा घटाव अगली पीढ़ी में पुन: लौट पड़ता है, और पहली अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

डार्विन का विचार यह है कि संसार में एक (Struggle for existence) जीवित रहने का संघर्ष(जद्दोजहद)चल रहा है। उस Struggle (जद्दो जहद)में जो योग्यतम सिद्ध होता है, उसकी विजय होती है, वह जीवित रहता है, और शेष प्राणी नष्ट हो जाते हैं (Surival of the fittest)। इस जीवन संग्राम के लिये जो अंग वा जो शक्ति अधिक उपयोगी है, वह जिन में अधिक होती जाती है, वे प्राणी जीवित रहते हैं, वह शक्ति भी उन में बढ़ती जाती है। इस प्रकार से उन्नत होते २ वे प्राणी जिन में वे शक्तियां बहुत अधिक होती हैं वे उत्पन्न होते जाते हैं और इसी क्रम से नये प्राणी पशु जगत् और वनस्पति (उद्भिद्) जगत् में उत्पन्न हो जाते हैं। इस वाद को व्यक्त करने के लिये कुछ उदाहरण डार्विन ने दिये हैं। जीवन संग्राम के सम्बन्ध में वह कहता है, कि संसार में इतने प्राणी हमारे सामने उत्पन्न होते हैं और नष्ट हो जाते हैं। सबसे कम बच्चे देने वाला पशु हाथी है। यदि हिसाब लगा कर देखा जाए तो पता लगेगा कि शायद लगभग ८०० वर्षों में सारी पृथ्वी पर हाथी ही हाथी होंगे और अन्य किसी के रहने के लिए कोई स्थान नहीं बचेगा। परन्तु ऐसा नहीं नहीं होता, हाथियों की संख्या इतनी नहीं बढ़ती। इसी प्रकार से अन्य प्राणियों का हिसाब लगाया जाय तो थोड़े काल में ही वे प्राणी इतने बढ़ जाते हैं कि सारी पृथ्वी उन्हीं से ही भर जाए। मक्खियां इतना शीघ्र बढ़ती हैं कि कहा गया है यदि दो मक्खियां (नर और मादा) यदि एक मरे हुए घोड़े पर आ बैठें तो वे घोड़े को शीघ्र समाप्त कर देगी और एक शेर को उस घोड़े के खाने में अधिक समय लगेगा। क्योंकि जब मक्खियों को खाना मिलता रहता है तो वे धड़ाधड़ अण्डे देती हैं, और बच्चे उत्पन्न होते जाते हैं और उनकी संख्या बढ़ती जाती है। परन्तु संसार में किसी भी प्राणी की संख्या इतनी नहीं बढ़ती कि एक ही प्राणी से सारी पृथ्वी भर जाए। इसका कारण क्या है? कारण यह है कि संसार में खाना सीमित है, प्राणियों की खाना प्राप्त करने की शक्तियां सीमित हैं, गरमी सरदी सहने की शक्तियां सीमित हैं, तथा शत्रुओं का मुकाबला करने की शक्तियां सीमित हैं। जिन में शक्तियां अधिक होती हैं, वे जीवित रहते हैं, शेष नष्ट हो जाते हैं। वे शक्तियां बढ़ती जाती हैं और प्राणी जीवन संग्राम के अधिक योग्य बनता जाता है। शनैः २ इस प्रकार के नये प्राणी उत्पन्न होते जाते हैं जो जीवन संग्राम में अधिक सफल हो सकते हैं। जैसे एक खरगोश का जोड़ा है, उस के आठ बच्चे हैं। हम यह देखते हैं कि उनमें दो जीवित रहते हैं और छः मर जाते हैं। उन दो का जीवित रहना और छः का मर जाना अकस्मात् नहीं हो जाता। ऐसा होना सकारण है। कारण यही है कि उन छः की खाना प्राप्त करने की, सरदी गरमी आदि सहने की, और शिकारी कुत्तों, शिकारी मनुष्यों तथा अन्य शत्रुओं का मुकाबला करने की शक्तियां कम थीं, इसलिये वे जीवन संग्राम में सफल नहीं हुए और जिन दो में ये शक्तियां अधिक थीं, वे सफल हो गए। वे शक्तियां अगले कुल में चली गईं। उस कुल में फिर आठ बच्चे उत्पन्न हुए, और २-३ जीवित रहे और शेष मर गए। इन दो तीन में वा एक में वे शक्तियां कुछ और बढ़ गईं और अगले कुल में बढ़ी हुई शक्तियों वाले बच्चे उत्पन्न हुए। उनमें से फिर जिनमें वे शक्तियां और अधिक थीं वा जो जीवन संग्राम में विजयी होने के अधिक योग्य थे वे जीवित रहे और शेष मर गए। इस प्रकार से वे शक्तियां बढ़ती गईं और एक समय आया कि जब एक नया प्राणी उत्पन्न हो गया जो कि जीवन संग्राम में विजय प्राप्त करने में खरगोश की अपेक्षा अधिक योग्य है। इसको अंग्रेजी में Natural Selection,Survival of the fittest और Weaker must go to the wall कहते हैं।

इस वाद के अनुसार संसार के सब प्राणियों—पशुओं वा वृक्षों—का पूर्वज एक सैल वाला प्राणी (Uni-Cellular) अमीबा (Amoeba) था। अमीबा ने जब चलना होता है तो वही सैल पाओं का काम देती है। जब खाना होता है तो वही सैल मुँह का काम देती है; खाना पचाने के लिये वही सैल आमाशय वा आंतड़ियों का काम करती हैं। इसी प्रकार से अमीबा सब काम एक ही सैल से करता है। अमीबा से उन्नति हुई और दो सैल का प्राणी हाईड्रा (Hydra) बना, इसी प्रकार से उन्नति होते २ चार सैल के प्राणी बने, आठ के बने। शनैः २ मछलियां बनीं, मेंढक बने। ऊपर बताए सिद्धान्तों के अनुसार ही जीवन संग्राम में सफल होने के लिये ज्यों ज्यों शक्तियां बढ़ती गईं और नये २ प्रकार के पशु और पक्षी उत्पन्न हो गए, बन्दर उत्पन्न हो गए। इस क्रम में बन्दर मनुष्य के समीपतम है। अन्त में मनुष्य उत्पन्न हुए जो कि जीवन संग्राम में विजयी होने के सब से अधिक योग्य हैं। मनुष्यों ने ज्ञान में उन्नति करते २ अनेक प्रकार की कलें बना दीं, नाशक यन्त्र बना दिये, इस प्रकार के परमाणु बम बना दिये जिनसे क्षण भर में सहस्रों प्राणियों का नाश किया जा सकता था। इसी प्रकार से विज्ञान में सूक्ष्म कलाओं के सब क्षेत्रों में मनुष्य ने उन्नति की।

अपने वाद को व्यक्त करने के लिये डार्विन ने कबूतरों का उदाहरण दिया कि कबूतर पालने वाले साधारण जंगली कबूतर से ही उसमें दूसरों से कुछ भिन्न रंग वा भिन्न गुण वाले कबूतरों को चुनकर उससे अगले कुल में उन गुणों वा रंगों को बढ़ा लेते हैं, इस प्रकार से वे कबूतरों की कुछ पीढ़ियों के पश्चात् नये प्रकार के कबूतर उत्पन्न कर लेते हैं।

इसी प्रकार से कुछ फूलों पर परीक्षण (Experiments) किये गए हैं। मटरों के एक रंग के फूलों से भिन्न २ रंगों के फूल उत्पन्न कर लिये गए हैं।

डार्विन युक्ति देता है कि यदि मनुष्य अपने जीवन काल में नये प्रकार के कबूतर और नये रंगों के फूल विशेष गुणों को चुन कर बढ़ा कर उत्पन्न कर लेता है, तो प्रकृति (नेचर) लाखों वर्षों में इसी चुनाव (Natural Selection) से नये प्रकार के प्राणी जो कि जीवन संग्राम में विजयी होने के अधिक योग्य हों, क्यों नहीं उत्पन्न कर सकती? यह है संक्षेप में डार्विन के विकासवाद का सार। इस वाद पर सैंकड़ों पुस्तकें लिखी जा चुकी हैं। हमारे अंग्रेज़ी पढ़े लिखे लोग भी इस के प्रभाव के नीचे दबे हुए हैं। परन्तु अब वैज्ञानिकों ने स्वयं इस वाद का खण्डन कर दिया है। हमारे बाबू अब भी इसे ही मानते चले जा रहे हैं; क्योंकि उन्होंने अपने घर का तो कुछ पढ़ना ही नहीं, पश्चिम की जूठन ही खानी है।

डार्विन के इस वाद के विरुद्ध डीव्रीज (De Vries) ने कहा कि यह ठीक है कि एक प्राणी शनैः २ उन्नति करता है, परन्तु वह उन्नति वाले गुण जो उसमें बढ़ते हैं एक विशेष सीमा तक रहते हैं। उस सीमा के पश्चात् या तो उन्नति रुक जाती है या लौट पड़ती है। इस शनैः २ उन्नति से नये प्राणी उत्पन्न (Origin of species) नहीं हो सकते। डीव्रीज़ के वाद के अनुसार नये (At a stem) एक दम उत्पन्न होते हैं। उसने अपने परीक्षण (Experiments) हालैण्ड में एक बड़े खेत में किये। वहां उसने एक पौदा ऊनोथरा लैमार्कियाना (Oenothera Lamarkiana) बो दिया। खेत को सर्वथा साफ़ कर दिया गया था। इन अनुभवों में उसने देखा कि सर्वथा नये प्रकार के पौदे उत्पन्न होते गए जो कि पहले वनस्पति शास्त्र के ज्ञाताओं को अज्ञात थे। इस प्रकार से बार २ अनुभव करने से कुछ नये प्रकार के पौदे उत्पन्न होते गए। इसलिये उसने कहा कि नये प्रकार के प्राणी (origin of new

species) शनैः २ उन्नति से नहीं उत्पन्न होते अपितु एक दम उत्पन्न होते हैं।

कुछ अन्य युक्तियां विकासवाद के विरुद्ध दी गई हैं, वे ये हैं—

(१) परिस्थिति, जलवायु आदि के अनुसार जीवन संग्राम के अधिक योग्य बनाने के लिये जो शरीरों आदि में अन्तर हो सकता है वह इतना ही है जितना कि एक भारतवासी, चीनी, पठान, अंग्रेज़ वा रैड इण्डियन की आकृति में है, वा वैलर, अरब और कच्छी घोड़े में है, परन्तु परिस्थिति तथा जलवायु आदि मछली से ऊँट नहीं बना सकती।

(२) एक सैल के अमीबा में स्त्री पुरुष दो भेद होना असम्भव प्रतीत होता है।

(३) यदि एक सैल वाले अमीबा से दो सैल वाला हाइड्रा बनता है तो उत्तरोत्तर सब योनियां दूने परिमाण से बढ़नी चाहियें, परन्तु विकासवाद के क्रम में ऐसा होना नहीं दिखाया गया।

(४) विकासवाद के अनुसार पक्षधारी प्राणी सर्पण शीलों के बाद होने चाहिएं थे, परन्तु कृमियों में भी पक्ष उत्पन्न हो जाते हैं।

(५) घोड़े के स्तन नहीं होते, बैल के होते हैं, और पुरुषों के स्तन होते हैं। ये स्तन बैल को और पुरुषों को जीवन संग्राम में क्या सहायता देते हैं, और घोड़े में स्तनों का अभाव उसे क्या हानि पहुँचाता है, इसका उत्तर विकासवादी कुछ नहीं दे सकता।

६. विकासवाद का सिद्धान्त लुप्तजन्तुशास्त्र पर बहुत निर्भर है। विकासवादी कहते हैं कि पृथ्वी की तहों में ऐसे प्राणियों की अस्थियां मिली हैं, जो कि विकास की जंजीर की कड़ियां हैं, परन्तु साथ ही विकासवादी यह भी स्वीकार करते हैं कि बहुत सी कड़ियां नहीं मिलीं। इसी सम्बन्ध में मि० डे० कार्टर फेगल अपनी पुस्तक Les Evules de Darwin पृ० ७६ पर यही बात कहते हैं:—

"From one stage to another there is sometimes too broad a gulf."

इसी विषय में एक और वैज्ञानिक सर० जे० डबल्यु० डासन अपनी पुस्तक Modrn Ideas of Evolution पृ० ११६ पर लिखते हैं—

"Such geneologies are not of the nature of scientific evidence."

७. विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार पहले बिना हड्डी के प्राणी थे, उन से हड्डी वाले प्राणी उत्पन्न हो गये। इसके सिद्ध करने के लिये वे प्रमाण यह देते हैं कि पृथ्वी की निचली तहों में हड्डियां नहीं मिलती, और ऊपर की तहों में प्राणियों की हड्डियों के पंजर मिलते हैं परन्तु P. geddeo अपनी Evolution नामक पुस्तक पृ० १२६ पर लिखते हैं कि पृथ्वी के दबाव से निचली तहें पिछल जाती हैं और साथ ही हड्डियां भी पिघल जाती हैं। इस लिये निचली तहों में हड्डियाँ न होने से यह सिद्ध नहीं हो सकता कि पहले बिना हड्डी वाले प्राणी थे और पीछे उन से हड्डी वाले प्राणी बन गए।

८. विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार जिन प्राणियों के शरीर जीवन संग्राम में अधिक सफल होते हैं, वे जीवित रहते हैं, शेष नहीं। शनैः २ उन्नति करते २ इस प्रकार के प्राणी बनते जाते हैं जिनके शरीर जीवन संग्राम में अधिक सफल हो सकते हैं। विकासवाद के अनुसार पृष्ठवंशधारियों

(Vertebrates) में सर्पणशील प्राणियों की श्रेणी है, सर्पणशीलों से विकसित होकर पक्षी बने, पक्षियों से विकसित होकर स्तनधारी हुए। अब जरा देखें कि इनके शरीर जीवन संग्राम में कितना काम देते हैं। सर्पणशीलों में कछुआ १५० वर्ष और सर्प १२० वर्ष जीता है। पक्षियों में कबूतर ८ वर्ष जीता है। स्तनधारियों में शशक ८ वर्ष, कुत्ता १४ वर्ष, घोड़ा ३२ वर्ष, बन्दर २१ वर्ष, और मनुष्य १०० वर्ष जीता है। मनुष्य विकासवाद के अनुसार सबसे अधिक उन्नत है, फिर भी बड़े कम मनुष्य *१०० वर्ष की आयु तक भी पहुँचते हैं कछुए की आयु तक मनुष्य नहीं पहुँचता। इन सब प्राणियों को विकसित होकर अच्छी मशीन मिली, जो मृत्यु के अधिक समीप पहुँचा दिया।

६. यदि इस बात को माना जाए कि पहले प्राणी जीवन संग्राम के योग्य नहीं थे। जो जीवन संग्राम में अधिक योग्य सिद्ध होते हैं वे ही जीवित रहते हैं, शेष मर जाते हैं। इससे तो यह सिद्ध होता है कि पहली श्रेणियों प्राणी अब तक रहने ही नहीं चाहिये थे, वे सहस्रों वर्ष पूर्व से सर्वथा नष्ट हो जाने चाहिये थे। एक खरगोश के ८ बच्चों से ६ जो जीवन संग्राम के कम योग्य हैं, वे मर जाते हैं, और जो जीवन संग्राम में सफल होते हैं वे ही जीवित रहते हैं, इसी युक्ति से यह भी तो होना चाहिये कि प्राणियों की वे सब श्रेणियाँ अब तक नष्ट हो जातीं जो कम विकसित हैं। परन्तु ऐसा नहीं हुआ। अब तक एक सैल का अमीबा भी मौजूद है और दो सैल का हाईड्रा भी, फंगस आदि वनस्पतियां भी और बड़े २ वृक्ष भी हैं, सांप भी हैं, कबूतर हैं, कुत्ते भी हैं और मनुष्य भी हैं।

१०. विकासवाद के खण्डन में बहुत सी युक्तियाँ हैं, परन्तु विस्तरभय से केवल एक बात इस विषय में कह कर विकासवाद को यहीं छोड़ दिया जायगा। इन पंक्तियों का लेखक जिन दिनों कालिज में पढ़ता था और जब बाटनी (Botany) पढ़ते समय उसे विकासवाद पढ़ाया गया तो माने हुए और बाटनिस्ट डा० कश्यप और डा० बीरबल साहनी से उसने एक बात पूछी कि यह तो आप कहते हैं कि आरम्भ में एक सैल के जीवित प्राणी थे, उनसे उन्नति करके बड़े २ प्राणी बन गये, आप यह भी कहते हैं कि आरम्भ में संसार में बहुत थोड़ा सा ज्ञान था, शनैः २ उन्नति होते २ ज्ञान इस अवस्था को प्राप्त कर गया, जिस को आज विज्ञान आदि पहुँचे हुए हैं। आप यह तो बताइये कि "Where did the life come from in the very beginning and where from did the Knowledge come in the very beginning" अर्थात् आरम्भ में जीवन कहां से आया और आरम्भ में ज्ञान कहां से आया, क्योंकि विज्ञान, शून्य से जीवन उत्पन्न हो गया या शून्य से ज्ञान उत्पन्न हो गया, ऐसा नहीं मान सकता। मेरे इस प्रश्न का उत्तर मुझे सदा यही दिया जाता रहा कि "With this we are not concerned as to where from the life came in the very beginning or where from the knowledge came in the very beginning. We are to take it from granted that there was some life in the beginning of the world and a little knowledge in the beginning of the world and by slow progress it increased." अर्थात् इसके साथ हमारा कोई सम्बन्ध नहीं कि आरम्भ में जीवन कहाँ से आया वा ज्ञान कहाँ से आया। हम इस बात को स्वीकार करके चलते हैं कि आरम्भ में जीवन था और कुछ थोड़ा सा ज्ञान भी था और वह शनैः २ उन्नति करके बढ़ गया। इससे स्पष्ट है कि विकासवाद, जिसका

इतना शोर सुना जाता है जिसका प्रभाव विश्वव्यापी है, जिसको हमारे अंगरेज़ी पढ़े लिखे बाबू भी आँख बन्द करके मानते चले जाते हैं, युक्ति के सामने सर्वथा नहीं ठहर सकता। विकासवाद इस प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता कि आरम्भ में ज्ञान कहाँ से आया। परन्तु हमारे पास इसका उत्तर है।

एक युक्ति दी जाती है कि परमात्मा ने मनुष्य को स्वाभाविक ज्ञान दिया है। इससे मनुष्य सारे काम कर सकता है, पुस्तकें भी लिख सकता है, अतः वेद को ईश्वरीय ज्ञान मानने की क्या आवश्यकता है ? परन्तु यह युक्ति तनिक भी विचार के आगे नहीं ठहर सकती। क्योंकि उस स्वाभाविक ज्ञान से मनुष्य कुछ भी नहीं कर सकता। मनुष्य का बच्चा जब तक अपने माता पिता से, बहन भाइयों से, समाज से तथा गुरुओं से कुछ सीखे न, उसे कुछ भी ज्ञान नहीं हो सकता। यदि मनुष्य के बच्चे को ऐसे स्थान पर रखा जाए जहाँ उस पर समाज का कोई भी प्रभाव न पड़ने दिया जाए और उसे कुछ भी सिखाया न जाए, जैसा कि कहा जाता है कि शायद अकबर ने ऐसा किया था, तो वह बच्चा न बोल सकेगा, न पढ़ सकेगा, न लिख सकेगा, खाने पीने तक का ढङ्ग उसे नहीं आता होगा। बहुत वर्षों की बात है कि एक लड़की भेड़िये की मांद से बरेली अनाथालय में लाई गई। वह मनुष्य की तरह से चलना नहीं जानती थी, खाना पीना आदि नहीं जानती थी और भेड़ियों की तरह ही काटने को दौड़ती थी। अनाथालय में रह कर उसने सब सीखा। इसी प्रकार से हम जानते हैं हमने अपने गुरुओं से, समाज से, अपने माता पिता आदि से सीखा, हमारे गुरुओं और माता पिता ने अपने गुरुओं और माता पिता आदि से सीखा, और उन्होंने अपने गुरुओं और माता पिता आदि से, इसी प्रकार से चलते २ यह परम्परा सृष्टि के आदि तक पहुँच जाती है। सृष्टि के आदि में जो मनुष्य थे उनको ज्ञान कहाँ से प्राप्त हुआ ? इसका उत्तर है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥योग०॥

अर्थात् उनका गुरु वही परमात्मा है जिस पर काल का भी कोई प्रभाव नहीं। वही सृष्टि के आदि में अपना ज्ञान देता है। अब प्रश्न यह है कि वेद को ही क्यों ईश्वरीय ज्ञान माना जाए, कुरान बाइबल आदि को क्यों न माना जाए ? एक मौलवी साहिब ने एक लेख में प्रश्न किया कि ईश्वरीय ज्ञान के लक्षण ये हैं कि अलहामी पुस्तक में मुलहिम का नाम होना चाहिये, अलहाम का दावा होना चाहिये, अलहाम का स्थान होना चाहिये और अलहाम का समय होना चाहिये। यदि वेद ईश्वरीय ज्ञान है तो वेद में यह लक्षण घटा कर दिखाओ। इसके उत्तर में मैंने यह लिखा था कि जिस पुस्तक में ये लक्षण हों वह पुस्तक आवश्यक नहीं कि ईश्वरीय ज्ञान हो। जैसे मैं एक पुस्तक लिख दूँ, उसमें यह दावा कर दूँ, कि यह अलहामी पुस्तक है, अलहाम वाचस्पति को २५ फर्वरी १६४६ प्रातः आठ बजे रामनगर लाहौर में हुआ। उस पुस्तक में आप के बताए सब लक्षण घट गए। अलहाम का दावा भी हो गया, मुलहिम का नाम भी आ गया, समय और स्थान भी आ गया। तो क्या आप उस पुस्तक को अलहामी मान लेंगे। इसके उत्तर में मौलवी साहिब ने लिखा कि आप ऐसी पुस्तक लिखकर देखें, उसके धुर्रे उड़ा दिए जाएंगे। मैंने लिखा बहुत अच्छा, आप ने स्वीकार किया कि जिस पुस्तक में आप के बताए सब लक्षण घटते हैं, उसके धुर्रे उड़ाए जा सकते हैं, वह अलहामी नहीं है, अर्थात् आप के बताए लक्षण ठीक नहीं हैं। मैंने लिखा कि लीजिये हम लक्षण बताते हैं, और वेद से ही बताते हैं:—

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रैरत नामधेयं दधानाः ।

यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः ॥ ऋ० १०।७१।१॥

अर्थ—हे बृहस्पते ! नाम रखने की शक्ति वालों ने आदि में जो वाणी का उच्चारण किया, उसमें वह ज्ञान है जो सारे दोषों से शून्य है और सब से बढ़ कर उत्तम है। वह ऋषियों के प्रेम से प्रकाशित हुआ, जो कि पहले गुफ़ा में रक्षित था।

१. आदि में उच्चारण—ऊपर बताया जा चुका है कि बिना सिखाये मनुष्य को कोई ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जैसे ऊपर भेड़िये की माँद में मिली हुई लड़की और बच्चों के उदाहरण से स्पष्ट कर दिया गया है। अपने अपने माता पिता और गुरुओं से सीखते सीखते यह परम्परा सृष्टि के आदि तक चलती है—उस समय

स:पूर्वेषामपि गुरुःकालेनानवच्छेदात् । योग० ।

सृष्टि के आदि में मनुष्यों का गुरु वह परमात्मा था, उसी ने ज्ञान दिया।

अन्य क़ुरान, बाईबल, जिन्द अवस्था आदि अलहाम का दावा करने वाली पुस्तकें कोई १३००, कोई २००० वा कोई ५००० वर्ष तक जाती हैं। सृष्टि के आदि में उनका ज्ञान आया, ऐसा उनके अनुयायी दावा ही नहीं करते।

२. वाणी का मूल—संसार की भाषायें ईश्वरीय ज्ञान से ही निकलनी चाहियें। यदि क़ुरान, बाईबल आदि वाणी के मूल होते तो उनसे पहले संसार में कोई भाषा नहीं होनी चाहिये थी, परन्तु यह बात सर्व-सम्मत है कि इनसे पहले संसार में अनेक भाषायें थीं। सृष्टि के आदि में कोई भाषा नहीं थी।

क़ुरान में सूरतुलबकर में लिखा है कि—"और आदम को सब नाम बता दिए" प्रश्न यह है कि वे नाम कहां हैं, इस विषय में क़ुरान में कुछ नहीं बताया। इसी प्रकार बाईबल के उत्पत्ति अध्याय में बताया है—

"पहले सारी पृथ्वी पर एक ही बोली थी और सब लोग एक ही सम्प्रदाय के थे।"

यहां यह प्रश्न है कि वह बोली कौन सी थी, और वह सम्प्रदाय कौन सा था, इस विषय में बाईबल चुप है।

इस प्रश्न का उत्तर मनु ने दिया कि—

सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक् पृथक् ।

वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे ॥ १।२१ ॥

अर्थात्—आदि में सब नाम आदि वेद के शब्दों से रखे गए थे। कई लोग इस बात को भूल कर जब वेद में एक नाम देखते हैं और उसी नाम का कोई राजा वा ऋषि सुनते हैं तो कह उठते हैं कि वेद में उसका नाम वा इतिहास है। बात वास्तविक यह है कि उसने वेद के शब्द से अपना नाम रख लिया। जैसा इस समय गणपति, वाचस्पति आदि शब्द वेद से लेकर लोग अपना नाम रख लेते हैं।

३. निर्दोष है—वह (ईश्वरीय)ज्ञान भ्रम, प्रमाद और विप्रलिप्सा आदि दोषों से रहित है। उसमें

किसी प्रकार का दोष नहीं होना चाहिये। जैसे कि कुरान में लिखा है कि सूर्य एक कीचड़ के गढ़े में डूब जाता है, खुदा के तख्त को फरिश्तों ने उठाया हुआ है। या बाईबल में लिखा हैं कि खुदा की रूह पानियों पर तैरती थी। उसने छः दिन में सृष्टि बना कर सातवें दिन आसमान पर आराम किया। आदम की पसली से हव्वा को बनाया, इत्यादि।

४. सबसे बढ़ कर उत्तम—वह धर्म की सारी आवश्यकताओं को पूरा करने वाला हो, लोक और परलोक का मार्ग बताने वाला हो। जैसे वेद में गृहस्थ धर्म के पालन के उपदेश हैं, आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध में आध्यात्मिक उपदेश हैं तथा रोगों की निवृत्ति के लिये उपदेश और औषध हैं। संसार की अन्य पुस्तकों में पूर्ण उपदेश नहीं हैं। कुरान में आत्मा के सम्बन्ध में केवल इतना लिखा है कि "रूह हुकमे रब्बी है।" इससे आत्मा का ज्ञान कुछ भी नहीं हो सकता। बाईबल में लिखा है कि ऊँट सूई के नाके में से गुज़र सकता है, परन्तु एक धनी मनुष्य स्वर्ग के द्वार में से नहीं गुज़र सकता। वेद कहता है कि गृहस्थ खूब धन कमाये, सौ हाथों से कमाये और हजार हाथों से बांटे।

"वयं स्याम पतयो रयीणाम्"। "शतहस्तं समाहर सहस्रहस्तं समाकिर"।

हम धनों के स्वामी बने। धन खूब कमाओ और परोपकार में लगा दो। वेद बताता है कि पिता पुत्र, भाई बहन, पति पत्नी आदि सब का क्या व्यवहार होना चाहिये, इत्यादि।

५. ऋषियों के प्रेम से प्रकाशित हुआ—पहले कल्प में यह चुनाव कर्मानुसार हुआ। मनमाना न था। लायलपुर में एक मौलवी सहिब ने मुझ पर प्रश्न किया था कि यदि अलहाम की दावेदार छः रूहें हो जाएं, तो परमात्मा कैसे चार वेदों का ज्ञान देगा। हमारे पास तो उत्तर है कि अलहाम केवल दावा करने से नहीं हो जाता है, अपितु जो चार सर्वश्रेष्ठ आत्मायें पहली सृष्टि से ऐसे संस्कार लेकर आई थीं, उनके प्रेम के कारण उनको वेद का ज्ञान दिया गया। परन्तु कुरान में या बाईबल में कहीं इसका उत्तर नहीं कि हज़रत मुहम्मद वा हज़रत ईसा को क्यों अलहाम दिया गया।

६. गुफ़ा में रक्षित था—सृष्टि के आदि में यह ज्ञान ऋषियों पर प्रकट होने से पूर्व गुफ़ा में रक्षित था, छिपा हुआ था, परदे में था अर्थात् संसार में कहीं भी नहीं था। वस्तुतः होना भी ऐसा ही चाहिये। यदि ईश्वरीय ज्ञान आने से पहले संसार में वह ज्ञात हो तो उस अलहाम के प्रकट होने का क्या लाभ। कुरान में कोई भी ऐसी नई बात नहीं जो कि संसार को अब से १४०० वर्ष पूर्व ज्ञात न हो। इसी प्रकार से बाईबल में कोई भी ऐसी बात नहीं है जिसका ज्ञान अब से २००० वर्ष पूर्व लोगों को न हो। वेद का ज्ञान क्योंकि सृष्टि के आदि में हुआ इसलिये उस से पूर्व वस्तुतः संसार में ज्ञान नहीं था।

ऊपर की पंक्तियों में पाठकों के सामने यह सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता है और परमात्मा सृष्टि के आदि में ज्ञान देता है। विकासवाद जोकि इस सिद्धान्त में बाधक कहा जाता है, युक्ति के आगे ठहर नहीं सकता और संसार में वेद के सिवाय और कोई ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये वेद के पठन पाठन और प्रचार से ही संसार का कल्याण हो सकता है।

वेद ईश्वर प्रोक्त हैं

(श्री पण्डित हरिदत्त जी वेदालंकार, उपाध्याय आर्यसिद्धान्त गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी)

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद समूचे वैदिक वाङ्मय के शीर्षस्थान में विराजमान हैं। ये चारों संहितायें वैदिक साहित्य का मूल स्रोत हैं। अज्ञान के संताप का हरण करने वाली कल्याणमयी ज्ञानरूपा जाह्नवी की निर्मल धारा इन्हीं संहिताओं से प्रादुर्भूत हुई है। पाश्चात्य विद्वान् भले ही वेदों को गड़रियों के गीत या बच्चों की बिलबिलाहट कहें किंतु इस विषय में वे सब एक-मत हैं कि विश्व के वाङ्मय में ये गीत प्राचीनतम हैं। प्रसिद्ध विद्वान् श्री मैक्समूलर कहा करते थे कि संसार के पुस्तकालय में सबसे प्राचीन पुस्तक ऋग्वेद है। सहस्रों शताब्दियों से भारतवर्ष वेदों के ज्ञान से अपने ऐहिक अभ्युदय एवं पारलौकिक निःश्रेयस की सिद्धि करता आया है। उसके ज्ञान, प्रेरणा, शक्ति, श्रद्धा, विश्वास का मूल वेद ही रहा है। भारतवर्ष के आर्यों की यह धारणा रही है कि वेद ईश्वर प्रोक्त हैं*सृष्टि के प्रारम्भ में परमात्मा ने मनुष्यों की शिक्षा, मार्ग प्रदर्शन और लोककल्याण के लिये वेदों का ज्ञान दिया। किन्तु वर्तमान समय में पाश्चात्य विद्वानों ने इस विषय में अनेक संदेह उत्पन्न कर दिये हैं। यहां पर इन संदेहों की विवेचना करते हुए, यह बताने का प्रयत्न किया जायगा कि वेद ईश्वर प्रोक्त हैं। वेद के ईश्वर प्रोक्त होने के संबन्ध में वेद की तथा परवर्ती साहित्य की साक्षी उपस्थित की जा सकती हैं। किन्तु हम उसे यहां विस्तार से उपस्थित नहीं करेंगे। क्यों कि वह साक्षी हमारे विश्वासों को पुष्ट कर सकती है किन्तु संदेहों का निराकरण नहीं कर सकती। इस प्रकार की साक्षी जन्दावस्ता, बाइबल व कुरानशरीफ आदि ग्रन्थों में भी विद्यमान है। अतः यहां वेद की अपौरुषेयता के आक्षेपों पर मुख्यरूप से विचार किया जायगा और अन्त में गौण रूप से पौरुषेयता के पोषक प्रमाणों का उल्लेख होगा।

वेदों के ईश्वरीय होने के संबन्ध में सबसे जबर्दस्त आक्षेप विकासवाद के समर्थकों की ओर से है। विकासवादी प्रकृतिवादियों का यह कथन है कि वर्त्तमान काल में पाये जाने वाले मनुष्य आदि प्राणी एक लम्बी चौड़ी विकास की प्रक्रिया का परिणाम हैं। लाखों वर्ष पहले एक कोष्ठ वाले अमीबा का जन्म हुआ। इसी से क्रमशः अनेक कोष्ठों वाले जीव विकसित हुए। उन्हीं जीवों का चरम विकास हमें मनुष्य के रूप में दिखाई देता है। इसी विकास के साथ साथ मानसिक विकास हुआ। मनुष्य ने शनैः शनैः अपनी बुद्धि का विकास किया। प्राकृतिक घटनाओं पर विचार किया। उनसे शिक्षा प्राप्त की तथा अपनी ज्ञान वृद्धि की। मनुष्य शुरू में बिल्कुल जंगली जानवरों की तरह रहता था। उसकी आजीविका का मुख्य साधन शिकार था। इसके बाद वह क्रमशः पशुपालक, कृषक और अन्त में यन्त्रों का उपयोग करके सभ्य बना। उसका भौतिक उत्कर्ष और मानसिक उन्नति साथ साथ होती रही रहीं। इन दोनों के लिये किसी विशेष प्रकार के ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। अतः वेद या बाइबल आदि किसी भी ईश्वरीय ज्ञान को मानना निरर्थक है।

विकासवाद के सिद्धान्त पर प्रबल आक्षेप किये गये हैं। कई वैज्ञानिकों ने इस सिद्धान्त को

---

*बृहदारण्यक उपनिषद् २।४।१०, सांख्य दर्शन ५।४१, वेदान्त दर्शन २।१।२७, महाभारत शान्ति-पर्व २३३।२४

उपर्युक्त रूप में स्वीकार करने से इन्कार किया है। इस बहस में पड़ना अप्रासांगिक है। इस विषय इतना कहना पर्याप्त है कि विकासवाद के सिद्धान्त को भौतिक क्षेत्र में भले ही सत्य माना जाय किंतु मानसिक क्षेत्र में उसे सत्य नहीं स्वीकार किया जा सकता। विकासवाद के प्रबल समर्थकों ने इस तथ्य को स्पष्ट रूप से माना है कि मानसिक क्षेत्र में ज्ञान की क्रमशः उत्तरोत्तर वृद्धि नहीं होती। डाक्टर वालेस ने श्री डार्विन के साथ ही विकासवाद के सिद्धान्त को प्रतिष्ठापित किया था। उन्होंने 'सामाजिक परिस्थिति व नैतिक उन्नति' (सोशल एनवायरनमैंट एण्ड मारल प्रोग्रेस) नामक निबन्ध में बौद्धिक विकास के पहलू पर विस्तार से विचार किया है। वे मिश्र, यूनान व मेसोपोटेमिया की प्राचीन कलाओं को आधुनिक कलाओं से हीन नहीं मानते। उन्होंने लिखा है कि भूतकाल का इतिहास ऐसी पर्याप्त साक्षियां देता है कि उस समय के धार्मिक विचार और सदाचार आजकल के धार्मिक विचारों और सदाचार से कम न थे। धार्मिक सुधारकों के उदाहरणों से भी यह बात पुष्ट होती है। सुकरात, अफलातून, कन्फ्यूशस, बुद्ध, होमर और इनसे भी प्राचीन महाभारत का कर्त्ता व्यास, ये सब ऐसी मानसिक तथा आत्मिक उच्चता की साक्षी देते हैं जो सर्वथा हमारे जैसी हैं (पृ० ८)। इसी प्रकार के अनेक तथ्यों पर विचार करने में बाद वालेस ने यह परिणाम निकाला है कि—'अतः इस बात का कोई प्रमाण नहीं कि बौद्धिक शक्ति निरन्तर उन्नत होती जाती है (वह पुस्तक पृ० २६)। श्री बैंजमिन किड ने सामाजिक विकास (सोशल इवोल्यूशन) नामक पुस्तक में लिखा है कि विकास का सिद्धान्त मानसिक क्षेत्र में लागू नहीं होता। मानसिक दृष्टि से, हम यूनानी आदि प्राचीन जातियों से बढ़कर नहीं हैं, बल्कि कम हैं।

यदि हम केवल ईश्वर विषयक विचारों के विकास को देखें तो हमें यह प्रतीत होगा कि इस क्षेत्र में विकास के स्थान पर ह्रास का नियम दृष्टिगोचर होता है। वैदिक संहिताओं में ईश्वर के विमल स्वरूप का वर्णन है (ऋ० १०।१२।१—१०, अथर्व ४।१६।१—६)। उस के एकत्व, सर्वव्यापित्व, सर्वज्ञता, अनादित्व आदि गुणों का बड़ा विशद प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर के सम्बन्ध में, मानवबुद्धि आज तक आदर्श रूप से जिन बातों का विचार कर सकी है, वे सब वैदिक संहिताओं में पायी जाती हैं। किन्तु वैदिक धर्म के बाद के अन्य धर्मों के ईश्वर संबन्धी विचारों का अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि विकास से उन विचारों में उत्कृष्टता आने के स्थान पर भ्रष्टता आती गयी है। ईश्वर के उदात्त विचारों की दुर्गति जन्दावस्ता, बाइबल और कुरान शरीफ में उत्तरोत्तर बढ़ती गयी है। इस्लाम विश्व के छः महान् धर्मों—वैदिक धर्म, पारसीमत, यहूदी धर्म, ईसाइयत और इस्लाम में अर्वाचीनतम है। मुसलमान इसे स्वयं स्वीकार करते हैं। वे अपने पैग़म्बर को अन्तिम पैग़म्बर (खातिमुल मुरसलीम) कहते हैं। विकासवाद की दृष्टि से उनके धर्म में ईश्वर का विचार सबसे ऊँचा होना चाहिये क्योंकि वह सब से बाद का है किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। कुरान शरीफ में, ईश्वर एक स्वेच्छाचारी सम्राट् प्रतीत होता है। वह जिसे चाहता है, उसे बुरे मार्ग की ओर ले जाता है (सूर ६), काफिरों को शाप देता है, उनसे युद्ध करता है (सूर ४६), शपथें खाता है (सूर ३७, ४२, ७६, ६१)। संभवतः उन्हीं सब तथ्यों को दृष्टि में रख कर डाक्टर फ्लिण्ट ने लिखा है—'यद्यपि इस्लाम सबसे पीछे प्रकट हुआ है, तथापि वह सब से कम उन्नत और सबसे कम परिपक्व है। उसने ईश्वर का विचार दूसरों से ग्रहण किया है। इस विचार को उन्नत एवं उत्कृष्ट बनाने के स्थान पर इस्लाम ने उसे दूषित और अस्तव्यस्त

कर डाला है, (थीइज्म पृ० ४४) ।

महाकवि अकबर ने ईश्वर के संबन्ध में एक बड़ी मनोरंजक उक्ति लिखी है—

सदियों तक फलसफे की चुनाँ औ चुनीं रही।

मगर खुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही ॥

इस रोचक उक्ति में एक गम्भीर दार्शनिक सत्य छिपा पड़ा है। ईश्वर के संबन्ध में, मनुष्य पूरा प्रयत्न करने के बाद आज उतना ही जानता है जितना आज से हज़ारों वर्ष पुराने वैदिक परम्पराओं के ज्ञाता ऋषि जानते थे। मनुष्य ने अपनी बुद्धि द्वारा अनेक अदृष्टपूर्व और अश्रुत पूर्व वस्तुओं का आविष्कार किया है। आकाश में सैंकड़ों मील की गति से उड़ने वाले वायुयान, तूफ़ानों की परवाह न करते हुए समुद्र की दुस्तर जलराशि को पार करने वाले जलपोत, स्थल पर विद्युद् वेग से भागने वाली रेलगाड़ियाँ और मोटरें मनुष्य की आविष्कारिणी प्रतिभा के चमत्कार हैं। आकाशवाणी (रेडियो), दूरदर्शन (टेलीविज़न) आदि से उसने देश और काल के व्यवधान का अन्त कर दिया है। कल्पनातीत परमाणु बम का आविष्कार करके, मनुष्य ने एक नयी दानवी शक्ति को जन्म दिया है। अपनी बौद्धिक शक्ति से, उसने अपनी सुखसमृद्धि तथा ध्वंस के साधनों को पिछली एक शती की अपेक्षा आज सैंकड़ों गुना अधिक बढ़ा लिया है। किन्तु ईश्वर के संबन्ध में वह एक भी नयी बात ईजाद नहीं कर सका। उसके संबन्ध में, वह हमारे ज्ञान भण्डार में अणुमात्र की भी वृद्धि नहीं कर पाया। महाकवि अकबर का यह कहना सोलहों आना सही है कि खुदा की बात जहाँ थी, वहीं रही है। अकबर ने यह बात व्यंग्य में कही है किन्तु जिन विद्वानों ने विविध धर्मों का गम्भीर अध्ययन किया है, वे भी इसी परिणाम पर पहुँचे हैं कि मानवजाति के विकास के साथ, उसके ईश्वर संबन्धी विचारों में कोई वृद्धि नहीं हुई है। वेदों की शिक्षा पाकर, प्राचीन आर्य जिन शब्दों में ईश्वर की स्तुति करते थे, आज तक हम उन्हीं शब्दों में भगवान् से प्रार्थना करते हैं। अन्य धर्मों ने भी परमात्मा के विशेषणों में कोई वृद्धि नहीं की। हज़ारों वर्ष पहले ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र, अनादि, अनन्त, अजन्मा, न्यायकारी आदि विशेषणों से युक्त बताया जाता था तो आज भी उसका यही स्वरूप है। मनुष्य ने भौतिक क्षेत्र में इतने अधिक चामत्कारिक आविष्कार किये हैं, वह इस क्षेत्र में कोई आविष्कार क्यों नहीं कर सका ?

सुप्रसिद्ध फ्रेंच दार्शनिक देकार्त्त (१५९६—१६५०) ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है। वह कहता है—ईश्वर संबन्धी ज्ञान के बारे में मैं जितना अधिक सोचता हूँ, उतना ही मुझे यह निश्चय हो जाता है कि यह विचार मेरे मन से उत्पन्न नहीं हुआ। परमात्मा अनन्त है, मेरा आत्मा सान्त है। परमेश्वर स्वतन्त्र है, मेरा आत्मा परतन्त्र है। अतः यह स्पष्ट है कि मैं इस ज्ञान का उत्पादक नहीं हो सकता। जब हम इस तथ्य पर विचार करते हैं कि मनुष्य सहस्रों वर्षों में, इस ज्ञान में अणुमात्र की वृद्धि नहीं कर सका तो हमें देकार्त्त की इस स्थापना को स्वीकार करना पड़ता है कि ईश्वर संबन्धी विचार मनुष्य स्वतः उत्पन्न नहीं कर सकता। यदि मनुष्य इन विचारों को स्वतः उत्पन्न करने में असमर्थ है तो मानवजाति में इन विचारों का उदय किस प्रकार हुआ ?

इसके उत्तर में प्रायः सभी धर्म सहमत हैं। वे कहते हैं कि परमात्मा ने मनुष्य के हृदय पर, इन विचारों की छाप लगायी है। भारतीय अनुश्रुति में यह कहा गया है कि अग्नि वायु आदित्य और अंगिरा

को परमात्मा ने चारों वेदों का ज्ञान दिया। यहूदियों का विश्वास है कि हज़रत मूसा ने पंजनामा ईश्वरीय प्रेरणा से लिखा। मुसलमान यह मानते हैं कि रमज़ान के महीने में कुरानशरीफ को सबसे ऊँचे आसमान से उतार कर, सबसे निचले आसमान पर लाया गया था। जिब्राइल फरिश्ता आवश्यकतानुसार हज़रत मुहम्मद को इस आसमान से ईश्वरीय ज्ञान पहुँचाते रहे। ईश्वरीय ज्ञान की आवश्यकता मानते हुए भी प्रत्येक धर्म अपने धर्मशास्त्र को ईश्वरीय कहता है। अतः यहां पर यह विचार करना आवश्यक हो जाता है कि वेद को ही ईश्वरप्रोक्त क्यों माना जाय ? अन्य ग्रन्थों को ईश्वरीय क्यों न माना जाय ?

ईश्वरीय ज्ञान के संबन्ध में हमें कुछ कसौटियां निश्चित करनी चाहियें। इन कसौटियों पर कसने से खरे खोटे का ज्ञान हो जायगा। अपने मुँह मियां मिट्ठू बनना बड़ा आसान है। प्रत्येक व्यक्ति अपने धर्म को श्रेष्ठ और दूसरे के धर्म को हेय कहता है। उसकी सम्मति को आँख मूँद कर स्वीकार नहीं किया जा सकता। इस सम्मति की जाँच करने के लिये कुछ निर्धारक मापदण्डों की आवश्यकता है। ईश्वरीय ज्ञान के संबन्ध में निम्न कसौटियां हैं—

(१) ज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ तथा प्राचीनतम काल में होना।

(२) ज्ञान का त्रिकाल अबाधित एवं सनातन होना।

(३) ज्ञान का विज्ञान सम्मत होना।

जो पुस्तक इन सब कसौटियों पर खरी उतरे केवल उसे ही ईश्वरीय ज्ञान माना जा सकता है।

पहली कसौटी—

ज्ञान का सृष्टि के प्रारम्भ में होना

ऊपर यह दिखाया जा चुका है कि बौद्धिक एवं मानसिक क्षेत्र में विकासवाद का सिद्धांत लागू नहीं होता। यह भी बताया जा चुका है कि मनुष्य ने ईश्वर के संबन्ध में एक भी नया तथ्य नहीं खोजा है। मनुष्य को यह ज्ञान ईश्वर से ही प्राप्त हुआ है। ईश्वर से इस ज्ञान के प्राप्त होने में यह एक आवश्यक शर्त है कि यह ज्ञान सृष्टि के प्रारम्भ में ही प्राप्त होना चाहिये। ईश्वरीय ज्ञान का मुख्य उद्देश्य मनुष्य को विशेष रूप से ईश्वर के संबन्ध में तथा सामान्य रूप से अन्य सब बातों का ज्ञान कराना है। यह ज्ञान सृष्टि के शुरू में ही दिया जाना चाहिये। यदि सृष्टि पैदा होने के सैंकड़ों वर्षों के बाद यह ज्ञान दिया जाता है तो परमात्मा पर पक्षपाती और अन्यायी होने का दोषारोपण किया जायगा। ईश्वरीय ज्ञान दिये जाने से पहले होने वाले लोगों ने क्या अपराध किया है, जो उन्हें परमात्मा की कृपा से वंचित रखा जाय। कुछ लोगों को यह ज्ञान देना तथा दूसरों को इस ज्ञान से वंचित रखना अनुचित पक्षपात और घोर अन्याय का सूचक है। परमात्मा कभी अन्यायी और पक्षपाती नहीं हो सकता। फिर, उस ज्ञान की स्वाभाविक आवश्यकता सृष्टि के प्रारम्भ में ही है। बालक अपने माता पिता गुरु तथा चारों ओर की परिस्थिति से शिक्षा ग्रहण करके समझदार बनता है। इनमें गुरु या शिक्षा देने वाले का विशेष महत्त्व है। ऐसे अनेक परीक्षण किये गये हैं कि बच्चों को जन्म के बाद जंगल में रख दिया जाय। कोई शिक्षादाता न हो। ऐसे बच्चे अपने मस्तिष्क से बौद्धिक विकास नहीं कर सके। इसमें कोई सन्देह नहीं कि बच्चे के मस्तिष्क में वह शक्ति अवश्य विद्यमान थी किन्तु उस शक्ति को विकसित कराने वाला कोई गुरु

नहीं था। अतः वह शक्ति दबी पड़ी रह गयी। असीरिया के राजा असुरबैनीयाल, पवित्र रोमन साम्राज्य के राजा फ्रेडरिक द्वितीय (११९४-१२५०) जेम्स चतुर्थ (१४७३—१५१२) अकबर (१५४२-१६०५) ने नवजात शिशुओं को पृथक् मकानों में रखवाया, उनका पालन-पोषण करने वाली दाइयां उनको किसी प्रकार की शिक्षा नहीं देती थी। इस का परिणाम यह हुआ कि वे बच्चे बड़े होकर बहरे, गूँगे ही रहे। बिना शिक्षा के ज्ञान असंभव है। सृष्टि के शुरू में इस प्रकार का ज्ञान अवश्य होना चाहिये।

यदि यह माना जाय कि परमात्मा सृष्टि शुरू होने के बाद समय समय पर ज्ञान भेजता रहता है तो इसमें अनेक दोष उत्पन्न होते हैं। पहला दोष तो यह है कि इससे ईश्वरीय ज्ञान की अपूर्णता सिद्ध होती है। परमात्मा सर्वज्ञ तथा पूर्ण है। उसके सामने मानवजाति का सारा भविष्य हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष है। वह जानता है कि किस समय मनुष्यों को क्या आवश्यकता पड़ेगी। उन सब आवश्यकताओं को ध्यान में रख कर वह सृष्टि के शुरू में मनुष्यों को ज्ञान देता है। उस ज्ञान की बार बार पुनरावृत्ति परमात्मा की सर्वज्ञता पर कलंक लगाने वाली है।

इस कसौटी पर यदि विभिन्न धर्मों की पुस्तकों को कस कर देखा जाय तो यह प्रतीत होगा कि वेद ही ईश्वर प्रोक्त हैं। काल क्रम की दृष्टि से वैदिक संहितायें प्राचीनतम हैं। हज़रत मुहम्मद (५७०–६३२ई०) ने सातवीं शती की दूसरी दशी में इस्लाम का प्रचार प्रारम्भ किया। इसी समय कुरान शरीफ की रचना हुई। हज़रत ईसामसीह का धर्म १९४६ वर्ष पुराना है और हज़रत मूसा ने १५७१ ई० पू० में जन्म ग्रहण किया था। भारतीय अनुश्रुति के अनुसार वेदों का आविर्भाव सृष्टि के प्रारम्भ में माना जाता है। यह संभव है कि इस उक्ति पर कोई अविश्वास करे किन्तु वेद में श्रद्धा न रखनेवाले पाश्चात्य विद्वानों को भी यह मानना पड़ा है कि वेदों से प्राचीनतर कोई पुस्तक नहीं है। मैक्समूलर की सम्मति का ऊपर उल्लेख किया जा चुका है। उसने लिखा है कि ऐसी कोई पुस्तक नहीं है, जो हमें मानवीय इतिहास में वेदों से प्राचीनतर समय की ओर पहुँचावे।

प्रायः यह तर्क उपस्थित किया जाता है कि समय समय पर ईश्वर की ओर से विकृत धार्मिक दशा का संशोधन करने के लिये महापुरुषों का आविर्भाव होता है। ईसाई यह मानते हैं कि ऐसे महापुरुषों की परम्परा ईसा के साथ समाप्त हो गयी और मुसलमानों का मत है कि इस शृंखला की अन्तिम कड़ी हज़रत मुहम्मद थे। यदि हज़रत ईसा या हज़रत मुहम्मद के समय तक इलहाम होते रहे तो उन के बाद क्यों नहीं हुए? धर्म की दशा इन महात्माओं के आविर्भाव के बाद की शतियों में अत्यधिक शोचनीय एवं जघन्य रही है। ईसाई कहलाने वाले राष्ट्र आज ईसा के सिद्धान्तों के सर्वथा प्रतिकूल आचरण कर रहे हैं। इस समय कोई नया आत्मा क्यों नहीं अवतीर्ण होता? यदि अन्तिम इलहाम हज़रत मुहम्मद को ही हुआ और उसके बाद किसी इलहाम की आवश्यकता नहीं रही तो ऐसा इलहाम सृष्टि के आदि में सर्वज्ञ परमात्मा की ओर से भी हो सकता था। बार बार इलहाम मानने में न केवल अनवस्था दोष है अपितु ईश्वर के स्वरूप पर अपूर्णता, असर्वज्ञता आदि के लांछन लगते हैं। अतः ईश्वरीय ज्ञान सृष्टि के शुरू में होना चाहिये। बाइबल आदि अन्य धर्मग्रन्थ सृष्टि प्रारम्भ होने के बहुत बाद में हुए। वे ईश्वरीय ज्ञान नहीं हो सकते। केवल वेद ही इस कसौटी पर खरे उतरते हैं कि वे मानव जाति के उषाकाल में आविर्भूत हुए। अतः वेद ही ईश्वरप्रोक्त हैं।

दूसरी कसौटी—

ज्ञान का त्रिकालाबाधित तथा सनातन होना

ईश्वरीय ज्ञान की दूसरी कसौटी यह है कि उसमें सनातन सत्यों का उल्लेख होना चाहिये। किसी देश विशेष का इतिहास या भूगोल नहीं होना चाहिये। ईश्वर का ज्ञान भूमण्डल के सब प्राणियों के लिये है। वह सृष्टि के आदि में होता है। अतः उसमें स्वाभाविक रूप से भूगोल तथा इतिहास का अभाव होना चाहिये।

बाइबल के पुराने अहदनामे में यहूदी जाति के प्राचीन इतिहास का ही विस्तार से उल्लेख है। उसमें आदम के बाद होने वाले पैग़म्बरों की वंशावलियां हैं तथा उन में से महत्वपूर्ण व्यक्तियों की जीवन कथा के महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन है। कुरान शरीफ में भी यही कथायें हैं। हज़रत मुहम्मद के विरोधी उन पर यह आरोप लगाते थे कि वे केवल किस्से सुनाकर लोगों का मनोरंजन करते हैं। उनके किस्सों से अधिक रोचक दूसरे किस्से हैं। अतः इन ग्रन्थों में अनित्य इतिहास होने से इनको ईश्वरप्रोक्त नहीं माना जा सकता।

कहा जाता है, वेद में सिन्धु, गंगा, यमुना, सरस्वती, शतद्रु, परुष्णी, असिक्नी वितस्ता आदि २५ नदियों के नाम हैं। गन्धार, पुरु, तुर्वशु, यदु, अनु द्रुह्यु आदि जातियों का उल्लेख है। इस संबन्ध में एक पृथक निबन्ध में विस्तार से विचार किया गया है। यहां इस विषय में इतना ही कहना पर्याप्त है कि जिस प्रकार वर्त्तमान समय में अंग्रेज, डच, जर्मन जातियों ने अमेरिका आस्ट्रेलिया आदि की बस्तियां बसाते हुए, नयी बस्तियों के नाम अपनी मातृभूमि के शहरों के नामों के अनुसार रखे, उसी प्रकार प्राचीन काल में आर्यों ने अपने सब नाम वैदिक शब्दों के आधार पर ही रखे। यही बात वेदान्त भाष्य (१।३।२८) में दोहरायी गयी है। अतः वेदों में इतिहास या भूगोल का निर्देश समझना भ्रमपूर्ण है। वेदों में इस प्रकार का कोई इतिहास या भूगोल नहीं है।

तीसरी कसौटी—

ज्ञान का विज्ञान सम्मत होना

जो ईश्वर प्रोक्त ज्ञान होगा, वह विज्ञान तथा पदार्थ विद्या के सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल होगा। परमात्मा सर्वज्ञ तथा पूर्ण है, उसका ज्ञान अधूरा और दोषयुक्त कैसे हो सकता है? यदि वह ज्ञान विज्ञान विरोधी है तो वह ईश्वरीय नहीं हो सकता। ईश्वरीय ज्ञान की इस कसौटी पर भी वेद ही खरे उतरते हैं।

आजकल विद्यालय की प्राथमिक कक्षाओं में अध्ययन करने वाला विद्यार्थी भी यह जानता है कि पृथिवी सूर्य के चारों ओर घूमती है किन्तु मध्यकाल के सभी ईसाई १४वीं १५वीं शती तक यह मानते थे कि बाइबल के अनुसार सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूमता है। पृथिवी सारे विश्व का केन्द्र है। जिन वैज्ञानिकों ने सर्व प्रथम जनता को यह बताना चाहा कि पृथिवी सूर्य का परिभ्रमण करती है, उन्हें भीषण यातनायें सहनी पड़ीं। ब्रूनो (१५४६—१६००) को इस प्रकार का सिद्धान्त प्रचारित करने के अपराध में ज़िन्दा जलवाया गया। गैलेलियो (१५६४—१६४२) को इसी विश्वास के कारण अपनी वृद्धावस्था बन्दीगृह में काटनी पड़ी। बाइबल के अनुसार आज से छः हज़ार वर्ष पूर्व सृष्ट्युत्पत्ति हुई

है। विज्ञान यह मानता है कि इस पृथिवी की उत्पत्ति हुए करोड़ों वर्ष बीत चुके हैं। यदि वास्तव में बाइबल ईश्वरीय ज्ञान है तो उसमें ये विज्ञान विरोधी बातें क्यों पायी जाती हैं?

यही दशा कुरान शरीफ़ की है। एक सूरमें सूर्य को कीचड़ के समुद्र में डूबने वाला बताया गया है। सूर्य न तो कीचड़ के समुद्र में डूबता है और न किसी क्षीर सागर में। पृथिवी को अपने अक्ष पर परिभ्रमण करने से सूर्य उदय और अस्त होता हुआ प्रतीत होता है। इसी तरह एक जगह यह बताया गया है कि पहाड़ पृथिवी पर इस लिये रखे गये हैं कि पृथिवी हिल डुल न सके किन्तु स्थिर रहे। पहाड़ों को पेपरवेट का उद्देश्य पूरा करने वाला समझना विज्ञान के प्रतिकूल है।

वेद में इस प्रकार की एक भी विज्ञान विरोधी बात नहीं है। वेद में कहा गया है कि परमात्मा ने विश्व को संचालित करने के नियम बनाये। वेद में इन्हीं नियमों का बीज रूप से निदर्शन है। उदाहरणार्थ, पृथिवी के सूर्य के चारों ओर भ्रमण का उल्लेख यजुर्वेद ३।६ ऋग्वेद (८।२।१०।१) में है। अतः ईश्वरीय ज्ञान के विज्ञान सम्मत होने की कसौटी पर वेद ही खरे उतरते हैं।

हमारे देश में यह एक पौराणिक परिपाटी है कि भागीरथी के मुहाने गंगासागर से उसके मूल गंगोत्तरी तक तीर्थ यात्रा की जाती है। यदि हम विभिन्न धर्मों की भागीरथी के मूलस्रोत की यात्रा करें तो हम यह देखेंगे कि इस्लाम की धारा ईसाइयत से निकली है, ईसाइयत यहूदी धर्म व बौद्धधर्म की शाखा है, बौद्धधर्म प्राचीन वैदिक धर्म से प्रादुर्भूत हुआ है और यहूदी धर्म पारसी धर्म से। पारसी धर्म का मूल वैदिक धर्म है। इन सब धर्मों के ईश्वरीय माने जाने वाले ग्रन्थों का अन्तिम स्रोत वेद है यह प्रश्न हो सकता है कि वेद का स्रोत क्या है? चारों ओर हिमाच्छादित शिखरों तथा हिमानियों से आवृत प्रदेश में पहुंच कर जब कोई यात्री यह प्रश्न करता है कि गंगोत्तरी की यह धारा कहां से प्रवाहित हो रही है तो उसे यही उत्तर दिया जाता है कि आकाश से गिरने वाले हिम से ही इस जान्हवी का उद्भव हुआ है। इसी प्रकार वेद का उद्भव भी सृष्टि के प्रारम्भ में ईश्वरीय वाणी से हुआ है। उसका मूल अन्यत्र नहीं खोजा जा सकता है। परमपिता परमात्मा ही उसके आदि मूल हैं। महर्षि पतंजलि ने योगदर्शन में इसी महान् सत्य को अभिव्यक्त करते हुए कहा है—

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।१।१।२६॥

वेदों में इतिहास नहीं है

(ले०—श्री पं० रामनाथ जी वेदालंकार, वेदोपाध्याय गुरुकुल कांगड़ी)

वेदों में इतिहास नहीं है इस बात को हम प्रमाणित करने चले हैं। आइये पहले आप को एक किस्सा सुनायें। एक बार की बात है, किसी स्थान पर वेद के ऐतिहासिक सम्प्रदाय वालों का एक सम्मेलन होने वाला था। दूर दूर से ऐतिहासिक विद्वान् निमन्त्रित किये गये थे। सम्मेलन की कार्यवाही हो रही थी, संयोगवश हम भी वहाँ जा पहुँचे। बड़े बड़े विद्वानों ने अपने २ निबन्ध पढ़े। किसी ने वेदों में प्राचीन आर्य जाति के ऋषियों का इतिहास दिखाया, तो किसी ने राजाओं का इतिहास सुनाया। किसी ने आर्य और दस्युओं की लड़ाई का इतिहास प्रदर्शित किया, तो किसी ने नदी, नाले, पर्वत, जंगलों का इतिहास दिखाया। सब लोग बड़े ध्यान से सुन रहे थे और मन ही मन वक्ताओं की तारीफ़ कर रहे थे। कुछ लोग प्रकट में भी कह उठते थे—वाह, वाह! क्या

कहना है ! वेद को तो इन्होंने समझा है ! इधर हमारी यह हालत थी कि ज्यों-ज्यों हम विद्वानों के गवेषणा पूर्ण निबन्ध सुनते जाते थे त्यों-त्यों हमारे अन्दर यह इच्छा जागृति होती जाती थी कि हम भी कुछ बोलें । भगवान् को मनाने लगे, हे भगवान् ! हमें भी बोलने का मौका दिलाना, नहीं तो मन की मन में ही रह जायगी । इतने में ही जब सब बोलने वालों की सूची पूरी हो गई तब सभापति जी ने उठकर कहा—यदि कोई और सज्जन बोलना चाहें तो आ सकते हैं । हम तो इस प्रतीक्षा में ही थे । चट उठ खड़े हुए और कहना शुरू किया—भाइयो ! अभी तक आपने वेद में से भूतकाल के ही इतिहास सुने हैं, हम आपको वेद में से आधुनिक इतिहास सुनाना चाहते हैं । देखिये, बिहार की भूकम्प-पीड़ित जनता बिहाररत्न बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से कह रही है :—

त्वं राजेन्द्र ये च देवा रक्षा नॄन् पाहि-असुर त्वमस्मान् ।

त्वं सत्पतिर्मघवा नस्तरुत्रस्त्वं सत्यो वसवानः सहोदाः ॥ ऋग् १।१७४।१ ॥

(राजेन्द्र) हे बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी ! (त्वम्) आप (ये च देवाः) तथा अन्य जो देवपुरुष [महात्मा गान्धी जी, पं० जवाहरलाल जी आदि] हैं वे सब मिल कर (नॄन्) [भूकम्प-पीड़ित] लोगों की (रक्ष) रक्षा कीजिये । (असु-र) हे दुखियों को जीवन देने वाले राजेन्द्रप्रसाद जी ! (त्वम् अस्मान् पाहि) आप हमारा पालन कीजिये । (त्वं सत्पतिः) आप ही हमारे सच्चे मालिक हैं (मघवा) आप बहुत धनवान् हैं [क्योंकि स्थान २ से आपको बिहार की भूकम्प-पीड़ित जनता के लिये थैलियाँ भेजी गई हैं] (नः तरुत्रः) आप ही हमें इस कष्ट से तराने वाले हैं, (त्वं सत्यः) आप सच्चे हैं (वसवानः) [लाखों नंगे भूकम्प-पीड़ितों का] तन ढकने वाले हैं, और (सहोदाः) उन्हें बल देने वाले हैं ।

मेरे इस इतिहास को सुनकर कुछ तो हंसने लगे, मानो हँसी में ही मेरी बात को उड़ा देना चाहते हों, कुछ मुझ पर बुरी तरह प्रकुपित होने लगे । सभापति जी भी कहने लगे—आप बैठ जाइये बैठ जाइये, आगे बोलने की आप को इजाज़त नहीं है, ऐतिहासिक लोग बोल उठे यह आर्यसमाजी लगता है, हमारा विरोधी है, हमारे बने-बनाये इतिहास के महल को गिराना चाहता है, यह हमारी मज़ाक बनाने आया है, इसका बहिष्कार करो, इसे भगाओ यहाँ से आदि आदि । मैंने हाथ जोड़ कर कहा - भाइयो ! मेरा क्या कसूर है, मैं तो आप के ही पक्ष की पुष्टि कर रहा हूँ । मैंने तो आपही की तरह वेद के एक छिपे हुए ऐतिहासिक स्थल को स्पष्ट किया है । वे सबके सब एक साथ बोल उठे—अरे मूर्ख, क्या तू नहीं जानता, वेद तो आज से सहस्रों वर्ष पुराने हैं, उनमें आज की घटनाओं का ज़िक्र कैसे हो सकता है ? हम तो प्राचीन घटनाओं को वेद में दिखाते हैं, हमारी-तेरी बराबरी कैसी ! तू अपनी व्याख्या को हमारी व्याख्याओं के सदृश बताकर हमारा भी उपहास करना चाहता है ! जो ऋग्वेद का मन्त्र तूने बोला है उसमें तो स्पष्ट ही 'राजेन्द्र' पद से राजा का ग्रहण है । प्रजाजन अपने राजा से कह रहे हैं कि आप हम सबका रक्षण और पालन कीजिये । यहाँ बाबू राजेन्द्रप्रसाद कहाँ से आ टपके !

मैंने कहा, अरे भाई ! मेरी इस व्याख्या पर तो तुम हंसते हो, लेकिन असल में देखा जाये तो वेद की जितनी ऐतिहासिक व्याख्यायें हैं वे सब ही इसी कोटि की ठहरेंगी । तुम भी तो यही करते हो कि जहाँ कहीं वेद में ऐतिहासिक नाम देखा झट उसकी ऐतिहासिक व्याख्या कर डाली । यह तो

तुम कहते हो कि वेद बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से सहस्रों वर्ष पहले के हैं इसलिये उनमें उनका वर्णन नहीं हो सकता, लेकिन इसी युक्ति को तुम अपनी ऐतिहासिक व्याख्याओं में भी लागू क्यों नहीं करते ! जैसे वेद बाबू राजेन्द्रप्रसाद जी से सहस्रों वर्ष पहले के हैं वैसे ही वे ऋषि विश्वामित्र, अत्रि, जमदग्नि भृगु, अंगिरा आदि से भी सहस्रों वर्ष पुराने हैं। इसलिये उनमें राजेन्द्र बाबू की तरह ही इन ऋषियों का भी वर्णन नहीं हो सकता। जैसे यहाँ नाम-साम्य के होते हुए भी 'राजेन्द्र' पद से राजेन्द्र बाबू से अतिरिक्त कोई और ही अर्थ अभिप्रेत है वैसे ही जिन मन्त्रों में विश्वामित्र आदि नाम आते हैं वहाँ भी विश्वामित्र आदि पदों से उन-उन ऐतिहासिक ऋषि-मुनियों का ग्रहण अभिप्रेत नहीं किन्तु दूसरा ही कुछ अर्थ अभिप्रेत है। आज क्योंकि दुर्भाग्यवश प्राचीन सब इतिहास ब्यौरेवार उपलब्ध नहीं है इसलिये लोग भ्रमवश यह समझ बैठते हैं कि विश्वामित्र प्रभृति ऋषि वेदों से पहले के हैं और वेदों में उन्हीं का वर्णन है। कल्पना करिये, आज से बहुत अरसा ५०—६० शताब्दी या इससे भी अधिक बीत जाने पर बहुत सी ऐतिहासिक-परम्परा जो आजकल उपलब्ध भी है लुप्त हो जाती है। तिथि क्रम-रहित कुछ मुख्य २ व्यक्तियों की घटनायें कहानी के रूप में अवशिष्ट रह जाती हैं। मान लीजिये उनमें राजेन्द्र बाबू की कहानी भी बची रहती है। अब देखिये, उस समय क्या अवस्था होगी। लोगों के सामने वेद भी होंगे, यह भी उन्हें मालूम होगा कि प्राचीन काल में बाबू राजेन्द्रप्रसाद नामक एक महापुरुष हो चुके हैं किन्तु ऐतिहासिक परम्परा के लुप्त हो जाने से उन्हें यह सचाई नहीं मालूम होगी कि राजेन्द्र बाबू तो वेदों से सहस्रों वर्ष पीछे के हैं। इसलिये उस समय जो लोग वेदों में ऐतिहासिक सामग्री का अन्वेषण करने बैठेंगे तो क्या आश्चर्य कि ऋग्वेद के उपर्युक्त मन्त्र का वे वही अर्थ कर बैठें जो हमने किया है, अर्थात् वेद के 'राजेन्द्र' पद से वे राजेन्द्र बाबू का ही ग्रहण करने लगें ! आज तो ऐतिहासिक लोग ही इस अर्थ को एक मज़ाक की वस्तु समझते हैं, लेकिन उस समय यदि कोई इस प्रकार के अर्थों का आविष्कार करेगा तो उसे विद्वान्, स्कालर आदि न जाने क्या २ पदवी दे दी जायेंगी। उस समय यदि कोई कहेगा कि अरे भाई, यहाँ तो राजेन्द्र पद से राजा का ग्रहण है तो ऐतिहासिक विद्वन्मण्डली कट्टर, अन्धविश्वासी आदि विशेषणों में उसका उपहास करेगी, जैसा कि आजकल किया जाता है।

अस्तु, पाठकगण ! ऊपर का यह एक काल्पनिक किस्सा हमने यह दिखाने के लिये लिखा है कि जिससे स्पष्ट हो जाय कि वेद की ऐतिहासिक व्याख्याओं का महल कितनी कमज़ोर भित्ति पर बना हुआ है, यद्यपि देखने में वह बड़ा सुदृढ़ और आकर्षक प्रतीत होता है। यदि वेदार्थ में ऐतिहासिक व्याख्या के मार्ग का अनुसरण बढ़ता गया तो धीरे २ वेद की धज्जी-धज्जी उड़ जायेगी। उसमें कुछ भी तत्व की बात नहीं बचेगी। सब जगह इतिहास ही इतिहास दीखने लगेगा।

वेद के अनेक ऐसे स्थल हम उद्धृत कर सकते हैं जिनमें ऐतिहासिक नाम आये हैं तो भी आज ऐतिहासिक लोग उनका इतिहास-परक अर्थ न करके दूसरा ही अर्थ करते हैं। लेकिन कौन कह सकता है कि आज उनका इतिहास परक अर्थ नहीं किया जाता तो आगे भी नहीं किया जायेगा ! अथर्ववेद का एक प्रसिद्ध मन्त्र है:—

> अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या।
>
> तस्यां हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः ॥१०।२।३१

इसमें देहपुरी को अयोध्यानगरी के नाम से स्मरण किया गया है। मनुष्य का शरीर मानो एक देव-पुरी है। इसमें आँख, नाक, बुद्धि आदि देव आकर बैठे हुए हैं। यह अयोध्या इसलिये है कि इसे पराजित कर सकना आसान नहीं है। इसमें मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, ललित, आज्ञा, सहस्रार ये आठ चक्र बने हुए हैं। नौ इसमें दरवाज़े हैं, दो चक्षुद्वार, दो नासिकाद्वार, दो श्रोत्रद्वार, एक मुखद्वार और दो अधोद्वार। अन्यत्र भी शरीर को नौ द्वारों वाला कहा गया है, जैसे "नवद्वारे पुरे देही" (गीता)। इसमें एक ज्योति से जगमगाता हुआ हृदय-कोश या हृदय-मन्दिर है; उसमें इस शरीर-नगरी का राजा आत्मा निवास करता है। इतिहासप्रिय भाष्य-कारों ने भी यहाँ अयोध्या का अर्थ शरीर-नगरी ही लिया है। लेकिन बड़ी असानी के साथ इस अयोध्या को रामचन्द्र जी की अयोध्या बनाया जा सकता है। राम की वह ऐतिहासिक अयोध्या ऐसी आदर्श नगरी थी कि मानो साक्षात् देव-पुरी हो, इस लिये वह 'देवानां पूः' हुई। उसमें आठ चक्र अर्थात् चक्राकार चौराहे और नौ मुख्य-द्वार थे। यदि इतिहास में ऐसा न भी मिलता हो कि राम की अयोध्या में आठ चक्र और नौ दरवाज़े थे तो भी कुछ बिगड़ता नहीं। यह कहा ही जा सकता है कि रामायण में ऐसा उल्लेख नहीं है तो न सही, लेकिन अवश्य ही उस अयोध्या में ८ चक्र और ९ द्वार होंगे, क्योंकि वेद में ऐसा लिखा है। उस अयोध्या में एक 'हिरण्यय कोश' अर्थात् सुनहरा राजमहल बना हुआ था जो मानो स्वर्ग ही था। वह जगह २ पर हीरे, मणि, मोती, आदि से दमक रहा था और रात्रि में दीपकों की ज्योति से अपूर्व शोभायमान हो उठता था, इसलिये उसे 'ज्योतिशावृतः' कहा। उस महल में राजा रामचन्द्र रहते थे। हमें धन्यवाद करना चाहिये ऐति-हासिक व्याख्याकारों का कि यहाँ उन्होंने यह ऐतिहासिक अर्थ नहीं किया। पर यदि वे करने लगें तो कौन उन्हें रोक सकता है। सैकड़ों लोग उनके अनुयायी मिल जायेंगे जो बड़ी शान से कहेंगे कि यहाँ वास्तविक अर्थ तो राम की अयोध्या ही है, शरीर-नगरी अर्थ तो खींचातानी है।

ऋग् १.३२.६ में 'महावीर' और ऋग् ३.४२.६ में 'धनञ्जय' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। ये दोनों इन्द्र के विशेषण हैं। पर कौन कह सकता है कि ऐतिहासिकों की दृष्टि में भी ये सदा इन्द्र के विशेषण ही बने रहेंगे, वे इन्हें ठोकपीट कर जैनधर्म के प्रवर्तक महावीर तथा धनंजय अर्जुन नहीं बना लेंगे। क्या मालूम ऋग् ५.३२.११ में प्रयुक्त 'पांचजन्य' शब्द जो कि इन्द्र का विशेषण है ऐतिहासिक सम्प्रदाय में किसी वक्त गीता का 'पाञ्चजन्यं हृषीकेशः' वाला पांचजन्य शंख नहीं बन बैठेगा! किसे निश्चय है कि ऋग्वेद ५.३१.१ के अजातशत्रु इन्द्र किसी समय अजातशत्रु युधिष्ठिर नहीं हो जायेंगे! किसे खतरा नहीं है कि ऋग् ५.३४.६ का 'विभीषण इन्द्र' ऐतिहासिक परम्परा में आगे चल कर रावण का भाई विभीषण बन जायेगा और अथर्व ४.६.१ का 'दशशीर्ष दशास्य ब्राह्मण' सूर्य का वाची न रह कर दस सिरों और दस मुखों वाले रावण का वाची हो जायेगा! क्या मालूम ऋग् १.१२६.४ में आये 'दशरथ' शब्द से कभी श्रीराम के पिता दशरथ को ग्रहण किया जाने लगे, और ऋग् १०.१०७ में भोज नाम से जो दानी की स्तुति है उसे ऐतिहासिक भोज राजा की स्तुति समझ लिया जाये! वेद में जो कई जगह कृष्ण तथा अर्जुन शब्द इकट्ठे आये हैं उससे क्या मालूम यह समझा जाने लगे कि इसका सम्बन्ध महाभारत के कृष्ण-अर्जुन के साथ है और यजु० १६. ४३ में जो 'पुलस्ति' शब्द आया है उसे शायद रावण के पितामह पुलस्त्य से मिला दिया जाये। ऋग् १. ८०. ७ में इन्द्र को कहा है कि तूने अपनी माया से मायावी

मृग को मार डाला ; इसका सम्बन्ध शायद कभी राम के मारीच मृग को मारने के साथ जुड़ जाये। ऋग् २. ७. १ आदि कई मन्त्रों में अग्नि को 'भारत' कहा गया है, इससे संभव है कभी यह कल्पना कर ली जावे कि भरत राजा के किसी पुत्र का नाम अग्नि था, जिसकी स्तुति वेद में अग्नि नाम से की गई है और उससे धन-दौलत आदि मांगी गई है। क्या खबर आगे कभी ऐतिहासिकों की मति में अथर्व० ५. ७. १० के 'हिरण्यकशिपु' प्रह्लाद के पिता हिरण्यकशिपु जी बन जायें ! और तो और क्या मालूम कई शताब्दी गुज़र जाने के बाद कोई ऐतिहासिक अनुसन्धानकर्ता यही निबन्ध लिखकर डी० लिट् की पदवी प्राप्त करे कि ऋग्वेद के श्रद्धा-सूक्त का सम्बन्ध स्वामी श्रद्धानन्द से है; क्योंकि तब बड़ी ईमानदारी और गम्भीरता के साथ बखूबी यह युक्ति दी जा सकेगी कि यह समता अचानक ही नहीं हो सकती कि श्रद्धानन्द जी के सुपुत्र का नाम भी 'इन्द्र' हो और वेद में भी श्रद्धा-सूक्त से ठीक अगला ही सूक्त 'इन्द्र' का सूक्त हो। और भाई, ऐतिहासिकों की लीला का क्या मालूम, यदि बहुत शताब्दियों पीछे तक आज के आज़ाद-हिन्द-फौज के नेता सुभासचन्द्र बोस की कहानी अमर बन गई और बहुत काल गुज़र जाने से संयोगवश इतिहास की यह कड़ी लुप्त हो गई कि सुभास बोस वेदों से बहुत-बहुत बाद के हैं, तब क्या मालूम ऋग्वेद ८.२३.२० में आये 'सुभास' पद से इन्हीं सुभास बोस का ग्रहण किया जाने लगे। क्योंकि मन्त्र में जो सुभास को 'शुक्रशोचि', 'विशामग्नि' और 'ईड्य' कहा गया है, यह नेता जी सुभास बोस के लिये बिल्कुल फिट बैठ जाता है। 'शुक्रशोचि' का अर्थ है तेजस्वी शरीर वाला, 'ईड्य' हुआ संमान के योग्य और निरुक्त तथा ब्राह्मणग्रन्थों से परिचय रखने वाले जानते ही हैं कि 'अग्नि' का अर्थ नेता होता है, इसलिये 'विशाम्-अग्नि' का अर्थ हुआ 'लोगों का नेता' ! आज तो यह सब व्याख्या निसंदेह मज़ाक के रूप में ली जायेगी ; किन्तु कई शताब्दियों बाद का ऐतिहासिक इसे भी उतनी ही गम्भीरता के साथ स्थापित कर सकेगा जितनी गम्भीरता से आज वह यह स्थापित करता है कि ऋग्वेद तो आर्य तथा दस्युओं के ऐतिहासिक युद्ध का लेखामात्र है। क्या इस प्रकार के अनर्थकारी ऐतिहासिक सम्प्रदाय को आप वेदार्थ में प्रामाणिक मानने के लिये तैयार हैं ?

कहा जाता है कि ब्राह्मणग्रन्थ, रामायण, महाभारत और पुराणों की अनेक ऐतिहासिक कहानियाँ वेदों में मिलती हैं। वस्तुत: यह ठीक भी है। किन्तु इस विचारधारा के मूल में थोड़ी सी भूल काम कर रही है। यह तो एक सर्वमान्य सिद्धान्त है जिसकी पुष्टि हमें इस लेख में करने की आवश्यकता नहीं कि अब तक जो भी प्राचीन से प्राचीन साहित्य उपलब्ध है उसमें वेद सबसे पुराने हैं। रामायण, महाभारत और पुराणों से भी वे निःसंदेह पुराने हैं। और ब्राह्मण ग्रन्थ तो बने ही वेद के आशय को स्पष्ट करने के लिये हैं; वे भी वेदों से उत्तरवर्ती ही हैं। इसलिये यह तो समझ आता है कि वेद के कुछ प्रकरणों को रोचक बनाने के लिये तथा सर्वसाधारण में प्रचारित करने के लिये बाद के साहित्य पुराण आदि में उन्हें कथानक का रूप दे दिया गया हो, किन्तु इसके विपरीत यह नहीं माना जा सकता कि पुराणों की कहानियाँ वेद में आ गई हैं। यह तो तभी हो सकता है यदि पहले यह सिद्ध किया जा सके कि पुराण आदि वेदों से पुराने हैं। पर इस बात को ऐतिहासिक लोग भी मानने को तैयार नहीं हैं। इसलिये हमें इसी दृष्टिकोण को लेकर चलना चाहिये कि जो कहानियाँ हैं वे वेदों से ब्राह्मणग्रन्थ, पुराण आदि पिछले साहित्य में गई हैं, न कि पुराण आदि से वेदों में आई हैं। और यदि इस बात को हम हृदयंगम कर लेंगे तो वेदार्थ करने में इस गलती से हम बचे रहेंगे कि जहाँ

कहीं वेद में कोई ऋषि, राजा आदि का नाम प्रतीत हुआ, झट हम पुराणों पर जा पहुँचे और वहाँ की कहानी देकर हमने समझ लिया कि बस वेदभाष्य हो गया ; सायणाचार्य की तरह उस मन्त्र से सम्बद्ध कहानी हमने लिख दी और मान लिया कि अब न तो मन्त्र के खुलासा करने की कुछ आवश्यकता रही न संगति बैठाने की, यह कह दिया कि अमुक वेदमन्त्र पुराण की अमुक कहानी को बताने के लिये रचा गया है। अरे भाई, वेद का अमुक मंत्र पुराण की अमुक कहानी को बताने के उद्देश्य से रचा गया है यह तो बिल्कुल उल्टी बात हुई; बताना तो यह चाहिये कि अमुक वेदमन्त्र का आशय यह है और इसको लेकर पुराण की अमुक कहानी रची गई प्रतीत होती है। नीचे कुछ उदाहरण देकर हम इस बात को स्पष्ट करेंगे कि किस प्रकार वेद के सन्दर्भों को लेकर कथायें रच ली गई हैं।

दधीचि की हड्डियों से वृत्र को मारने की कथा

ऋग्वेद १।८४।१३ में दध्यङ् की हड्डियों से ६६ वृत्रों के मारे जाने का उल्लेख मिलता है। सामवेद तथा अथर्ववेद में भी यह मन्त्र आया है।

इन्द्रो दधीचो अस्थभिर्वृत्राण्यप्रतिष्कुतः। जघान नवतीर्नव ॥

इसका सीधा-सादा अर्थ यह है कि "अद्वितीय इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों के द्वारा ६६ वृत्रों को मार डाला।" इसी मन्त्र को लेकर बाद के साहित्य भागवत, महाभारत आदि में दधीचि की हड्डियों से वृत्र को मारने की कई प्रकार की आख्यायिकायें बन गई हैं। सायण ने इस मन्त्र पर शाट्यायनी का यह इतिहास उद्धृत किया है—एक बड़े प्रतापी ऋषि दध्यङ् थे। जब तक वे जीवित रहे असुरों को उपद्रव करने की हिम्मत नहीं हुई। किन्तु उनके स्वर्ग चले जाने पर पृथ्वी असुरों से छा गई। इन्द्र से भी वे असुर पराजित नहीं हो सके। इन्द्र ने सोचा चलो दध्यङ् ऋषि के पास चलें। पर पूछने से मालूम हुआ कि दध्यङ् तो स्वर्ग को चले गये। फिर इन्द्र ने कहा कि यदि दध्यङ् का कोई अंग ही मिल जाये तो भी काम चल सकता है। खोजने पर उनका सिर हाथ लग गया। उसी सिर की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा।

महाभारत और भागवत में इस विषय की जो आख्यायिकायें मिलती हैं उनका भाव इस प्रकार है—वृत्र नाम के एक दैत्यराज ने सारी त्रिलोकी में उपद्रव मचा रखा था। देवता भी उसके उपद्रवों से तंग आ गये थे। बहुत उपाय किये, फिर भी वह नहीं मरा। उसे मारने का और कोई उपाय न देख इन्द्र सहित सब देवता ब्रह्मा जी (या विष्णु जी) की शरण में गये। उन्होंने यह उपाय बताया कि दधीचि (या दधीच) नाम के एक तपस्वी ऋषि हैं, वे यदि अपने शरीर की हड्डियाँ दे दें तो उनसे वृत्र मर सकता है। तब देवों के प्रार्थना करने पर दधीचि ऋषि ने अपना शरीर त्याग दिया। देवों ने उनकी हड्डियाँ लेकर वज्र तैयार कराया। उसी वज्र से इन्द्र ने वृत्र को मारा।

उपर्युक्त दोनों कथाओं में हम देख सकते हैं कि पर्याप्त अन्तर है। एक में तो मन्त्र के अनुसार दध्यङ् का दध्यङ् ही रहा है, किन्तु दूसरी में दध्यङ् का स्थान दधीच या दधीचि ने ले लिया है। पहली के अनुसार तो दध्यङ् ऋषि का आयु पूरी होने के बाद स्वयं प्राणान्त हुआ था और भाग्यवश उनके सिर (अश्व-शिर) का ढांचा बचा हुआ था, उसी की हड्डियों से इन्द्र ने असुरों को मारा। किन्तु दूसरी में यह बात नहीं है, वहाँ यह है कि दधीचि जीवित थे, देवताओं ने जाकर उनसे प्रार्थना की कि आपकी

हड्डियों की आवश्यकता है। देवों का काम चल जाये इसलिये दधीचि ने मरना स्वीकार कर लिया। दोनों कथाओं में यह अन्तर क्यों हो गया? बात यह है कि यह कोई ऐतिहासिक घटना है ही नहीं। वेदमन्त्र को लेकर उस पर कल्पित कथायें बना ली गई हैं। मन्त्र में तो इतना ही संकेत है कि "दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मरा है", उसके आगे इसे पूरे कथानक का रूप देते समय कथाकार स्वतन्त्र है, जिस रंग में चाहे उसे रंग दे। आज भी यदि एक ही प्लौट या घटना पर दो कहानीकार कहानी लिखने बैठें तो दोनों अपनी २ प्रतिभा के अनुसार कुछ नये पात्रों को कल्पित करेंगे, कुछ घटना में हेर-फेर करेंगे, और दो सुन्दर कहानियाँ हमारे आगे प्रस्तुत हो जायेंगी। दोनों के मूल में घटना एक होते हुए भी दोनों पर्याप्त अन्तर लिये हुए होंगी। यही बात यहाँ भी है। यद्यपि दोनों आख्यायिकाओं का आधार एक ही मन्त्र है, तो भी क्योंकि उनके रचयिता अलग २ हैं इसलिये आख्यायिकाओं में परस्पर पर्याप्त अन्तर हो गया है।

अब हम मन्त्र के भाव पर आते हैं। सबसे पहली बात हमें यह समझ लेनी चाहिये कि मन्त्र में यह कहीं नहीं लिखा कि मरे हुए दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मारा गया। यह तो कहानी रचने वालों की अपनी कल्पना है। मन्त्र का दध्यङ् तो जीता-जागता शूरवीर है। यदि निर्जीव हड्डियों की ही ज़रूरत होती तो दध्यङ् की हड्डियों में ही क्या ख़ासियत थी जो उनकी हड्डियों से वज्र बनाया जाता। हड्डी हड्डी तो सब एक सी। मान भी लें कि दध्यङ् की हड्डियाँ बड़ी मज़बूत थीं तो भी उसकी हड्डियों से ज्यादा मज़बूत हड्डियाँ अन्य बहुत से प्राणियों की मिल सकती थीं। और हड्डी को छोड़ कर लोहे आदि धातु का भी तो वज्र बन सकता था। इससे स्पष्ट है कि मृत दध्यङ् की हड्डियों से नहीं, बल्कि जीवित दध्यङ् की हड्डियों से वृत्र मरा है। किन्तु यह दध्यङ् है कौन? यह कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं है। निरुक्त की व्युत्पत्ति को ही लें तो—

"प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा, प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा" १२।३३

ऐसा शूरवीर सेनापति दध्यङ् है जिसे एक मात्र यही ध्यान है कि कैसे शत्रु को पराजित किया जाये, और साथ ही जिसकी तरफ सारे राष्ट्र का ध्यान लगा हुआ है कि यह बाँका वीर अवश्य शत्रुओं के छक्के छुड़ा देगा। 'दध्यङ्' शब्द में एक और भाव यह भी है कि जो रणभूमि में डट कर संग्राम करने वाला है—'दधत् अञ्चतीति'। उस वीर की हड्डियों में ताकत है, उसकी हड्डियाँ मुलायम २ गद्दों पर सोने की अभ्यस्त नहीं हैं, उन्हें तो पत्थर से जूझने में ही मज़ा आता है। इन्द्र है राजा। भला जब राजा के राज्य में ऐसी मज़बूत हड्डियों वाला शूरवीर सेनापति होगा तब क्यों नहीं उसकी हड्डियों के बल से शत्रु रूपी वृत्र का संहार होगा। एक वृत्र क्या, यदि ६६ वृत्र भी मिलकर आ जायेंगे तो भी उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकेंगे। ६६ की संख्या वेद में अनेक स्थानों पर आई है। ठीक-ठीक गिनती में निन्यानवे शत्रु ही दध्यङ् की हड्डियों से मरते हैं ऐसा आशय यहाँ नहीं है। हिन्दी में जब हम किसी वीर सिपाही की प्रशंसा में यह वाक्य बोलते हैं कि "एक क्या, उसने तो बीस का सफाया कर दिया", तो ठीक गिनती में बीस यह अभिप्राय नहीं होता, किन्तु बीस का अभिप्राय 'अनेक' होता है। ऐसे ही वेद की भाषा में यहाँ ६६ का अर्थ 'लगभग सारे' यह है। ६६ का अभिप्राय ६६ प्रतिशत ले सकते हैं। १०० में से ६६ को अर्थात् प्रायः सभी शत्रुओं को मार डाला है, कोई ही इक्का-दुक्का बच पाया होगा, यह

भाव है। तो सामान्यरूप से मन्त्र के आशय को हम इस प्रकार व्यक्त कर सकते हैं—"ऐ लोगो, देखो, जो राजा स्वयं 'अप्रतिष्कुत' है अर्थात् ऐसा है कि शत्रु उसका आसानी से प्रतिकार नहीं कर सकते और जिसका सेनापति है दध्यङ् जैसा वीर, वह सदा ही शत्रुओं को मारने में सफल हुआ है।"

आधिदैविक भाव—यह तो हुआ मन्त्र का आधिभौतिक अर्थ। आधिदैविक अर्थ में इन्द्र परमेश्वर है; 'दध्यङ्' सूर्य है। निरुक्तकार ने 'दध्यङ्' को पढ़ा भी द्युस्थानीय देवों में ही है। निरुक्त की पूर्वोक्त व्युत्पत्ति के अनुसार सूर्य 'दध्यङ्' इसलिये है कि वह सदा अपने प्रकाशन के ध्यान में लगा रहता है, और सब प्राणियों का ध्यान भी उसकी ओर लगा रहता है। यदि 'दध्यङ्' सूर्य है तो उसकी हड्डियाँ होंगी सूर्य की किरणें। ६६ वृत्र हैं बादलों की अनेक टुकड़ियाँ। निरुक्तकार कहते हैं—"तत्को वृत्रः ? मेघ इति नैरुक्ताः, त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। २-१७", अर्थात् ऐतिहासिक लोग जो यह कहते हैं कि एक असुर का नाम वृत्र है जो कि त्वष्टा का लड़का था यह ग़लत है, वृत्र तो बादल है। बादल के अतिरिक्त शत्रुओं या राक्षसों को भी वृत्र कहते हैं। अथर्ववेद में अनेक जगह राक्षसवाची नामों से रोगों या रोग कृमियों को पुकारा गया है। तो रोग या रोग-कृमि भी वृत्र हुए। इस प्रकार मन्त्र का आधिदैविक अर्थ यह होगा कि—इन्द्र परमेश्वर ने सूर्य की किरणों से बादल की टुकड़ियों को या अनेक रोग-कृमियों को मार डाला।

आध्यात्मिक भाव—आध्यात्मिक अर्थ में इन्द्र आत्मा है। 'दध्यङ्' है भगवान् के ध्यान में लगा हुआ या जिसमें सब इन्द्रिय-देवों का ध्यान लगा रहता है ऐसा 'मन'। मन की हड्डियाँ क्या होंगी? जब मन रूपी दध्यङ् ऋषि स्वयं सूक्ष्म हैं तो उनकी हड्डियाँ भी वैसी ही सूक्ष्म होनी चाहिये। मन की सबल हड्डियाँ है उसकी उच्च मनोवृत्तियाँ। ६६ वृत्र हैं असंख्य पाप-वासनायें। मनुष्य के अन्दर एक देवासुर संग्राम चल रहा है। पाप-वासनायें मनुष्य के आत्मा पर अपना प्रभुत्व कर लेना चाहती हैं। किन्तु आत्मा को यदि भगवद्भजन तथा सद्विचारों में लीन मन रूपी दध्यङ् ऋषि मिल जायें तो उनकी उच्चमनोवृत्ति रूपी हड्डियों से वह अवश्य ही पाप-वासना रूपी सैंकड़ों वृत्रों का संहार कर सकता है। यही इस मन्त्र का आध्यात्मिक आशय है।

शतपथ ब्राह्मण के अनुसार मनुष्य के शरीर में वाणी 'दध्यङ्' ऋषि है—"वाग् वा दध्यङ् आथर्वणः"। वाणी की हड्डियों का अभिप्राय है 'वाग्वज्र'। जो मनुष्य 'अप्रतिष्कुत' है अर्थात् जिसकी युक्ति-परम्परायें ऐसी ज़बर्दस्त हैं कि उनका प्रतिकार करना कठिन हो जाता है, वह वीर मनुष्य अपनी वाणी की हड्डियों से, अपने वाग्वज्र से, असत्य का पक्ष लेने वाले बड़े से बड़े असुर-दल को परास्त कर सकेगा। ऋषि दयानन्द इसी कोटि के मनुष्य थे; इसलिये उनकी वाणी की हड्डियों की मार के आगे कोई भी प्रतिपक्षी नहीं टिक सका; जो असत्य का पक्ष लेकर शास्त्रार्थ करने आया वही उनके वाग्वज्र से पराजित होकर लौटा। इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य 'अप्रतिष्कुत इन्द्र' बन कर अपने वाग्वज्र से प्रतिपक्षियों को परास्त कर सकता है, यह भी मन्त्र का भाव हो सकता है।

क्रिया भूतकाल की क्यों

आप कह सकते हैं यदि वेद को इतिहास बताना अभिप्रेत नहीं था तो उसने क्रिया भूतकाल की क्यों रखी ? मैं पूछता हूँ जब आप हिन्दी में यह वाक्य बोलते हैं कि "बहादुर ने ही विजय पाई है"

तब क्या आपका अभिप्राय किसी इतिहास को बताने से होता है ? 'विजय पाई है' इस भूत की क्रिया से आप इस सामान्य नियम को ही बताना चाहते हैं कि दुनियां में जो बहादुर होता है वही विजय पाता है। और यह सभी कालों के लिये सत्य है। इसप्रकार भूत की क्रिया से एक सार्वकालिक नियम को बताने की परिपाटी भाषाओं में देखी जाती है। यही शैली वेद की भी है। इसी को 'नित्य इतिहास' नाम से कहा जाता है। इसलिये "इन्द्र ने दध्यङ् की हड्डियों से ९९ वृत्रों को मारा है" इस प्रकार के प्रयोग से वेद यही बताना चाहता है कि ऐ लोगो ! सदा इस नियम को ध्यान रखो कि जिस राजा का सेनापति दध्यङ् गुण वाला है वही वृत्रों पर विजय पाता है। आप कहेंगे, यहाँ तो 'जघान' यह लिट् का प्रयोग है और लिट् अनद्यतन परोक्ष-भूत में आता है। इसका उत्तर आपको वेद से ही मिल जायेगा। वेद तो आज हुई घटना के साथ भी लिट् का प्रयोग करता है, "अद्या ममार स ह्यः समान ऋग् १०.५५.५"—कल जो जी रहा था वह आज मरा पड़ा है। इससे परिणाम निकलता है कि वेद में यह नियम नहीं है कि लिट् परोक्षभूत में ही प्रयुक्त हो। पाणिनि मुनि ने तो इसके लिये सूत्र भी बना दिया है—"छन्दसि लिट्" (पा० ३.२. १०५) अर्थात् वेद में लिट् सामान्य भूत में ही प्रयुक्त होता है। इतना ही नहीं, "छन्दसि लुङ्लङ्लिटः" (पा० ३.४.६) वेद में भूतवाची लुङ्, लङ्, लिट् लकार भूत से अतिरिक्त वर्तमान आदि अर्थों के भी द्योतक हैं।

वेदों में जहाँ कहीं हम किसी भूतवाची लकार का प्रयोग देखते हैं वहाँ झट से अर्थ हम परोक्ष-भूत का कर लेते हैं। यहीं गलती कर बैठते हैं। यह गलती होते ही मंत्र इतिहास को बताता हुआ प्रतीत होने लगता है। अर्थ हमें परोक्ष-भूत का न करके अद्यतन-भूत या वर्तमान सूचक भूत या नियम-सूचक भूत का करना चाहिये। जैसे उपर्युक्त मन्त्र में 'जघान' का अर्थ 'मारा था' यह न करके 'मारा है' ऐसा नियम-सूचक अर्थ करना चाहियें। ऐसे ही "शुनःशेपो ह्यह्वद् गृभीतस्त्रिष्वादित्यं द्रुपदेषु बद्धः ऋग् १.२४.१३" इसका अर्थ "तीन खूँटों में बँधे हुए शुनःशेप ने वरुण को पुकारा था" यह न करके "पुकारा है" ऐसा वर्तमान-सूचक अर्थ करना चाहिये। और यह अर्थ करते ही स्वतः भान होने लगेगा कि शुनःशेप कोई ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हो सकता। इस प्रकार इस नियम को ध्यान में रखने से वेद के अनेक ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वर्णन बिना किसी खींचातानी के बिल्कुल सामान्य प्रतीत होने लगेंगे।

देवापि और शन्तनु की कहानी

इन्द्र तथा दधीच की कथा का अभिप्राय दिखाकर हम वेद की एक और कहानी पर आते हैं। वह है देवापि और शन्तनु की कहानी। ऋग् १०.९८.७ में वृष्टियज्ञ का वर्णन है। राजा शन्तनु ने देवापि को पुरोहित बना कर वृष्टि-यज्ञ कराया है और उससे राज्य में वर्षा हो गई है। देखिये मन्त्र क्या कहता है—

यद्देवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्नदीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवनिं रराणो बृहस्पतिर्वाचमस्मा अयच्छत् ॥ १०.९८.७

राजा शन्तनु यज्ञ कराने के लिये देवापि को पुरोहित बनाता है। वह देवापि 'राज्य में वर्षा हो' ऐसा मन से ध्यान करता है। देवापि देवश्रुत है। वह वर्षा की याचना करता हुआ यज्ञ कर रहा है।

उसके मन्त्रपाठ आदि में यदि कोई त्रुटि संभावित हो तो बृहस्पति नामक ब्रह्मा उस त्रुटि निवारण के लिये उस्थित है।

अब देखिये, ऐतिहासिक सम्प्रदाय की कुछ ऐसी प्रवृत्ति है कि वेद में जहाँ कहीं कोई नाम आया झट उसे खींचतान कर इतिहास के साथ मिला दिया। यदि उनका बस चले तो वे वेद के सूर्य को राजा सूर्य बना दें, वेद के वायु को राजा वायु बना दें, वेद के 'अश्व' को राजा अश्वपति के साथ मिला दें, पर करें क्या उनके दुर्भाग्य से ये शब्द सूरज, हवा, घोड़े आदि भौतिक अर्थों में ऐसे प्रसिद्ध हैं कि चाहें तो भी वे इन्हें तोड़-मरोड़ नहीं सकते। जहाँ भी अर्थ कुछ लुप्त सा हो गया है वहाँ उन्होंने मौका हाथ से नहीं जाने दिया। अश्विनों को आखिर उन्होंने दो घुड़-सवार राजा बना ही डाला, जिसका संकेत "पुण्यकृतौ राजानौ इत्यैतिहासिका:" इन शब्दों में निरुक्तकार ने किया है। यहाँ जिस प्रसंग को हम ले रहे हैं वहाँ भी ऐतिहासिक नहीं चूके। उन्होंने यह इतिहास कल्पित कर लिया है—

"देवापि और शन्तनु नाम के दो कुरुवंशी भाई थे। शन्तनु उनमें छोटा था। नियमानुसार राज्य बड़े भाई देवापि को मिलना चाहिये था। किन्तु शन्तनु छोटा होते हुए भी स्वयं राजा बन बैठा। यह देख कर देवापि तप करने वन को चला गया। शन्तनु ने बड़े भाई का हक छीन कर अधर्म किया था, इसलिये १२ वर्ष तक उसके राज्य में वृष्टि नहीं हुई। प्रजा भूखी मरने लगी। अब वह चिन्तित हुआ। ब्राह्मणों ने उससे कहा, तूने अधर्म किया है, इसलिये वर्षा नहीं होती। तब वह बड़े भाई को मनाने पहुँचा। देवापि ने कहा, अब राज्य तो मैं नहीं लूँगा, तुम वृष्टि-यज्ञ करो, मैं तुम्हारा पुरोहित बन जाऊँगा। ऐसा ही किया गया, तब राज्य में वर्षा हो गई।"

यदि यह कहानी वेद के वर्णन को ही अधिक रोचक बनाने के उद्देश्य से गढ़ी गई हो तब तो ठीक है। किन्तु यदि इसका आशय यह हो कि ऐसी कोई ऐतिहासिक घटना हुई थी जिसे वेद बताता है तो यह एक मिथ्या भ्रान्ति ही है। देवापि और शन्तनु के कुरुवंशी भाई होने, छोटे के राजा बन बैठने, १२ वर्ष वृष्टि न होने आदि का यहाँ वेद में कोई उल्लेख नहीं है। यह सब तो कथानक बनाने वालों की अपनी कल्पना है। वेद के शन्तनु, देवापि ऐतिहासिक व्यक्ति नहीं हैं किन्तु गुणवाची नाम हैं। यदि इसमें किसी को एतराज हो तो हम कहेंगे कि जहाँ वेद में गोपति या भूपति शब्द आता है वहाँ उसे गुणवाची नाम अर्थात् 'पृथ्वी का मालिक राजा' क्यों समझते हो, ऐसा क्यों नहीं मानते कि गोपति या भूपति किसी राजा विशेष के नाम हैं। यदि यह कहो कि गोपति या भूपति नाम का कोई राजा इतिहास में मिलता नहीं तो हम कहेंगे कि जब वेद को ऐतिहासिक पुस्तक मान लिया तब इसकी क्या आवश्यकता है कि किसी दूसरी ऐतिहासिक पुस्तक में भी उसका ज़िक्र मिले। और दूसरे यह कि इतिहास क्या जितने हुए हैं सभी का मिलता है? क्या अनेक बड़े २ शक्तिशाली राजा, महर्षि आदि इतिहास में लुप्त नहीं हो गये हैं? वैसे ही गोपति, भूपति भी लुप्त हो गये होंगे, जिनका सौभाग्य से वेद में नाम बचा रह गया है। असल बात तो यह है कि 'शन्तनु' और 'देवापि' का अर्थ भी यदि आज गोपति, भूपति की तरह प्रसिद्ध रहा होता तो कोई यह कहने का साहस न करता कि शन्तनु, देवापि ऐतिहासिक नाम हैं। अस्तु, यास्क ने शन्तनु का अर्थ किया है—"शन्तनु:=शंतनोऽस्त्विति वा, शमस्मै तन्वा अस्त्विति वा, निरुक्त २.१२।" 'शम्' और 'तनु' इन दो शब्दों से मिल कर यह बना है। जो राजा ऐसा प्रयत्न करता है कि मेरे राज्य में सब को तनु-सुख प्राप्त हो, सब शरीर नीरोग, प्रसन्न, सुखी रहें

और इसीप्रकार प्रजा भी जिस के लिये यह चाहती है कि हमारा राजा शरीर से स्वस्थ, सुखी होता हुआ जुग-जुग जीता रहे, वह राजा शन्तनु कहलाता है। या यों कहना चाहिये कि 'शन्तनु' नाम से राजा का यह गुण सूचित होता है। उसके राज्य में यदि कभी दैवयोग से अनावृष्टि हो जाये तब उसे चाहिये कि 'देवापि' गुण वाले व्यक्ति को पुरोहित बना कर वृष्टि-यज्ञ कराये। 'देवानप्नोतीति देवापिः" वह उच्च विद्वान् देवापि होगा जिसने देव को अर्थात् भगवान् को या दिव्यगुणों को प्राप्त कर रखा है। पौरोहित्य कर्म का अधिकार प्रत्येक को नहीं होता, देवापि गुण वाले से ही यज्ञ कराना चाहिये यह सूचित करने के लिये ही जान-बूझ कर वेद ने पुरोहित को देवापि नाम से स्मरण किया है। मन्त्र में में ही इसकी साक्षी मिल जाती है, क्योंकि देवापि के साथ उसका विशेषण 'देवश्रुत' पढ़ा हुआ है, जोकि देवापि के अर्थ को खोल देता है। वेद की यह शैली हमें अनेक स्थानों पर देखने को मिलती है कि वह मन्त्र में ही किसी गूढ़ शब्द को उसके सदृश एक और शब्द रख कर खोल देता है। 'देव' का अर्थ बादल भी होता है, जो बादल को प्राप्त कर सकता है अर्थात् जिसमें यह सामर्थ्य है कि बादल को बरसा कर नीचे जमीन पर ले आये वह वृष्टि-यज्ञ में निपुण विद्वान् भी देवापि कहलायेगा। हमने देखा कि वेद के शन्तनु और देवापि भी दध्यङ् की तरह ऐतिहासिक नहीं है। हम यह नहीं कहते कि शन्तनु नाम का कोई व्यक्ति इतिहास में हुआ ही नहीं। वह हुआ होगा, जब वह बालक होगा तब उसके माता-पिता ने वेद से शन्तनु नाम को उसके लिये चुन लिया होगा। जैसे आज-कल हम रामायण महाभारत आदि प्राचीन ग्रन्थों के आधार पर राम, लक्ष्मण, अर्जुन, भीम आदि नाम रख लेते हैं। नाम-सादृश्य को देख कर इतिहासकारोंने उसी ऐतिहासिक शन्तनु के साथ वेद की कहानी को भी जोड़ दिया, मानों वह उसी के साथ घटी हो।

मित्रावरुण और उर्वशी से वसिष्ठ की उत्पत्ति

एक और आख्यान को लीजिये। वेद में वसिष्ठ के जन्म के सम्बन्ध में लिखा है—

उतासि मैत्रावरुणो वसिष्ठ—उर्वश्या ब्रह्मन् मनसोऽधिजातः।
द्रप्सं स्कन्नं ब्रह्मणा दैव्येन, विश्वे देवाः पुष्करे त्वाददन्त ॥ऋग् ७।३३।११

"हे वसिष्ठ! तू मित्र और वरुण का लड़का है, हे ब्रह्मन्! तू उर्वशी के मन से पैदा हुआ है।" किंतु क्या ये पुराणों के वे ही वसिष्ठ ऋषि हैं जिनके जन्म के बारे में लिखा है कि उर्वशी नामक अप्सरा को देखकर मित्र-वरुण का वीर्य स्खलित हो गया, वह घड़े में जाकर गिरा, उससे वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए! क्या यह संभव है? वेद के वसिष्ठ ऋषि तो कोई और ही हैं। पूरे मन्त्र के अर्थ पर दृष्टिपात कीजिये—

(वसिष्ठ, उत मैत्रावरुणः असि) हे वसिष्ठ! तू मित्र और वरुण का लड़का है, (ब्रह्मन्, उर्वश्या मनसः अधिजातः) हे ब्रह्मन्! तू उर्वशी की मनोकामना से पैदा हुआ है। (दैव्येन ब्रह्मणा) दिव्य नियम के अनुसार (द्रप्सं स्कन्नं त्वा) बूँद के रूप में गिरे हुए तुझको (विश्वे देवाः पुष्करे अददन्त) सब देवों ने तालाब में पहुँचा दिया है।

वेद का यह वसिष्ठ वर्षा की बूँद नहीं तो और क्या है? अथर्व ५।१६।१५ में स्पष्ट ही वर्षा-जल को मित्रवरुण का लड़का कहा है—"न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभिवर्षति"। अन्यत्र भी मित्र और वरुण वर्षा

के ही अधिपति माने गये हैं—"मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती, अथर्व ५।२४।५"। इसलिये मित्र-वरुण से पैदा हुआ यह वसिष्ठ वर्षाजल ही है। ये मित्र-वरुण दो वायुयें हैं जो वर्षा में सहायक होती है। उर्वशी क्या है? उर्वशी है 'बिजली'; यह ऋग् ५.४१.१९ से स्पष्ट है। जब मित्र-वरुण या ठण्डी-गरम हवाओंका मेलहोता है और आकाश में बिजली चमकती है तब वर्षा होती है। इस प्रकार वर्षाजल उर्वशी तथा मित्र-वरुण का पुत्र होता है और मन्त्र के वर्णन के अनुसार बूँद रूप में बरस कर वह तालाब आदि में चला जाता है।

आप कहेंगे, तुम हो बड़े होशियार! वेद में भी तो लिखा है, "कुम्भे रेतः सिषिचतुः समानम्" मित्र-वरुण ने घड़े में वीर्य-सेचन किया, "ततो जातमृषेमाहुर्वसिष्ठम्" उससे वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए। इसे आप चुपके से टाल ही गये! नहीं, टाल नहीं गये, उस मन्त्र को भी ले लीजिये—

सत्रे ह जाताविषिता नमोभिः कुम्भे रेतः सिसिचतुः समानम्।

ततो ह मान उदियाय मध्यात् ततो जातमृषिमाहुर्वसिष्ठम्॥ ऋग् ७।३३।१३

यहाँ भी वसिष्ठ वर्षा की बूँद ही है। रेतस शब्द निघण्टु के अनुसार जलवाची है। 'कुम्भ' साधारण कुम्हार का बना हुआ छोटा सा घड़ा नहीं है, बल्कि महान् कुम्भकार परमेश्वर से रचा हुआ भूतल रूपी बृहत् कुम्भ है। अब मन्त्र का अर्थ देखिये—

(सत्रे ह जातौ) आकाश में पैदा हुए २ (इषितौ) ईश्वरीय नियमों से प्रेरित किये हुए [मित्र और वरुण वायुओं] ने [समानम्] एक साथ मिलकर (कुम्भे रेतः सिषिचतुः) भूतल रूपी कुम्भ में जल को सिंचित किया अर्थात् भूमि पर जल बरसाया। (ततः मध्यात्) उस बरसे हुए जल में से (मानः) कुछ जल परिमाण (उदियाय) वाष्प बनकर आकाश में चला गया, (ततः) उससे (वसिष्ठं ऋषिं जातमाहुः) वसिष्ठ ऋषि को पैदा हुआ बताते हैं।

यहाँ इस प्राकृतिक नियम को दर्शाया गया है कि मित्र-वरुण हवायें चलने से जो पानी पृथ्वी पर बरसता है उसमें से बहुत सा अंश सूर्यताप द्वारा वाष्प बनकर फिर आकाश में चला जाता और बादल बन जाता है। वह बादल फिर बूँद रूप में बरसकर वसिष्ठ कहलाता है। इन्हीं मन्त्रों को लेकर बृहद्देवता में इस आशय की कहानी रच दी गई है कि उर्वशी के दर्शन से मित्र-वरुण का रेतः स्खलित होकर उसके घड़े में गिरने से वसिष्ठ ऋषि पैदा हुए थे। संभव है वह लिखी गई हो वेद के वर्णन को रोचक बनाने की दृष्टि से, किंतु अब तो वह भ्रान्ति पैदा करने का ही कारण बन रही है। सायण ने बृहद्देवता की कहानी को उद्धृत करके ही संतोष कर लिया है कि बस मन्त्र की व्याख्या हो गई। सायण भी संतुष्ट, पाठक भी संतुष्ट कि बस सच्चा-झूठा जैसा भी यह किस्सा है उसी को लेकर मन्त्र रचा गया है, यद्यपि बात है उल्टी अर्थात् मन्त्र को लेकर किस्सा रचा गया है।

मन्त्रों पर कथायें आज भी रची जा सकती हैं

जैसे बृहद्देवता या पुराण आदि में मन्त्रों को लेकर कथायें रच ली गई हैं वैसी कथायें आज भी अनेक, अनेक क्या प्रायः सभी, मन्त्रों पर रची जा सकती हैं। नमूना चाहें तो देखिये। ऋग्वेद का पहला ही मन्त्र है—

अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम्। होतारं रत्नधातमम्॥

इसका ऋषि है मधुच्छन्दा। बनाइये कहानी—मधुच्छन्दा को कोई यज्ञ करना था। उसके लिये वे पुरोहित खोजने लगे। कोई अच्छा पुरोहित उन्हें नहीं मिला। किसी ने उन्हें बताया कि अग्नि नाम के एक बड़े भारी विद्वान् 'पृथिवी' नाम की नगरी में वास करते हैं, पर वे दक्षिणा बहुत लेते हैं। मधुच्छन्दा उन्हीं के पास जा पहुँचे और अपना विचार उनसे कह दिया कि मैं आप को पुरोहित वरण करना चाहता हूँ। अग्नि ने उत्तर दिया कि हम तुम्हारा पौरोहित्य तो स्वीकार कर लेंगे, पर दक्षिणा में तुम्हें लक्ष स्वर्णमुद्राओं के बराबर रत्न देने होंगे। मधुच्छन्दा ने उनकी शर्त स्वीकार कर ली और उन्हें पुरोहित बनाकर यज्ञ कराया। इस मन्त्र में वह उन्हीं अग्नि की स्तुति कर रहा है—"मैं अग्नि देव की पूजा करता हूँ, जिन्होंने मेरे यज्ञ का पुरोहित होना स्वीकार कर लिया है, जो होता नामक ऋत्विज् बन गये हैं, जो दक्षिणा में सब पुरोहितों से अधिक रत्नों को लेने वाले हैं।" क्या कोई ऐतिहासिक यह कहेगा कि यह एक ऐतिहासिक कहानी है और इसी इतिहास को लेकर ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र रचा गया है? एक और मन्त्र पर आइये। अथर्व ४.६ का पहला मन्त्र यह है--

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः। स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम्॥

असल में तो यहाँ सूर्य की विघ्ननाशक शक्ति का वर्णन है। पर उसे छोड़िये। इस प्रकार मन्त्र का अर्थ करिये—"प्राचीनकाल में दस सिरों वाला और दस मुखों वाला एक श्रेष्ठ ब्राह्मण पैदा हुआ था। उस श्रेष्ठ ब्राह्मण ने सोम-रस पी लिया और इस प्रकार विष को निष्प्रभाव कर दिया।" यह दस सिर और दस मुखों वाला ब्राह्मण तो आप बिना पूछे ही कह उठेंगे कि रावण है। तो इस पर हम यह कहानी बनायेंगे—

"एक बार रावण कुछ राक्षसों समेत वन में विहार करने निकला। मार्ग में अचानक उसे एक बड़े ज़हरीले साँप ने काट लिया। तुरन्त सारे शरीर में विष फैल गया। बड़े २ वैद्य बुलाये गये, विषनाशक जड़ी-बूटियाँ मंगवाई गई। पर सब उपाय निष्फल हुए। देवता भी रावण के भय से काँपते थे। इस लिये जब उन्होंने सुना तब शीघ्र ही चिकित्सा के लिये प्रसिद्ध वैद्य अश्विदेवों को भेजा। अश्वीदेव अपने साथ सोम का अमृतकलश लेते आये थे। उन्होंने रावण को पिला दिया। उसे पीते ही विष का प्रभाव दूर हो गया।"

अब हम ऐतिहासिक सम्प्रदाय वालों से पूछते हैं कि क्या वे यह मानेंगे कि इन कथाओं को सूचित करने वाले ये वेद मन्त्र हैं? उत्तर हमें पहले से ही मालूम है, वे सिर हिलाकर कहेंगे, नहीं भाई, कैसे माना जा सकता है, ये कहानियाँ तो तुमने पीछे से बना ली हैं। अच्छा, अब एक काम करो, ऐसे सौ-दो-सौ मन्त्रों पर आख्यायिकायें बनाकर संस्कृत में भोज पत्रों पर या जीर्ण-शीर्ण कागज़ों पर ऐसी स्याही से और ऐसे अक्षरों में लिख लो कि वे पुराने ज़माने की लिखी प्रतीत हों। उन्हें होशियारी के साथ पेटी में बन्दकर किसी ऐसे स्थान के समीप गाड़ दो जहाँ ऐतिहासिक खुदाई हो रही हो। जब वह पेटी निकलेगी तब वह ऐतिहासिक खोज की एक बहुमूल्य वस्तु समझी जायेगी। उसे देखकर ऐतिहासिक सम्प्रदाय वाले तो नाच उठेंगे कि आहा, बहुत से वेद मन्त्रों का मूल स्रोत पता लग गया! बात क्या हो गई? अभी तो आप कहते थे कि ये कहानियाँ तो तुमने पीछे से बना ली हैं इसलिये अमान्य हैं, और अभी देखते २ वे अमान्य से मान्य कैसे हो गई? क्षण भर पहले तो वे हमारी बनाई हुई थीं और अब वे वेद का मूलस्रोत बन गई! धन्य है ऐतिहासिक सम्प्रदाय की माया! जिस ऐतिहासिक पक्ष

का आधार ऐसा निस्सार हो वह भी क्या कभी वेदार्थ में प्रामाणिक माना जा सकता है ? इन हमारी कहानियों में तथा बृहद्देवता, पुराण आदि की कहानियों में कुछ भी अन्तर नहीं है। वे भी इसी प्रकार वेद मन्त्रों को लेकर बनाई गई हैं, न कि वेद मंत्रों की मूल हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि हम आज बना रहे हैं, उन्होंने कुछ समय पहले की बना रखी हैं। हैं दोनो ही वेद से लाखों-करोड़ों बरस पीछे की।

आप देखकर हैरान होंगे कि कैसे २ साधारण मन्त्रों पर जिनमें आपको स्वप्न में भी ख्याल नहीं हो सकता कि यहाँ भी कोई इतिहास की बात है, कहानियाँ बन गई हैं। ऋग् ७.१०४ का १६ वाँ मन्त्र है—

यो माऽयातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट ॥

कोई पुण्यात्मा मनुष्य कह रहा है कि यदि कोई पापी मुझ पर यह लाञ्छन लगाता है कि मैं राक्षस हूँ और इसके विपरीत अपने सम्बन्ध में वह यह घोषणा करता है कि मैं निष्पाप-पवित्र हूँ, उस लम्पट मनुष्य को भगवान् दण्डित करे। पर बृहद्देवताकार ने यहाँ भी इतिहास बना डाला है। इस सूक्त का ऋषि वसिष्ठ है, इसलिये वह कहता है कि एक बार महात्मा वसिष्ठ के सौ पुत्रों को मार कर एक जिघांसु राक्षस वसिष्ठ का रूप धर कर आया और वसिष्ठ से कहने लगा—'तुम राक्षस हो, वसिष्ठ तो देखो मैं हूँ, इस पर वसिष्ठ ने यह ऋचा बनाई है। आप ही बताइये, यदि इस प्रकार वेद से इतिहासों को खोजा जाने लगे तो भला किस मन्त्र से इतिहास नहीं निकल सकता। इसीलिये हम कहते हैं कि वेदार्थ की यह शैली ही गलत है।

वेद में प्रयुक्त ऋषियों के नाम

अच्छा, अब ऋषियो पर आइये। वेदमन्त्रों में अनेक ऐतिहासिक ऋषियों के नाम प्रयुक्त हुए हैं। अथर्व १८.११के मन्त्र१५,१६ में ही कण्व, कक्षीवान्, पुरुमीढ, अगस्त्य,श्यावाश्व, सोभरी, विश्वामित्र, जमदग्नि, अत्रि, कश्यप, वामदेव, वसिष्ठ, भरद्वाज, गोतम इतने ऋषियों के नाम आ गये हैं। इन्हें देख कर यह भ्रम होने लगता है कि वेद को इन-इन नामों से शायद ऐतिहासिक ऋषि ही अभिप्रेत हैं। पर वस्तुतः ऐसी बात नहीं है। तो फिर वेद के ये ऋषि कौन हैं ? कहीं तो ये यौगिक अर्थों के वाची हैं, कहीं शारीरिक इन्द्रियों के वाची तथा कहीं सूर्य-रश्मियों के वाची हैं। ऋग् १.४५.३ को देखिये—

प्रियमेधवदत्रिवज्जातवेदो विरूपवत्। अङ्गिरस्वन्महिव्रत प्रस्कण्वस्य श्रुधी हवम् ॥

प्रस्कण्व प्रार्थना कर रहा है कि "हे जातवेदस् अग्नि, जैसे तू प्रियमेध, अत्रि, विरूप तथा अंगिरा की पुकार को सुनता है वैसे ही मेरी पुकार को भी सुन।" इसीप्रकार ऋग् १०.१५० में यह मन्त्र आया है —

अग्निरत्रिं भरद्वाजं गविष्ठिरं प्रावन्नः कण्वं त्रसदस्युमाहवे।

अग्निं वसिष्ठो हवते पुरोहितो मृळीकाय पुरोहितः ॥

यहाँ प्रार्थना करने वाला वसिष्ठ है। वह कहता है -"अग्नि ने पुकारे जाने पर समय २ पर अत्रि, भरद्वाज, गविष्ठिर, कण्व, त्रसदस्यु की रक्षा की है। इसलिये मैं वसिष्ठ भी उसे रक्षार्थ पुकार रहा हूँ।"

ऐतिहासिक कहेंगे कि कण्व, प्रस्कण्व, प्रियमेध, अत्रि, विरूप, अंगिरा, भरद्वाज, गविष्ठिर, त्रसदस्यु ये सब यहाँ ऐतिहासिक ऋषि अभिप्रेत हैं। किन्तु देखिये, निरुक्तकार क्या कहते हैं। "प्रियमेधः प्रिया अस्य मेधा। 'प्रस्कण्वः कण्वस्य पुत्रः। अंगारेषु अंगिराः। (अत्रिः) न त्रय इति। भरणाद् भरद्वाजः। विरूपो नानारूपः। निरुक्त ३. १७"—प्रियमेध वह है जिसे बुद्धि प्यारी है। कण्व का पुत्र प्रस्कण्व है और कण्व निघ० ३. १५ में मेधावी वाची नामों में पठित है। इसलिये प्रस्कण्व का अर्थ हुआ मेधावी का पुत्र। अंगिरा वह है जो इतना तपस्वी है कि मानो अंगारों के बीच बैठा हुआ है। त्रिविध ताप से मुक्त व्यक्ति 'अत्रि' है। वह मनुष्य भरद्वाज है जिसमें बल भरा पड़ा है। विरूप है नाना रूपों वाला। अर्थात् ये सब नाम जोकि ऐतिहासिक ऋषियों के प्रतीत होते हैं, वास्तव में गुणवाची यौगिक नाम हैं। इसके अनुसार पहले मन्त्र का भाव यह होगा कि—"हे परमेश्वर! जैसे तू मेधाप्रिय व्यक्ति की, सन्तापरहित व्यक्ति की, नाना शुभ रूपों वाले की और तपस्वी की पुकार को सुनता है वैसे ही मेरी पुकार को भी सुन, क्योंकि आखिर मैं भी तो बुद्धिमान् का ही बेटा हूँ।" दूसरे मन्त्र में गविष्ठिर, त्रसदस्यु, वसिष्ठ ये नाम नये आये हैं। इन्हें भी यौगिक ही समझना चाहिये। ऋषि दयानन्द के अनुसार "यो गवि सुशिक्षितायां वाचि तिष्ठति स गविष्ठिरः। त्रस्यन्ति दस्यवो यस्मात् स त्रसदस्युः। अतिशयेन वासयिता, अतिशयेन वसुः, अतिशयेन विद्यासु कृतवासः, अतिशयेन ब्रह्मचर्ये कृतवासो वा वसिष्ठः।" यदि वेद में ऋषियों के नाम यौगिक नहीं हैं तो हम पूछते हैं कि "आ तू न इन्द्र कौशिक मन्दसानः सुतं पिब, ऋग् १. २०. ११" यहाँ इन्द्र को कौशिक क्यों कहा गया है? कौशिक तो कुशिक का पुत्र विश्वामित्र है, इन्द्र कौशिक कैसे हो गया? सायण की तरह अनुक्रमणिका का हवाला देकर यह कह देने मात्र से काम नहीं चल सकता कि इन्द्र ही विश्वामित्र के रूप में कुशिक के घर में जन्मा था, इसलिये इन्द्र को वेद में कौशिक कह दिया गया है। यह तो जैसे तैसे अपनी बात को रखने के लिये एक बहाना मात्र है।

यह तो हुआ व्यक्तिवाची नामों का नमूना। इसके अतिरिक्त ऋषियों के नाम वेद में इन्द्रियों के वाची भी होते हैं। वेद में लिखा है—

"सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। यजु० ३४. ५५"

शरीर के अन्दर सात ऋषि बैठे हुए हैं। शतपथ के अनुसार इन सातों ऋषियों के नाम गोतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप, और अत्रि हैं। पर ये ऋषि यदि ऐतिहासिक ऋषि हों तो शरीर में आकर कैसे बैठ सकते हैं? दूर जाने की आवश्यकता नहीं, वेद ने स्वयं ही इस पहेली को खोल दिया है। "कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणीमुखम् अथर्व १०. २. ६" दो कान, दो नासिका-छिद्र, दो आंखें और एक मुख ये ही शरीर के सात ऋषि हैं। इसीप्रकार यजुर्वेद के १३ वें अध्याय में कई ऋषियों का शारीरिक इन्द्रियों से सम्बन्ध दर्शाया गया है। उस वर्णन के अनुसार प्राण वसिष्ठ है, मन भरद्वाज है, चक्षु जमदग्नि है, कान विश्वामित्र है, वाणी विश्वकर्मा है। देखिये—

वसिष्ठ ऋषिः.......प्राणं गृह्णामि प्रजाभ्यः।

भरद्वाज ऋषिः.......मनो गृह्णामि प्रजाभ्यः।

जमदग्निर्ऋषिः........चक्षुर्गृह्णामि प्रजाभ्यः ।

विश्वामित्र ऋषिः........श्रोत्रं गृह्णामि प्रजाभ्यः ।

विश्वकर्म ऋषिः........वाचं गृह्णामि प्रजाभ्यः । यजु० १३. ५४-५५

इस प्रकार स्वयं वेद की ही अन्तःसाक्षी से स्पष्ट है कि ऋषि परक नाम इन्द्रियों के वाची भी होते हैं । इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में भी अनेक स्थानों पर इन्हें इन्द्रियों का वाची प्रयुक्त किया गया है । उदाहरण के लिये शतपथ के निम्न वाक्यों पर दृष्टि डालिये—"प्राणो हि वसिष्ठ ऋषिः । मनो वै भरद्वाज ऋषिः । चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिः । श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिः । वाग् वै विश्वकर्मर्षिः । प्राणो वा अङ्गिराः ।" छान्दोग्य उपनिषद् में एक प्रकरण में आया है कि "यो ह वै वसिष्ठं वेद वसिष्ठो ह स्वानां भवति" जो वसिष्ठ को जान लेता है वह स्वयं भी अपने सम्बन्धिजनों के बीच में 'वसिष्ठ' हो जाता है । आप कहेंगे, वाह ! यह कौन कठिन बात है, वसिष्ठ को तो हम भी जानते हैं, वे एक ऋषि हुए हैं जो कि इतिहास में प्रसिद्ध हैं । पर उपनिषद् कहती है, नहीं, यदि उन ऋषि को तुम वसिष्ठ समझे हो तो कुछ भी नहीं समझे, वसिष्ठ तो वाणी का नाम है, "वाग् वाव वसिष्ठः" । इस तरह हमने देखा कि ऋषियों के इन्द्रियवाची होने का जो बीज वेद में मौजूद है उसे ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों ने भी पुष्ट किया है । इस तथ्य को ध्यान में रखने से अनेक वेदमन्त्रों का अर्थ बड़ा सुन्दर घटित हो जाता है । एक मन्त्र है—

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।

यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो अस्तु त्र्यायुषम् ॥ यजु० ३. ६२

यहाँ स्वयं वेद के तथा शतपथ के आधार से जमदग्नि आँख है, कश्यप प्राण है । मनुष्य प्रार्थना कर रहा है कि जो बाल्य, यौवन तथा स्थविरत्व की त्रिविध आयु अथवा तीन सौ साल की आयु बड़े २ देवपुरुषों को प्राप्त हुआ करती है वह मुझे भी प्राप्त हो । पर ऐसी दीर्घायु मुझे नहीं चाहिये जिसमें इन्द्रियाँ शिथिल हो चुकी हों, आँखों से सूझता न हो, कानों से सुनाई न देता हो, जीवनी-शक्ति का ह्रास हो चुका हो । मुझे दीर्घायु मिले तो साथ ही मेरी आँख की शक्ति को और प्राण-शक्ति को भी दीर्घायु मिले । अब यदि यहाँ जमदग्नि का अर्थ जमदग्नि ऋषि तथा कश्यप का अर्थ कश्यप ऋषि करें तो क्या अर्थ में वैसा स्वारस्य रहता है, यह पाठक स्वयं विचार लेवें ।

कहीं २ वेद में ऋषियों के नाम सूर्य-किरणों के लिये भी प्रयुक्त हुए हैं । इसीलिये "सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे, यजु० ३४. ५५" तथा "तत्रासत ऋषयः सप्त साकम्, अथर्व १०. २६. ६" इन मन्त्रों के आधिदैवत अर्थ निरुक्तकार ने सूर्यपरक ही दिखाये हैं । सूर्य में भी मानव शरीर की भांति सात ऋषि वास करते हैं । सूर्य के सात ऋषि हैं सात सूर्य-रश्मियाँ । अथर्ववेद में एक मन्त्र आया है—

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत् ।

अगस्त्यस्य ब्रह्मणा संपिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ २. ३२. ३

इस सूक्त का देवता आदित्य ही है । सूक्त प्रारम्भ भी यहीं से होता है, "उद्यन् आदित्यः क्रिमीन् हन्तु" उदय होता हुआ सूर्य रोग-कृमियों का विनाश करे । उपर्युक्त मन्त्र में मनुष्य कह रहा है कि मैं अत्रि, कण्व, जमदग्नि की तरह और अगस्त्य के बल से रोग-कृमियों को विनष्ट कर देता हूँ । अब यदि

इस समय मन्त्र में अत्रि, कण्व, जमदग्नि और अगस्त्य को ऐतिहासिक ऋषि मानें तो मन्त्र का देवता सूर्य कैसे हो सकता है ? सूर्य की तो कुछ चर्चा मन्त्र में आई ही नहीं। दूसरे यह कि कृमियों को मारने के लिये ऋषियों से उपमा देना घटता भी नहीं, क्योंकि ये प्राचीन ऋषि कृमियों को मारने में तो प्रसिद्ध थे ही नहीं, उपमान तो उसी को बनाया जाता है जो उस कार्य में प्रवीण और प्रसिद्ध हो। असल में अत्रि, कण्व, जमदग्नि यहाँ सूर्य-किरणें हैं और अगस्त्य सूर्य है। 'सूर्य-किरणों की तरह मैं रोग के कीटाणुओं को विनष्ट करता हूँ' यह उपमा जंचती भी है, क्योंकि सचमुच ही कृमियों के संहार में सूर्य का मुकाबला करने वाला दूसरा नहीं है।

आशा है ऋषिविषयक इस विवेचन से पाठकों को वेद में ऋषियों के नाम किन अर्थों में आये हैं इसका कुछ आभास मिला होगा।

उपसंहार

वेद के ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले कुछ स्थलों को खोलने का हमने यत्न किया है। किन्तु ऐसे प्रसंग इतने अधिक हैं कि इस छोटे से लेख में सभी पर विचार कर सकना असंभव है। कहा जाता है कि इक्ष्वाकु, दिवोदास, सुदास, नहुष, ययाति, यदु, तुर्वश, पुरु, द्रुह्यु, आयु, स्वनय, भावयव्य, असमाति आदि अनेक राजाओं के युद्ध आदि का इतिहास वेद में मिलता है। ऋग् ७. १८ में सुदास् पैजवन की युद्धविजय का तथा उसके दान का वर्णन है; ऋग् १०.३३ में त्रसदस्यु के पुत्र कुरुश्रवण की स्तुति है; ऋग् ८. ४६ में कनीतपुत्र पृथुश्रवा के दान की स्तुति है। ऐतिहासिक विद्वान् कहते हैं कि ये इतिहास के राजा हैं। इनका राजा होना तो हम भी मानते हैं, किन्तु ये ऐतिहासिक राजा नहीं हैं; राजा के गुणवाची नाम हैं जिनसे यह द्योतित होता है कि राजा को कैसा होना चाहिये। सुदास् पैजवन को ही लीजिये। राजा को प्रशस्त दानी तथा स्पर्धनीय वेग वाला शूरवीर होना चाहिये यह इस नाम से सूचित होता है। यास्काचार्य कहते हैं—"सुदाः कल्याणदानः। पैजवनः पिजवनस्य पुत्रः। पिजवनः पुनः स्पर्धनीयजवः, निरु० २.२४" अर्थात् राजा को सुदास् इस लिये कहते हैं कि वह उत्तम-उत्तम दान करता है, पैजवन का अर्थ है पिजवन का पुत्र। वेद की यह शैली है कि जिसे किसी का पुत्र कहा जाता है उसमें उस गुण की अतिशयिता बताना अभिप्रेत होता है। हिन्दी में भी तो कहते हैं, "शाबाश, बहादुर के बेटे !" यहां बहादुर के बेटे का आशय 'कमाल की बहादुरी वाला' यही होता है। इसीप्रकार यहाँ पिजवन के पुत्र' का अर्थ 'अतिशय पिजवन' यह होगा। पर 'पिजवन' क्या वस्तु है ? 'जव' का अर्थ तो 'वेग' प्रसिद्ध ही है, 'पि' स्पर्धा अर्थ में है, जैसे 'पि-दधाति' वहाँ 'पि' बन्द करने अर्थ में है। तो 'पिजवन' वह हुआ जिसका वेग स्पर्धनीय है। पैजवन हुआ इसका पुत्र, अर्थात् जिसमें यह वेग का गुण बहुत ही कमाल का है। तो 'सुदास् पैजवन' नाम से राजा के दो गुण सूचित हुए। और, यह देखने लायक बात है कि इस नाम से जो गुण सूचित होते हैं उन्हीं की ऋग् ७.१८ में स्तुति भी की है, अर्थात् एक तो दान की तथा दूसरे उसकी वीरता या युद्ध करने के सामर्थ्य की। इसी प्रकार कुरुश्रवण तथा पृथुश्रवा भी राजा के गुणवाची नाम ही हैं। "कुरवः कर्तारः स्तोमानां, तान् शृणोतीति कुरुश्रवणः", जो प्रार्थना करने वालों की प्रार्थना को सुनता है वह राजा कुरुश्रवण है। 'पृथुश्रवा' वह है जिसकी विस्तृत कीर्ति चारों तरफ़ फैली हुई है। जो इन नामों को ऐतिहासिक नाम मानने का आग्रह करते हैं उनसे हम पूछते

हैं कि ऋग् १०.८७ में 'रक्षोहा अग्नि' की भी तो स्तुति है, वहां राक्षसों को मारने वाला अग्नि नाम का कोई ऐतिहासिक राजा ऐसा अर्थ क्यों नहीं करते? जिसका अर्थ अप्रसिद्ध हुआ उसे तो झट से ऐतिहासिक नाम मान बैठना और जहाँ दूसरा यौगिक या रूढ़ अर्थ प्रसिद्ध हुआ वहाँ वह अर्थ कर देना यह एक प्रवंचना नहीं तो और क्या है!

सायण ने तो वेदमन्त्रों को खींचतान कर ऐतिहासिक बनाने में कमाल ही कर दिया है। यह आश्चर्य है कि अपने प्रारंभिक उपोद्घात में तो उसने मीमांसा के सूत्रों का हवाला देते हुए यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान हैं इसलिये उनमें इतिहास नहीं हो सकता, किंतु भाष्य करते हुए मानो वह अपनी इस पूर्व की हुई स्थापना को भूल गया है और जहां भी उससे बन पड़ा है वह मन्त्रों में इतिहास दिखाने से नहीं चूका है। कवि, देवक, चयमान, मन्यमान जैसे प्रसिद्ध पदों तक को उसने व्यक्तियों की संज्ञायें मान लिया है। किन्तु यह ध्यान देने योग्य है कि कहीं २ सायण ने दोनों अर्थ दे दिये हैं कि इसका यह इतिहास-परक अर्थ भी हो सकता है और यह यौगिक अर्थ भी हो सकता है। उदाहरणार्थ ऋग् २.१३.११ में 'जातुष्ठिर' पद का भाष्य करते हुए सायण कहता है कि या तो इसे किसी व्यक्ति का नाम समझ लो या इसका अर्थ है 'सदास्थिर' रहने वाला। इससे प्रतीत होता है कि सायण ने जो ऐतिहासिक अर्थ दिये हैं उनके बारे में अनेक स्थानों पर उसे स्वयं निश्चय नहीं था, उसने वे इतिहास-परक अर्थ अटकलपच्चू से ही लिख दिये हैं। यदि उसे बहकाने के लिये पुराण आदि में लिखी कहानियां उसके सामने न होतीं तो शायद वह अपनी पूर्व की हुई प्रतिज्ञा को स्मरण रखता और कहीं भी ऐतिहासिक अर्थ न दिखाता।

इतिहास का भ्रम न हो इसके लिये, वेद को पढ़ते हुए हमें यह भी ध्यान रखना चाहिये कि वेद के अनेक स्थान ऐसे भी हैं जहाँ किसी एक बात को रोचक ढंग से समझाने के लिये कथा या संवाद का रूप दे दिया गया है। कथाओं या संवादों के द्वारा शिक्षा देने की शैली आज भी एक बड़ी रोचक और प्रिय शैली समझी जाती है। उपनिषदों में इसी शैली को बरता गया है। इसीप्रकार वेद के भी अनेक वर्णन कथात्मक या संवादात्मक हैं। उन्हें सच्चा इतिहास समझ लेना भूल होगी। उदाहरणार्थ, वेद ने यह बताना चाहा है कि भाई-बहिन आदि निकट सम्बन्धियों में परस्पर विवाह-सम्बन्ध नहीं होने चाहियें तो उसने यम-यमी का एक रोचक संवाद (ऋग् १०.१२) रच दिया है। बहिन भाई से प्रस्ताव करती है कि तू मुझ से विवाह कर ले। भाई कहता है, बहिन! यह तो सत्पुरुषों की रीति नहीं है, यह तो पाप है। यह संवाद किसी इतिहास को बताने के लिये नहीं किन्तु शिक्षा देने के लिये है। इसीप्रकार वेद में नदियों और विश्वामित्र का संवाद (ऋग् ३.३३), सरमा-पणि-संवाद (ऋग् १०.१०८), अगस्त्य-लोपामुद्रा-संवाद (ऋग् १.१७६), पुरुरवा-उर्वशी-संवाद (ऋग् १०.६५) आदि कृत्रिम संवादों से भिन्न २ शिक्षायें दी गई हैं। इनमें आख्यानात्मक वर्णन को, नामों को और भूतकाल की क्रिया को देख कर इतिहास के भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये।

वेद में गंगा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, विपाट्, परुष्णी, असिक्नी, वितस्ता आदि अनेक नदियों के नाम भी आये हैं जिनको अपने इस लेख में हम स्थान नहीं दे सके हैं। किन्तु इसमें संदेह नहीं कि ये सब नाम भी भारत की भौगोलिक नदियों के वाची नहीं हैं। कई जगह नदीवाची नामों के साथ ऐसे विशेषण या अन्य संकेत दिये हुए मिलेंगे जो भौगोलिक नदियों में घट ही नहीं सकते। कई जगह पूरे

मन्त्र का ही अर्थ घटित नहीं हो सकेगा। जैसे उस मन्त्र (यजु० ३४.११) का क्या होगा जिसमें यह कहा गया है कि समान स्रोत वाली पाँच नदियाँ सरस्वती में जाकर गिरती हैं और सरस्वती आगे चल कर फिर पाँच में फट जाती है। कई जगह ऐसा मालूम होगा कि नदियों का तो कुछ प्रकरण ही नहीं है, नदियाँ कहाँ से आ टपकीं। ये सब प्रमाण इस बात को पकड़वाने में सहायक होंगे कि वेद की नदियाँ भौगोलिक नहीं हैं। वैदिक नदियाँ भौगोलिक नदियों से अतिरिक्त हैं यह रहस्य वेद की 'सरस्वती' से भी स्पष्टतः खुल जाता है। यद्यपि अन्य नदी वाची नाम स्पष्टार्थ वाले नहीं रहे हैं तो भी सौभाग्य से 'सरस्वती' ऐसी बची हुई है जोकि नदी होने के बजाय एक देवी ही अधिक प्रसिद्ध है। यह वेद की इडा, सरस्वती, मही इन तीन प्रसिद्ध देवियों में से एक देवी है। यह विद्या की देवी है। वेद में जो सरस्वती के सूक्त हैं वे सरस्वती नदी की ओर निश्चय ही नहीं लग सकते। वेद की सरस्वती तो हमारे अन्दर ज्ञान (केतु) को उद्बुद्ध करने वाली है, वह कुरुक्षेत्र की सरस्वती नदी नहीं हो सकती। और, नदी वाची शब्दों में सरस्वती शब्द यदि नदी को नहीं बताता तो उसके समकक्ष गंगा, यमुना आदि अन्य शब्द भी नदी-परक नहीं होने चाहियें। क्योंकि यह मानने के लिये हमारे पास कोई कारण नहीं है कि सरस्वती तो नदी न रहे, किन्तु उसके साथ की अन्य नदियाँ नदियाँ ही बनी रहें।

अस्तु, लेख को हम और लम्बा नहीं करना चाहते। अन्त में इतना ही कहना चाहते हैं कि पहले से जमे हुए पौराणिक संस्कारों को अपने अन्दर से निकाल कर हमें स्वतन्त्र रूप से वेद के आशय को खोलने का यत्न करना चाहिये। तब हम इसी परिणाम पर पहुँचेंगे कि वेद के ऐतिहासिक प्रतीत होने वाले वर्णन वस्तुतः ऐतिहासिक नहीं हैं, किन्तु उनमें एक बड़ी चमत्कारपूर्ण शैली से भिन्न २ शिक्षाओं तथा विचारों को रखा गया है।

ऋग्वेद के ऋषि

[लेखक—विद्याभास्कर, वेद-वेदान्तरत्न, श्री पण्डित उदयवीर जी शास्त्री, न्यायतीर्थ, सांख्य-योगतीर्थ, शास्त्रशेवधि, विरजानन्द वैदिक संस्थान, लाहौर]

आधुनिक रीति पर जब से वेदों का पठन पाठन प्रारम्भ हुआ है, वेदों के सम्बन्ध में विविध विचार जनता के सन्मुख आ रहे हैं। इस छोटे से लेख में हम ऋग्वेद के ऋषियों के सम्बन्ध में अपने विचार प्रस्तुत करेंगे। वेदों के स्वाध्याय के समय ऋषि-ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती। ऋषि-ज्ञान के बिना मन्त्रार्थ का जान लेना असंभव बताया जाता है। प्रायः सब ही वैदिक ग्रन्थों में वेदार्थ के लिये ऋषि-ज्ञान की प्रशंसा के पुल बांधे गये हैं। और वे ठीक हैं, उनमें कुछ अतिशयोक्ति नहीं अभी हाल में हमने वेङ्कट माधव की अनुक्रमणी में निम्न श्लोक पढ़े हैं—

ऋषिनामार्षगोत्राणां ज्ञानमायुष्यमुच्यते। पुत्र्यं पुण्यं यशस्यं च स्वर्ग्यं धन्यममित्रहम् ॥

मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतविन्न यः। याजनाध्यापनादेति च्छन्दसां यातयत्मताम् ॥

मन्त्राणां ब्राह्मणार्षेयच्छन्दोदैवतवित्तु यः। याजनाध्यापनाभ्यां स श्रेय एवाधिगच्छति ॥

[माधवानुक्रमणी, ५।१।२.५,७]

इस प्रकार वेदार्थ के लिये ऋषि-ज्ञान की प्रशंसा में प्राचीन वैदिक साहित्य के अनेकों पृष्ठ रंगे

पड़े हैं। इसलिये मन्त्रार्थ में ऋषि-ज्ञान की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

ऋषि पद 'ऋषि गतौ' धातु से बना है। इसका अर्थ ज्ञान, गमन, प्राप्ति व्याकरण में प्रसिद्ध है। धात्वर्थ के आधार पर ऋषि पद का अर्थ ज्ञानी, विचार द्वारा पदार्थों में प्रवेश करने वाला, अथवा सूक्ष्म रूप से उनको प्राप्त होने वाला किया जा सकता है। इसी आशय को लेकर संस्कृत के वैदिक लौकिक साहित्य में ऋषि पद का विवरण अनेक स्थलों पर आता है, उनमें मन्त्र के साथ ऋषि का जो सम्बन्ध दिखलाया गया है, उसके लिये 'दृश' और 'कृ' दोनों ही धातुओं का प्रयोग समान रूप से आता है।

निरुक्तकार ने ऋषि पद का साधारण अर्थ साक्षात्कृतधर्मा किया है। 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः'। जिन्होंने तत्वधर्म को वास्तविक रूप में जान लिया है, वे ही ऋषि कहा सकते हैं। उन ऋषियों ने, अपने से बाद में होने वाले असाक्षात्कृतधर्माओं अर्थात् अनृषियों को उपदेश के द्वारा मन्त्र प्रदान किये। कालान्तर में केवल उपदेश के द्वारा ग्रहण शक्ति लुप्त होती गई, और उस समय में निघण्टु वेद और वेदांगों का बार २ अभ्यास करके विद्वानों ने ज्ञान का सम्पादन किया। निरुक्तकार के इस उपर्युक्त कथन से यह बात स्पष्ट हो जाती है, कि ऋषि वही हैं, जो साक्षात्कृतधर्मा हैं।

मन्त्र के साथ ऋषि का संबन्ध बतलाने के लिये साहित्य में दोनों ही प्रकार का कथन है। अर्थात् "मन्त्र" पद के साथ 'दृश्' और 'कृ' दोनों ही धातुओं का प्रयोग देखा जाता है। 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारो भवन्ति' 'ऋषिर्दर्शनात्' यह एक प्रकार। और 'मन्त्रकृतामृषीणाम्' 'ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः' यह दूसरा। मन्त्र पद के साथ 'कृ' धातु के प्रयोग के सम्बन्ध में आधुनिक विद्वानों ने पर्याप्त विचार किया है। उनके कथन का सार यही है, कि धातु अनेकार्थक होते हैं, इस लिये 'कृ' धातु भी अनेकार्थक है। महाभाष्यकार ने भी 'कृ' धातु के अनेक अर्थ किये हैं। यद्यपि उन अर्थों में भी 'कृ' धातु का 'दर्शन' अर्थ नहीं दिखाया गया, तथापि अन्य अर्थों के समान इस धातु का 'दर्शन' अर्थ भी हो सकता है। इसलिये जहां कहीं भी साहित्य में 'मन्त्रकृत्' या 'मन्त्रकार' पद आते हैं, और उनसे ऋषियों का बोध होता है, उनका अर्थ 'मन्त्रद्रष्टा' ही समझना चाहिये। इस प्रकार साम्प्रतिक आर्य विद्वानों ने 'दृश्' और 'कृ' धातु के प्रयोगों का सामंजस्य करने का प्रयत्न किया है।

परन्तु इस विषय में एक बात कही जा सकती है, धातुओं के अनेकार्थक होने से 'कृ' धातु जैसे अनेकार्थक है, उसी तरह 'दृश' धातु को भी तो अनेकार्थक कहा जा सकता है। यदि अनेकार्थक होने से 'कृ' का अर्थ 'दर्शन' करते हो, तो अनेकार्थक होने से ही 'दृश' का अर्थ भी 'अपूर्वोत्पादन' क्यों नहीं हो सकता? अभिप्राय यह है, कि अनेकार्थक हेतु दोनों ही के लिये समान है। वह किसी एक विशेष अर्थ को सिद्ध नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में फिर यही बात विचारणीय रह जाती है, कि 'दृश' और 'कृ' धातुओं के विभिन्न प्रयोगों का सामञ्जस्य क्या?

जो विद्वान् 'कृ' के मुख्यार्थ को स्वीकार कर इन प्रयोगों का सामञ्जस्य करते हैं, उनका अभिप्राय यह है, कि मन्त्रों अथवा सूक्तों के साथ जिन ऋषियों का वैदिक साहित्य में निर्देश किया जाता है वे ऋषि उन मन्त्रों अथवा सूक्तों के कर्त्ता अर्थात् रचयिता हैं। उन्होंने ही अपने २ भिन्न समयों में इन मन्त्रों अथवा सूक्तों की रचना की है, और बाद में विद्वानों ने उनका संग्रह कर दिया है, वही संग्रह आज एक ऋग्वेद है। परन्तु जो विद्वान् 'दृश्' के मुख्यार्थ को स्वीकार कर इन प्रयोगों का सामञ्जस्य

करते हैं, उनका अभिप्राय यह है, कि मन्त्रों या सूक्तों के साथ जो ऋषि लगे हैं, वे मन्त्रों के रचयिता नहीं, प्रत्युत मन्त्रार्थों के द्रष्टा हैं, मन्त्र उनसे पुराना और बहुत पुराना है। इस प्रकार इन दोनों धातुओं के प्रयोग परस्पर इतने विरुद्ध अर्थों में हैं, कि इनका सामञ्जस्य अनायास ही नहीं कहा जा सकता। अभिप्राय यह है, कि इस विषय पर गंभीरता पूर्वक विवेचन होना चाहिये, और कोई ऐसा मार्ग प्रदर्शित होना चाहिये, जिसमें कोई अस्वाभाविक अथवा क्लिष्ट कल्पना न करनी पड़े।

इसमें कोई सन्देह नहीं, कि इन धातुओं का इस रूप में प्रयोग, साहित्य में इस प्रकार हुआ है, जैसे दूध में पानी। अर्थात् इनको विभिन्नता का विवेचन करना ज़रा टेढ़ी खीर है। हमारा तात्पर्य यह है, कि इन धातुओं का प्रयोग साहित्य में इतनी समानता के साथ हो रहा है, कि इन दोनों में से हम किसी एक को हटा कर दूसरे की निर्बाध स्थापना नहीं कर सकते। अर्थात् यह नहीं किया जा सकता, कि 'दृश' को बिल्कुल निकाल कर बाहर किया जाय, और 'कृ' के मुख्यार्थ से काम चल जाय, अथवा 'कृ' को निकाल बाहर फेंका जाय, और केवल 'दृश' के ही मुख्यार्थ से काम चल जाय। इस प्रकार 'दृश्' और 'कृ' के मिले जुले प्रयोग को दिखलाने के लिये दो एक उदाहरण हम यहां विद्वज्जनों की सुविधा के लिये उद्धृत करते हैं—

मनुष्यत्वे मन्त्रकृत ऋषयः परिकीर्तिताः। आर्षेयवरणं तेषां तथा च ब्राह्मणं शृणु ॥
न 'मन्त्रदर्शनात्' पूर्वमृषित्वं प्रत्यपद्यत। [माधवानुक्रमणी, ५।७।१,२]

यहां प्रथम पद्य में ऋषियों को 'मन्त्रकृत' कहा गया है। और उसके साथ ही अगले पद्य में 'मन्त्रदर्शन' से पूर्व ऋषि होने का निषेध किया जा रहा है। अर्थात् मन्त्रों का द्रष्टा हुए बिना कोई व्यक्ति ऋषि नहीं कहा जा सकता। इसी तरह आगे माधव पुनः लिखता है—

तादृशान् ददृशुर्मन्त्रान्। [५।७।१४] काण्डान्यकुर्वन्नृषयः। [५।७।१६]
भूयोभूयस्तपस्तप्त्वा वेदान्नानाविधानिति। ऋषयो ददृशुः पूर्वे तंतमर्थमभीप्सवः ॥ [५।७।२६]

यहां पर भी 'दृश्' और 'कृ' धातु का प्रयोग इस प्रकार किया जा रहा है, जैसे इनमें कुछ विभिन्नता ही न हो। ऐसे प्रयोगों से सम्पूर्ण साहित्य भरा पड़ा है। यहां हमने दिग्दर्शन मात्र के लिये उक्त उदाहरण दे दिये हैं। इस प्रकार 'दृश' और 'कृ' धातु के प्रयोगों की संगति लगाना आवश्यक हो जाता है, यह तो कहा ही नहीं जा सकता, कि इस प्रकार के प्रयोग असंगत होंगे। इस लिये इसके सम्बन्ध में हमारा जो कुछ विचार है, वह हम विद्वानों के सम्मुख संक्षेप में ही उपस्थित किये देते हैं।

निरुक्तकार यास्क ने देवताओं के सम्बन्ध में विचार करते हुए सप्तमाध्याय के प्रारम्भ में लिखा है—

यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति।

जिस कामना से युक्त हुआ २ ऋषि, जिस देवता के विषय में अर्थ स्वामिता की इच्छा रखता हुआ, स्तुति का प्रयोग करता है, वह मन्त्र उसी देवता वाला कहा जाता है। इस वाक्य में 'ऋषि... स्तुतिं प्रयुङ्क्ते' ये पद विचारणीय हैं। 'ऋषि स्तुति का प्रयोग करता है। प्रयोग करने का अभिप्राय उच्चारण करना ही हो सकता है, वह स्तुति का उच्चारण मन्त्रोच्चारण के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

इसी लिये अन्त में इस वाक्य का उपसंहार करते हुए यास्क लिखता है—'तद्दैवतः स मन्त्रो भवति'। यहां 'स मन्त्रः' में 'तत्' पद इस बात का निर्देश कर रहा है, कि यह मन्त्र वही है, जिसका ऋषि ने स्तुति रूप में प्रयोग किया है। इसका अभिप्राय यही निकलता है, कि ऋषि, देवताओं की स्तुति के लिये मन्त्रों का प्रयोग करते हैं, अर्थात् उच्चारण करते हैं।

मन्त्रों का उच्चारण करना और उनके अर्थों का साक्षात्कार करना, ये दो बातें हैं पृथक् २। इसी आधार पर मन्त्रों का प्रयोग उच्चारण अथवा अभ्यास करने के अर्थ में 'कृ' धातु का प्रयोग है और मन्त्रार्थों के साक्षात्कार करने में 'दृश' धातु का प्रयोग, ऐसा हमारा विचार है। वेदों के शब्दाभ्यास और अर्थों के साक्षात्कार इन दोनों ही बातों पर ऋषित्व अवलम्बित है। पहिली बात ऋषित्व की पहिली सीढ़ी है, और दूसरी बात अन्तिम सीढ़ी।

इस प्रसंग में हम विद्वानों का ध्यान, आचार्य पाणिनि के 'तदधीते तद्वेद' इस सूत्र की ओर भी आकर्षित करना चाहते हैं। किसी विषय का अध्ययन और उसका ज्ञान उस विषय के ज्ञाता होने के प्रयोजक हैं। यहां 'अधीते' क्रियापद 'पठति' के अर्थ में प्रयुक्त है। 'पठ्' का अर्थ व्यक्त वाणी और शब्दग्रन्थन धातुपाठ में निर्देश किया गया है, इसका सम्बन्ध उच्चारण से अधिक है, अर्थ से नहीं। अर्थ के लिये 'वेद' पृथक् क्रियापद है। हमारा अभिप्राय यही है, कि मन्त्र का उच्चारण या अभ्यास और उसके अर्थों का साक्षात्कार, ये दोनों ही बातें ऋषित्व की प्रयोजक हैं। इसीलिये प्राचीन साहित्य में ऋषियों के लिये 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रद्रष्टा' दोनों पद समान रूप से आते हैं।

जहाँ अर्थ के निर्देश की प्रधानता अपेक्षित होती है, वहां प्रायः 'मन्त्र' के साथ 'दृश' धातु का प्रयोग देखा जाता है, और इसीतरह पाठमात्रप्राधान्य की अपेक्षा में 'कृ' धातु का प्रयोग। यह बात ऊपर उद्धृत किये हुए माधव के श्लोकों से भी लक्षित होती है। अब आप सम्पूर्ण साहित्य में आये हुए 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रदृश' पदों के प्रयोगों का विवेचन कर सकते हैं। आप देखेंगे, कि 'मन्त्रकृत्' का प्रयोग ऐसे ही स्थानों में होगा, जहां मन्त्र का उच्चारण अथवा अध्ययन आदि ही अपेक्षित है। और जहाँ मन्त्रार्थों के साक्षात्कार का निर्देश अपेक्षित होगा, वहां आप 'मन्त्र' पद के साथ 'दृश' धातु का प्रयोग पायेंगे। इस प्रकार विवेचन करने पर इन दोनों ही प्रयोगों में कोई विरोध नहीं रहता, और न किसी अन्य प्रकार की आशंका का अवकाश रहता है। यदि हम इसका और सूक्ष्म विवेचन करें, तो कह सकेंगे, कि अर्थ साक्षात्कार के लिये 'मन्त्र' पद के साथ केवल 'दृश' धातु का प्रयोग, और इसके अतिरिक्त शेष सब ही पदों का [मन्त्रकृत्, मन्त्रकार, मन्त्रवान्, मन्त्रपति आदि पदों का] प्रयोग, मन्त्रों के उच्चारण अथवा अभ्यास मात्र के लिये ही होगा। सप्तमाध्याय के प्रथम प्रकरण का उपसंहार करते हुए यास्क ने भी लिखा है—

"एवमुच्चावचैरभिप्रायैर्ऋषीणां मन्त्रदृष्टयो भवन्ति।"

वेंकट माधव ने एक और स्थल पर लिखा है—

"नानाविधैरभिप्रायैर्मन्त्रा दृष्टा महर्षिभिः।" इत्यादि [माधवानुक्रमणी ८।१।१]

ऋषि, मन्त्रों के कर्त्ता अर्थात् रचयिता हैं, उच्चारयिता अथवा प्रयोक्ता नहीं; इस सम्बन्ध में एक बात और भी कही जाती है। ब्राह्मणग्रन्थों में अनेक स्थलों पर 'ऋषिणोक्तम्' या 'तदुक्तमृषिणा'

इत्यादि वाक्य लिखकर आगे मन्त्र लिखे हुए मिलते हैं। इससे यह अभिप्राय निकाला जाता है, कि ऋषि ने मन्त्र की रचना की। ये वाक्य, इस तरह के लौकिक वाक्यों के समान ही हैं, जैसे कहीं 'तदुक्तं पाणिनिना' कह कर "वृद्धिरादैच्" सूत्र उद्धृत किया हुआ हो। यह सम्भव है कि ब्राह्मण ग्रन्थों में किसी ऋषिविशेष का नाम लेकर मन्त्र का उद्धरण न मिलता हो, जैसा कि 'विश्वामित्रेणोक्तम्' अथवा 'वशिष्ठेनोक्तम्' कह कर आगे मन्त्र का निर्देश किया जाय; परन्तु अन्य ग्रन्थों में कहीं २ ऐसा भी उल्लेख पाया जाता है, अनुक्रमणीकार वेंकट माधव ने एक स्थल पर लिखा है—

समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः। इतीममर्थं प्रोवाच दीर्घतमा मामतेयः॥ [७।६।२]

"समानमेतदुदकमुच्चैत्यव चाहभिः" [ऋ० १।१६४।५१] इस मन्त्र के द्वारा ममता के पुत्र दीर्घतमा ऋषि ने इस अर्थ का कथन किया है। यहां स्पष्ट ही दीर्घतमा ऋषि का नाम लेकर उसे मन्त्र का वक्ता अर्थात् साधारण प्रयोगानुसार रचयिता कहा गया है।

परन्तु माधव के इस कथन में अथवा ब्राह्मण ग्रन्थों के उपर्युक्त निर्देशों में भी किसी शब्द से यह बात स्पष्ट नहीं होती, कि ऋषियों ने मन्त्र की रचना की। दीर्घतमा के इस प्रसंग में तो 'अर्थ' पद को रख कर इस बात को और भी स्पष्ट कर दिया है कि दीर्घतमा ने ऋचा के द्वारा अमुक अर्थ का प्रवचन किया, अर्थात् मन्त्र के द्वारा उस विशेष अर्थ का निरूपण किया है। अभिप्राय यह है कि इस लेख से उसे मन्त्रार्थ का द्रष्टा बताया गया है, मन्त्र का रचयिता नहीं। यद्यपि वह मन्त्र का प्रवक्ता अथवा प्रयोक्ता अवश्य है। इससे हमारा तात्पर्य इतना ही है, कि वह मन्त्र में कवि-निबद्ध वक्ता है ही।

अर्थ का प्रतिपादन हम शब्द के ही द्वारा कर सकते हैं। कोई भी वक्ता जब किसी अर्थ के प्रकाशन का संकल्प करता है, तो वह स्वरचित वाक्य विन्यास के द्वारा ही संकल्पित अर्थ का प्रकाशन कर पाता है। परन्तु वैदिक वाक्य अर्थात् उस आनुपूर्वी के द्वारा प्रतिपादित अर्थ के सम्बन्ध में यह बात नहीं कही जा सकती। वेदानुपूर्वी पहिले से विद्यमान स्वतः सिद्ध ईश्वरीय अथवा अमानुष है। वेद के मानने और जानने वाले ऋषियों ने वैदिक आनुपूर्वी को लौकिक वाक्य से सदा भिन्न समझा है। महाभाष्यकार पतंजलि मुनि ने 'केषां शब्दानाम्?' के आगे स्पष्ट ही 'लौकिकानां वैदिकानां च' लिखा है। लौकिक वैदिक वाक्यों की समानता में यह सब अनर्थक था। पाणिनि ने भी सर्वत्र छन्दस् और वेद आदि का निर्देश करके लौकिक वाक्य रचना से, वेद की स्थिति सर्वथा पृथक् बताई है, पाणिनि ने लौकिक रचना के लिये 'भाषा' पद का प्रयोग किया है, यह बात वेद के लिये नहीं है। इसलिये लौकिक और वैदिक वाक्यों की इस विशेषता पर ध्यान देते हुए, हम यह कह सकते हैं, कि माधव के उक्त पद्य में भी दीर्घतमा के अर्थद्रष्टा होने का ही आभास दिया गया है, मन्त्र-चयिता होने का नहीं।

वेंकट माधव ने अपने ग्रन्थ में इस अर्थ का निर्देश, केवल 'वच्' धातु से ही नहीं, प्रत्युत 'इर्' धातु के द्वारा भी प्रकट किया है। उसने लिखा है—

'तदेतद्दीर्घतमसा विस्पष्टमृषिणेरितम्। वदतेन्द्रं मित्रमिति।

अभिप्राय यह है, कि 'वच्' और 'ईर्' आदि धातुओं का 'अपूर्वोत्पादन' अर्थ नहीं किया जा सकता' इस प्रकार के निर्देश हमें इस परिणाम पर ले जाते है, कि मन्त्रों के साथ ऋषियों का सम्बन्ध केवल प्रवक्तृत्व का अथवा उनके गूढ़ रहस्यों के विशदीकरण का है। पहिला सम्बन्ध, कवि-निबद्ध

है, तथा दूसरा भगवान् की कृपा अपनी अलौकिक प्रतिभा और तपस्या का परिणाम है। इसलिये जहां भी कहीं साहित्य में ऋषियों को मन्त्र का कर्त्ता अथवा वक्ता कहा है, वह सब 'कवि निबद्ध वक्ता*' कहे जाने में ही पर्यवसित हो जाता है।

आर्य साहित्य में ऐसे उल्लेख भी कम नहीं, जिनमें यह निर्देश किया गया है, कि अमुक ऋचा या सूक्त के द्वारा अमुक देवता की स्तुति की। और इसके अतिरिक्त उस ऋचा का भिन्न अर्थों में भी विनियोग अन्यत्र ग्रन्थों में पाया जाता है, हमारा अभिप्राय यह है, कि एक ऋचा या सूक्त का विनियोग भिन्न २ ऋषियों के द्वारा भिन्न २ अर्थों में देखा जाता है। इसके दो एक उदाहरण हम यहां उपस्थित करते हैं। वेंकट माधव अपनी अनुक्रमणी में लिखता है—

बृहस्पतिस्तु सामान्यादस्तौद् विद्वांसमेतया।
ब्राह्मणे विनियुक्तैषा सोमे विदुषि राजनि ॥ [८।६।११]

बृहस्पति ऋषि ने 'सर्वे नन्दन्ति यशसा' [ऋ० १०।७१।१०] इस ऋचा के द्वारा विद्वान् की स्तुति की है। अर्थात् बृहस्पति के विचार से विद्वान् की स्तुति में इस ऋचा का विनियोग है, अथवा यों कह सकते हैं, कि बृहस्पति ऋषि इस ऋचा का देवता 'विद्वान्' मानता है। परन्तु 'सर्वे नन्दन्ति यशसा गतेनेत्यन्वाह 'यशो वै सोमो राजा' इत्यादि ऐतरेय ब्राह्मण [१।१३।७] में विद्वान् के अतिरिक्त सोम राजा को इस ऋचा का देवता माना है। इसी तरह के एक और स्थल का भी माधव ने अपनी अनुक्रमणी में उल्लेख किया है—

त्रैशोकेन तृचेनास्तौदैन्द्रेण प्रतिसत्रिणः। ऋषिरन्य इध्मवाह आ घा ये अग्निमिन्धते॥

'आ घा ये' [ऋ० ८।४५।१] इत्यादि तीन ऋचाओं के द्वारा, जिनका ऋषि त्रिशोक और देवता इन्द्र है, इध्मवाह नामक एक अन्य ऋषि ने प्रतिसत्रियों की स्तुति की। इस अर्थ को शाट्यायन ब्राह्मण ने स्पष्ट किया है, वहां लिखा है—

'ऋषयो वै स्पर्धयन्त इध्मवाहं समिद्धारं परेतमरण्य एकमजहुः।
सोऽकामयत। अनुपतेयं स्वर्गं लोकम्। प्रतिसत्रिणोऽभिसंगच्छेयमिति।
स ऐक्षत। हन्त प्रतिसत्रिण एवं स्तवानि,' इत्यादि।

अर्थात् ऋषिजन, वृद्धि को प्राप्त होते हुए इध्मवाह नामक ऋषि से ईर्ष्या करने लगे, और उसे अकेले जंगल में छोड़ गये। उसने अक्षय स्वर्ग की कामना की, और चाहा कि मैं प्रतिसत्रियों को प्राप्त हो जाऊँ। उसने विचार किया, और जान लिया, कि इस प्रकार प्रतिसत्रियों की स्तुति करूँ। और उसने उपर्युक्त तीन ऋचाओं के द्वारा उनकी स्तुति की। इन उद्धरणों के आधार पर हम

* जिस प्रकार पञ्चतन्त्र आदि में करटक, दमनक, मेघवर्ण आदि पशु पक्षियों के नाम रखकर उनके मुख से कथा प्रसंग अथवा वार्त्तालाप आदि ग्रन्थ कर्त्ता के द्वारा कहलाये गये हैं, वस्तुतः वे उन वाक्यों के रचयिता नहीं है, वे केवल कवि के द्वारा वक्ता रूप में उपस्थित किये गये हैं, इसलिये कवि-निबद्ध वक्ता कहे जा सकते हैं। अथवा जैसे किसी भी नाटक में पात्र भाषण करते हैं, वह सब कवि की ही रचना होती है, और वे पात्र भी कवि-निबद्ध ही होते हैं, इसी प्रकार वेद में भी ये ऋषि कवि-निबद्ध वक्ता हैं, अचिन्त्यशक्ति भगवान् ही वेदों का कवि हैं।

इसी परिणाम पर पहुंचते हैं कि ऋचा जिस प्रकार पहिले से विद्यमान है, उनके द्वारा ऋषि जन भिन्न भिन्न देवताओं की स्तुति करते रहे हैं। ऋचाओं की रचना में उनका कोई भाग नहीं। यास्क ने भी इसी अर्थ को 'यत्काम ऋषिः' इत्यादि उपक्रम वाक्य में ध्वनित किया है, और 'एवमुच्चावचैः' इत्यादि उपसंहार वाक्य में इसका स्पष्टीकरण कर दिया है।

फिर भी 'आ घा ये' इत्यादि उद्धारणों में एक बात विचारणीय है। वेदों में सूक्त के प्रारम्भ में जो ऋषि लिखे हुए रहते हैं, उनमें 'आ घा ये' इत्यादि ऋचाओं का ऋषि त्रिशोक ही है, वहां इध्मवाह का नाम नहीं है। इससे यही प्रतीत होता है, कि ऋचाओं का रचयिता होने के कारण त्रिशोक का नाम वहां उल्लिखित है, इध्मवाह का नहीं।

इस प्रकार की आशंकाओं के समाधान के लिये एक विचार यह उपस्थित किया जाता है, कि जिन ऋषियों ने सर्वप्रथम एक या अनेक जिन मन्त्रों के अर्थों का साक्षात्कार किया, उन्हीं के नाम मन्त्रों के प्रारम्भ में उल्लिखित हैं। अनन्तर हुए अन्य अर्थसाक्षात्कर्त्ताओं के नहीं। क्योंकि उपर्युक्त मन्त्रों के द्वारा इध्मवाह के देवतास्तवन का अपलाप तो किया ही नहीं जा सकता। अन्यथा भिन्न २ ऋषियों के द्वारा उन्हीं मन्त्रों से भिन्न २ देवताओं के स्तवन का प्रतिपादक ब्राह्मणग्रन्थ असंगत हो जायगा।

इसी विचार की पुष्टि में ऋषि दयानन्द का एक लेख उपस्थित किया जाता है, सत्यार्थ प्रकाश के सप्तम समुल्लास में लिखा है—'जिस २ मन्त्रार्थ का दर्शन जिस ऋषि को हुआ और प्रथम ही जिसके पहिले उस मन्त्र का अर्थ किसी ने प्रकाशित नहीं किया था, किया और दूसरों को पढ़ाया भी, इसलिये अद्यावधि उस २ मन्त्र के साथ ऋषि का नाम स्मरणार्थ लिखा आता है।' इससे यह स्पष्ट ही परिणाम निकलता है कि जिन्होंने सर्वप्रथम मन्त्रार्थ का दर्शन और प्रकाशन किया, तथा दूसरों को अध्ययन भी कराया, उन्हीं के नाम उन २ सूक्तों या मन्त्रों के साथ ऋषि-रूप में उल्लिखित हैं। इसीलिये 'आ घा ये' इत्यादि स्थलों में ऋषि के स्थान पर त्रिशोक का ही नाम है, इध्मवाह का नहीं।

परन्तु इस विचार पर एक आशंका और उपस्थित की जाती है। गोपथ ब्राह्मण में लिखा है—

"तान् वा एतान् संपातान् विश्वामित्रः प्रथममपश्यत्—'एवा त्वामिन्द्र वज्रिन्' [ऋ० ४।१९।...]....तान् विश्वामित्रेण दृष्टान् वामदेवो असृजत।" [६।१]

'एवा त्वामिन्द्र' इत्यादि सम्पातमन्त्रों का विश्वामित्र ने पहिले दर्शन [अर्थसाक्षात्कार] किया।.....विश्वामित्र के द्वारा देखे हुए उन मन्त्रों को वामदेव ने रचा था। इस ब्राह्मण वाक्य में ऋग्वेद चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त का प्रथम द्रष्टा विश्वामित्र को बताया है। अब यदि मन्त्रों के साथ ऋषियों के निर्देश का यही कारण बताया जाय, जैसा कि हमने पूर्व एक विचार प्रकट किया है, और जिसमें ऋषि दयान्द की भी संमति है, तो इस चतुर्थ मण्डल के १९ वें सूक्त का ऋषि विश्वामित्र ही होना चाहिये। परन्तु ऐसा है नहीं, अनुक्रमणीकारों ने इस सूक्त का ऋषि वामदेव ही माना है।

उक्त ब्राह्मण सन्दर्भ में 'तान.....वामदेवो असृजत' यह एक अवान्तर वाक्य है। इसके आधार पर अनेक विद्वान् यह भी कहते हैं, कि उन मन्त्रों का निर्माण वामदेव ने किया है। इस

लिये सूक्त का ऋषि वामदेव ही हो सकता है, अर्थात् वामदेव उन मन्त्रों का रचयिता है। यह अर्थ 'असृजत' इस क्रियापद के द्वारा अत्यन्त स्पष्ट हो रहा है। हमने भी प्रथम ब्राह्मण वाक्य का अर्थ करते हुए 'सृज्' का अर्थ रचना ही किया है। इस प्रसंग में 'असृजत' क्रियापद के प्रयोग पर विचार कर लेना भी उपयुक्त होगा।

अनेक आर्य विद्वानों ने 'असृजत' का अर्थ 'जन साधारण में फैला दिया' किया है। इसी आधार पर यह भी कहा जाता है, कि 'मन्त्रों के ऊपर जो ऋषि लिखे हैं उनका नाम मन्त्रार्थ द्रष्टा होने से ही नहीं लिखा गया, प्रत्युत सब से पहिले मन्त्रार्थ प्रचारक होने से भी लिखा गया है।' उपर्युक्त ब्राह्मण वाक्य में प्रयुक्त 'प्रथमम्' पद के आधार पर यह भी परिणाम निकाला जाता है, कि 'प्रथमं.....शब्द का प्रयोग करने से ब्राह्मणकार का यही अभिप्राय है कि वामदेव ने भी उन ऋचाओं को देखा था, पर सब से पूर्व विश्वामित्र ने ही उन्हें देखा।' अब यदि 'असृजत' क्रियापद का उक्त अर्थ ही स्वीकार कर लिया जाय, तो भी आशंका पूर्ववत् ही बनी रहती है, इससे मूल आशंका का कोई समाधान नहीं हो पाता। क्योंकि—

विश्वामित्र=सर्व प्रथम मन्त्रार्थ का द्रष्टा, और—

वामदेव=मन्त्र का प्रचारक (जनसाधारण में फैला देने वाला), संभवतः द्रष्टा भी है।

ये ही दोनों साधन, मन्त्र के साथ ऋषि-निर्देश के नियामक हैं, तब चतुर्थ मण्डल के १६ वें सूक्त के विश्वामित्र और वामदेव दोनों ही ऋषि होने चाहियें। जो विश्वामित्र सर्वप्रथम मन्त्रार्थ का द्रष्टा है, वह तो सूक्त का ऋषि न हो; और वामदेव, जिसने केवल मन्त्रों का प्रसार किया, वह इस सूक्त का ऋषि माना गया, यह बात कैसे युक्तिसंगत कही जा सकती है? ऐसी स्थिति में 'असृजत' क्रियापद का उक्त अर्थ कर लेने पर भी इस आशंका का समाधान नहीं हो पाता, कि इस सूक्त का ऋषि विश्वामित्र क्यों नहीं?

इसके अतिरिक्त समाधान के उक्त रूप में एक आपत्ति और भी उपस्थित होती है। यदि मन्त्रों के साथ ऋषि-निर्देश के दोनों पूर्वोक्त कारण उसी रूप में मान लिये जायें, तो वेद में इस बात का विवेचन करना अत्यन्त अशक्य हो जायगा, कि किस मन्त्र या सूक्त के साथ, अर्थद्रष्टा होने से ऋषि का सम्बन्ध है, और किस मन्त्र या सूक्त के साथ उसका फैलाने वाला होने से? इसकी कोई भी कसौटी आज तक किसी के पास नहीं है। इस अव्यवस्था के कारण फिर तो विपक्षियों का यही मत अधिक पुष्ट दीखने लगेगा, कि जो ऋषि जिस मन्त्र या सूक्त का रचयिता है, उसी मन्त्र या सूक्त के साथ उस ऋषि का निर्देश कर दिया गया है। और यहां पर यह 'असृजत' क्रियापद इस बात में स्पष्ट प्रमाण है। ऐसी स्थिति में आवश्यक हो जाता है, कि मन्त्रों के साथ ऋषियों का क्या सम्बन्ध है, इस पर और अधिक प्रकाश डाला जाये।

इन आशङ्काओं के समाधान के लिये एक दूसरा विचार इस प्रकार उपस्थित किया जाता है। अनुक्रमणीकारों ने कहा है—'यस्य वाक्यं स ऋषिर्या तेनोच्यते सा देवता'। जिसका वाक्य है, वह ऋषि; और जो उस वाक्य से कहा जाय वह देवता है। 'जिसका वाक्य' से तात्पर्य यही है, कि जो उस वाक्य का कवि-निबद्ध वक्ता, उच्चारयिता अथवा प्रयोक्ता है। सम्पूर्ण वेदराशि एक ही कवि की कृति है। वह कवि क्रान्तदर्शी अचिन्त्यशक्ति परमात्मा के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं। वही, प्रत्येक महासर्ग के प्रारंभ

में वेद का प्रकाश करता है। उसी के द्वारा मंत्र या सूक्तों के प्रवोक्ता भी उन २ स्थलों पर निर्दिष्ट किये हुए हैं, जो कि कल्पकल्पान्तर में भी मन्त्र के समान ही स्थायी हैं। वे ही उन सूक्त अथवा मन्त्रों के ऋषि हैं।

अनन्तर जो ऋषि, तप और विचार शक्ति के द्वारा मन्त्रार्थों के द्रष्टा होते हैं, वे उन्हीं नामों से पुकारे जाते हैं, जो नाम कवि ने उस मन्त्र या सूक्त के वक्ता रूप में निर्दिष्ट किये हुए हैं। यह एक विशेष ध्यान देने योग्य बात है, कि जो अर्थ-द्रष्टा ऋषि हुए हैं, उनके अपने पहिले सांस्कारिक नाम और थे। अर्थ-द्रष्टा होने पर उनके वही नाम हो गये, जो उन २ मन्त्रों या सूक्तों में ऋषि वाचक पद आये हैं, अथवा जो नाम वक्तारूप में निर्दिष्ट किये गये हैं। यह विचार रखने वाले विद्वानों का संक्षेप में यही आशय है, कि मन्त्रों में कवि-निबद्ध वक्ता ही मन्त्रों के ऋषि हैं। इसी सम्बन्ध में प्रामाणिकों की एक प्रसिद्ध उक्ति भी उद्धृत की जाती है—

'ऋषीणां नामधेयानि याश्च वेदेषु दृष्टयः।
शर्वर्यन्ते प्रसूतानां तान्येवैभ्यो ददात्यजः॥

ऋषि दयानन्द का अर्थ-द्रष्टृत्ववाद भी इसी में पर्यवसित हो जाता है। जो सन्दर्भ हमने अभी सत्यार्थप्रकाश के सप्तम समुल्लास से उद्धृत किया है, उसका व्याख्यान इसी आशय को लेकर संगत हो सकता है। क्योंकि जो ऋषि, सर्वप्रथम मन्त्रार्थद्रष्टा और उपदेष्टा हुए, उनके वही नाम प्रसिद्ध हुए, जो उन २ स्थलों में ऋषियों के लिये निर्दिष्ट थे, और वे ही आज तक अनुक्रमणियों, ब्राह्मणों तथा अन्य अतिरिक्त स्थानों में लिखे चले आते हैं।

इस विचार की पुष्टि में चतुर्थ मण्डल के १९वें सूक्त का ऋषि-सम्बधी विवेचन भी एक उपोद्बलक प्रमाण है। वामदेव, कवि-निबद्ध वक्ता होने से सूक्त का ऋषि है। विश्वामित्र ने, सर्वप्रथम सूक्त का द्रष्टा होने पर भी अपने आप को विश्वामित्र नाम से ही प्रसिद्ध किया, वामदेव नाम से नहीं। इसलिये सूक्त का ऋषि तो वामदेव ही हो सकता था, पर विश्वामित्र के अर्थ-द्रष्टा होने को भी भुलाया नहीं जा सकता था, इसीलिये ब्राह्मणग्रन्थों में विश्वामित्र के अर्थ-द्रष्टृत्व का पृथक् निर्देश कर दिया गया।

यही बात 'आ घा ये' इत्यादि सूक्त के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। त्रिशोक, इस सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता होने से ऋषि है। इध्मवाह ने इस सूक्त के द्वारा प्रतिसत्रियों की स्तुति की। और वह इध्मवाह नाम से ही प्रसिद्ध रहा। परन्तु उसके इस स्तवन को भी भुलाया नहीं जा सकता था, इसलिये ब्राह्मण ग्रन्थों में उसका पृथक् निर्देश कर दिया गया। इससे यही परिणाम निकलता है, कि अर्थ-द्रष्टा होने पर भी जिन ऋषियों ने अपने सांस्कारिक नामों को नहीं छोड़ा, उनका ब्राह्मणादि ग्रन्थों में पृथक् निर्देश कर दिया गया है। क्योंकि उनके अर्थ-द्रष्टृत्व का भी अपलाप नहीं किया जा सकता था। ब्राह्मण काल तक यह इतिहास परम्परा निरन्तर चली आती रही होगी। जो ऋषि अर्थ-द्रष्टा होने पर, मन्त्रसम्बद्ध ऋषिवाचक नामों से विख्यात हुए, वे वैदिक ऋषियों में निर्दिष्ट हैं ही। यद्यपि आज हमारे पास ऐसा इतिहास नहीं है, जिससे उन सब ऋषियों के सम्बन्ध में हम यह जान सकें, कि अर्थ-द्रष्टा होने से पूर्व उनका अपना सांस्कारिक नाम क्या था? और उसकी क्या स्थिति थी। परन्तु वैदिक साहित्य से कुछ ऋषियों के सम्बन्ध में ऐसी सूचनायें अवश्य प्राप्त हो जाती हैं, जिनमें से दो तीन के

सम्बन्ध में अभी ऊपर हम निर्देश कर चुके हैं। और यत्न करने पर और भी अनुसन्धान किया जा सकता है।

फलतः यह बात अब निश्चित रूप से कही जा सकती सकती है, कि इन ऋषियों का मन्त्र-रचना से कोई सम्बन्ध नहीं है। ये केवल मन्त्रों के वक्ता, उच्चारयिता अथवा अर्थ-द्रष्टा हैं। इसीलिये गोपथ ब्राह्मण के 'वामदेवो असृजत' इस वाक्य में 'असृजत' क्रियापद का अर्थ 'अवोचत्' अथवा 'उच्चारयत्' ही होना चाहिये, अन्य कुछ नहीं, अर्थान्तरों की कल्पना करना व्यर्थ है, और संगति-पूर्ण भी नहीं कही जा सकती। अब हमारे सामने दो ही स्थितियां हैं—'मन्त्र' पद के साथ 'कृ' धातु का अथवा ज्ञानार्थक धातु के अतिरिक्त अन्य किसी भी धातु का प्रयोग केवल उच्चारण की प्रधानता को प्रकट करने के लिये; और 'दृश्' धातु का प्रयोग, अर्थ की प्रधानता को प्रकट करने के लिये होता है। यही एक ऐसा निर्णीत मार्ग हो सकता है, जिसमें न किसी धातु के अर्थान्तर की कल्पना करनी पड़ती है, और न किसी तरह का कहीं असांगत्य होता है।

अब हम विद्वज्जनों के विचार करने में सुविधा के लिये, वैदिक साहित्य से कुछ ऐसे उद्धरण उपस्थित करते हैं, जिनमें 'मन्त्रकृत्' अथवा 'मन्त्रकार' पदों का प्रयोग किया गया है, और जिनके आधार पर आधुनिक अनेक विद्वान् यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं, कि ऋषि-जन मन्त्रों के रचयिता ही हैं। उनमें से कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं—

(१) ऋषे मन्त्रकृतां स्तोमैः कश्यपोद्वर्धयन् गिरः। [ऋ० ९।११४।२]

(२) शिशुर्वा आङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत्। स पितॄन् पुत्रका इत्यामन्त्रयत।
[तां० ब्रा० १३।३।२४]

(३) देवा ह वै सर्वचरौ सत्रं निषेदुः। ते ह पाप्मानं नापजघ्निरे। तान् होवाचार्बुदः काद्रवेयः सर्प ऋषिर्मन्त्रकृत्। [ऐ० ब्रा० ६।१]

(४) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। मा मामृषयो मन्त्रकृतो मन्त्रपतयः परादुः। माहमृषीन् मन्त्रकृतो मन्त्रपतीन् परादाम्। [तै० आ० ४।१।१]

(५) मन्त्रकृतो वृणीते 'यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत' इति विज्ञायते। [आप० श्रौ० २४।५।६]

(६) अथ येषामु ह मन्त्रकृतो न स्युः सपुरोहितप्रवरास्ते प्रवृणीरन्।
[आप० श्रौ० २४।१०।१३]

(७) इत ऊर्द्ध्वान् मन्त्रकृतोऽध्वर्युर्वृणीते। 'यथर्षि मन्त्रकृतो वृणीत' इति विज्ञायते।
[सत्या० श्रौ० २।१।३]

(८) नम ऋषिभ्यो मन्त्रकृद्भ्यो मन्त्रपतिभ्यः। [आ० श्रौ० ८।१४]

(९) दक्षिणत उदङ्मुखो मन्त्रकारः। [मा० गृ० १।८।२]

(१०) दक्षिणतस्तिष्ठन् मन्त्रवान् ब्राह्मण आचार्यायोदकाञ्जलिं पूरयेत्।
[मा० गृ० २।४।१०]

इन सब ही उद्धरणों में आये हुए 'मन्त्रकृत्' अथवा 'मन्त्रकार' पद का अर्थ आधुनिक विद्वान्, विशेषकर पाश्चात्य विद्वान्, 'मन्त्रों के रचयिता' ही करते हैं। परन्तु इन सब ही ब्राह्मण तथा श्रौत वा गृह्यसूत्रों के वाक्यों में यह उपर्युक्त अर्थ सर्वथा असंगत है। क्योंकि ये सब ही वाक्य, विशेष यज्ञों के प्रसंग में ही उन २ स्थलों में आये हैं और वहां प्रायः सब ही वाक्यों में 'मंत्रकृत्' पद का प्रयोग ऋत्विजों के लिये हुआ है। जिस तरह ये वाक्य ब्राह्मण या सूत्रकाल में लिखे गये थे, ठीक उसी तरह आज भी उन २ यज्ञ विशेषों में ऋत्विजों का वरण और उपस्थान करने के लिये प्रयुक्त किये जा सकते हैं। ऐसी स्थिति में यह कैसे माना जा सकता है, कि यहां पर 'मंत्रकृत्' आदि पदों से उन ऋषियों का ग्रहण है, जिन्होंने मंत्रों की रचना की थी। इसलिये यहां पर 'मंत्रकृत्' आदि पदों का 'मंत्र प्रयोक्ता' अर्थ करना ही उचित होगा। क्योंकि यज्ञों में ऋत्विजों का मन्त्रों के प्रयोग से ही विशेष सम्बन्ध होता है, अर्थदर्शन से नहीं।

इस प्रकार इन उद्धरणों का गम्भीरता पूर्वक विचार करने पर इसी परिणाम तक पहुँचा जा सकता है, कि ऋषित्व की कसौटी मंत्रों का वक्ता होना और मंत्रार्थ का साक्षात्कार करना है। इनमें ऋषि के मंत्र-प्रयोग रूप अर्थ को प्रकट करने के लिये प्राचीन वैदिक साहित्य में 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग होता रहा है और ऋषि के द्वारा वह मंत्रप्रयोग कवि-निबद्ध ही है। इसी प्रकार अर्थ-साक्षात्कार के लिये 'मंत्र-द्रष्टा' पद का प्रयोग होता रहा है, जैसा कि हम इस लेख में प्रथम ही निर्देश कर चुके हैं।

इस विचार का मूल ऋग्वेद का वह मन्त्र है, जिसको पूर्वोक्त उद्धरणों में सबसे प्रथम निर्दिष्ट किया गया है। इस मंत्र का अर्थ, वेदभाष्यकार वेंकट माधव ने [जो सायण से लगभग चार सौ वर्ष पुराना है] इस प्रकार किया है—

'ऋषे। कश्यप। मंत्रकृतामृषीणाम्। स्तोमैः। उपर्युपरि वर्धयन्। वाचः स्तुतिरूपाः। सोमम्। पूजय। राजानम्। यः। जातः। पतिः। वीरुधाम्।'

इस सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता=प्रयोक्ता ऋषि, कश्यप है, और अर्थद्रष्टा ऋषि का नाम भी कश्यप हो गया है। इस मंत्र में कश्यप ऋषि अपने भिन्न 'मंत्रकृत्' (ऋषियों) का निर्देश करता है, कश्यप ऋषि अपने आप को ही सम्बोधन करके कहता है—हे ऋषे कश्यप! मन्त्रकृत (ऋषियों) के स्तोमों से, (स्तुति रूप) वाणियों को, बहुत २ बढ़ाता हुआ, सोम राजा की पूजा कर, जो सब वीरुधों का पति है।' इस मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने में जो पद व्याख्याकार ने अपनी ओर से जोड़े हैं, उनको हमने कोष्ठ में रख दिया है। शेष सब, मंत्र पदों के सीधे व्याख्यान हैं।

यहां पर अब विमरणीय यह है, कि यदि सूक्तों पर लगे हुए ऋषि, सूक्त या मंत्रों के रचयिता ही माने जायें, तो इस सूक्त की अर्थ-संगति नहीं हो सकती, क्योंकि यहां कश्यप ऋषि, अपने से भिन्न 'मन्त्रकृत्' ऋषियों के स्तोमों से सोम की पूजा करने को कह रहा है। ऋषि द्वारा मन्त्ररचनापक्ष में, ऋषि को अपने ही रचित स्तोमों से देवता की पूजा करनी चाहिये। क्योंकि यदि वह अन्य रचित स्तोमों से देवता भी पूजा करेगा, तो वह ऋषि नहीं हो सकता। ऋषि तो वही है, जिसने मंत्र की रचना की है और यहां कश्यप ऋषि, जोकि स्वयं वेद-निर्दिष्ट ऋषि है, अपने से भिन्न 'मन्त्रकृत्' ऋषियों के स्तोमों से अपने आप को सोम की पूजा करने को कह

रहा है। इसलिये ऋषियों के द्वारा मन्त्र-रचना पक्ष में इस अर्थ की संगति नहीं हो सकती। परन्तु जब हम ऋषियों को कवि-निबद्ध वक्ता मानते हैं, तब इसकी संगति अत्यन्त स्पष्ट है। क्योंकि प्रस्तुत सूक्त का कवि-निबद्ध वक्ता ऋषि कश्यप, ऐसे प्रत्येक व्यक्ति का प्रतीक है, जो किन्हीं भी ऋषियों (कवि-निबद्ध वक्ताओं) के द्वारा उच्चरित वाणियों से सोम की पूजा करना चाहता है।

उक्त मन्त्र के आधार पर निम्न लिखित परिणाम निकलते हैं—

१. 'मंत्र' पद के साथ 'कृ' धातु का प्रयोग, मन्त्र के वक्ता अथवा प्रयोक्ता ऋषियों का निर्देश करता है। साथ के 'स्तोम' शब्द से जिसका सर्वथा स्पष्टीकरण हो जाता है। स्तोम, स्तुतिसमूह को कहते हैं, जो शब्दरूप हो सकता है। इससे शब्दरूप मन्त्र के वक्ता या प्रयोक्ता अर्थ को 'मंत्रकृत्' पद कहता है।

२. 'कश्यप' पद के साथ मन्त्र में ही 'ऋषि' पद का निर्देश किया गया है, जो साक्षात्करण अथवा अर्थदर्शन रूप भावों को स्पष्ट करता है।

३. व्याख्याकार ने व्याख्या करते हुए 'मंत्रकृत्' के साथ भी 'ऋषि' पद को जोड़ा है।

४. 'उद्वर्धयन्' मूल पद की 'उपर्युपरि वर्धयन्' यह व्याख्या, ऋषि के मंत्रार्थ-द्रष्टृत्व अथवा अर्थ विस्तार के भाव को स्पष्ट करती है।

इस मन्त्र में 'मन्त्रकृत्' पद के साथ 'स्तोम' शब्द का और 'कश्यप' के साथ 'ऋषि' तथा 'उद्वर्धयन्' पदों का सम्बन्ध विशेष ध्यान देने योग्य है। अन्य वैदिक साहित्य में भी इस प्रकार 'मन्त्रकृत्' पद के प्रयोग का यही मूल है। कालान्तर में 'मन्त्रकृत्' और 'मन्त्रद्रष्टा' पदों का प्रयोग पारस्परिक अर्थों को प्रकट करने के लिये, घुल मिलकर इस तरह होने लगा, कि दोनों पदों के विशेष अर्थों का कुछ महत्व ही नहीं रह गया। परन्तु फिर भी वैदिक परम्परा में इन विशेष अर्थों के संस्कार कुछ न कुछ चलते ही आये। यहां तक कि ऋत्विजों के लिये भी, इस अर्थ की विशेषता के कारण ही 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग होने लगा और इसमें सूत्र ग्रन्थों के वे वाक्य प्रमाण हैं, जो ऊपर उद्धृत किये गये हैं।

इन उद्धृत वाक्यों में चौथा और आठवां सन्दर्भ विशेष ध्यान देने योग्य हैं। इनमें 'मन्त्रकृत्' पद के साथ 'मन्त्रपति' पद का क्या आशय हो सकता है? हम देखते हैं, कि 'पति' शब्द जिस धातु से बनता है, उसका अर्थ 'पालन' या 'रक्षा' करना है। ऋषियों ने किस तरह मन्त्र का पालन या रक्षण किया? इस आशंका का स्पष्ट समाधान साथ में पठित 'मन्त्रकृत्' पद ही कर देता है। अर्थात् मन्त्रों का निरन्तर अभ्यास और उनका प्रयोग ही मन्त्रों के पालन और रक्षण का उपाय है। जो ऋषि मन्त्रों के प्रयोक्ता हैं, वे ही मन्त्रों के पालन करने वाले हैं, दूसरे शब्दों में जो ऋषि 'मन्त्रकृत्' हैं वे ही 'मन्त्रपति' हैं। इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि ऋषियों का मन्त्रों अथवा वेदों के साथ क्या सम्बन्ध है? अर्थात् ऋषि, मन्त्रों के प्रयोक्ता अथवा उच्चारयिता और मन्त्रार्थ के द्रष्टा हैं, मन्त्रों के रचयिता नहीं।

वैदिक साहित्य में 'कृ' धातु का प्रयोग 'प्रयुज्' के अर्थ में होता रहा है, इसका एक प्रमाण और उपस्थित करते हैं। यास्कीय निरुक्त के एक व्याख्याकार स्कन्द महेश्वर ने 'तासां परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्युज्यन्ते' [निरुक्त ७।१] इस वाक्य की व्याख्या करते हुए लिखा है—

"करोतिः क्रियासामान्य वचनत्वाद् विशेषं लक्षयन् प्रयुक्तेर्थे द्रष्टव्यः,कृताः प्रयुक्ताः ।"

इससे स्पष्ट है कि 'कृ' धातु का 'प्रयुज्' के अर्थ में प्रयोग होता रहा है। इसलिए 'मन्त्रकृत्' पद का अर्थ 'मन्त्रप्रयोग' अथवा 'मन्त्रोच्चारण' करना वैदिक विद्वानों के विचारानुकूल ही है, इससे यह स्पष्ट परिणाम निकल आता है, कि ऋषियों के लिये 'मन्त्रकृत्' पद का प्रयोग, इस बात को सिद्ध नहीं कर सकता, कि ऋषि मन्त्रों के रचयिता हैं।

इस विचार की पुष्टि में हम और एक युक्ति उपस्थित करते हैं, अनेक मन्त्रों के ऋषि जड़ पदार्थ अथवा तिर्यक् प्राणी भी हैं। इसके लिये हम कुछ मन्त्रों का निर्देश यहां करते हैं—

३ मण्डल के ३३ सूक्त की ४, ६, ८, १० ऋचाओं की ऋषि, नदी हैं।

८ मण्डल ६७ सूक्त के ऋषि 'जालनद्धा मत्स्याः' जाल में फंसी मछलियां हैं।

१० मण्डल १०८ सूक्त की अनेक ऋचाओं की ऋषि 'देवशुनी सरमा' है।

अब यदि ऋषियों को मन्त्रों का रचयिता माना जाय, तो यह कैसे संभव हो सकता है? नदी, मत्स्य या शुनी के द्वारा मन्त्ररचना असंभव है। यदि हम इन्हें केवल कवि-निबद्ध वक्ता मानते हैं, तो कोई आपत्ति नहीं। कवि ने उन २ स्थलों में उनको वक्ता रूप में निर्दिष्ट कर दिया है।

यह बात उस समय हमारे सन्मुख और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हम ऋग्वेद के संवादसूक्तों को गंभीरता पूर्वक देखते हैं। ऐसे कुछ सूक्तों का यहां निर्देश कर देना उपयुक्त होगा।

३ मण्डल ३३ सूक्त, विश्वामित्र-नदीसंवाद।

१० मण्डल ५१—५३ सूक्त, देवों और सौचीक अग्नि का संवाद।

१० मण्डल १० सूक्त, यम-यमी संवाद।

१० मण्डल ९५ सूक्त, पुरूरवा-उर्वशी संवाद।

१० मण्डल १०८ सूक्त, सरमा देवशुनी और असुर पणियों का संवाद।

इन संवाद सूक्तों में यही बात विशेष ध्यान देने की है, कि जो वक्ता है, वह ऋषि; और जिसको कहा जा रहा है। वह देवता है, उदाहरण के लिये प्रथम स्थल में जो मन्त्र विश्वामित्र की ओर से नदियों को कहे गये, उनका ऋषि विश्वामित्र है, और देवता नदियां हैं। इसी प्रकार जो मन्त्र नदियों की ओर से कहे गये, उनके ऋषि नदी हैं और देवता विश्वामित्र; अथवा जिसके सम्बन्ध में वे कहे गये। इसी तरह अन्य सब संवादों में भी है। हम यह स्पष्ट ही समझ सकते हैं, कि इस तरह का साक्षात् संवाद असंभव है, इसलिये इससे यह निर्धारित हो जाता है, कि मन्त्रों के ये ऋषि, मूल रूप में कवि-निबद्ध वक्ता ही हैं।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद में ऐसे भी बहुत सूक्त हैं, जिनका वही ऋषि और वही देवता है। इसके लिए देखिये—१० मण्डल, ४८—५०, ८१—८४, १२३, १५९ आदि सूक्त। और उनमें अनेक ऐसे सूक्त हैं जिनके ऋषि केवल भावना पर अवलम्बित हैं। देखिये—मण्डल १०, सूक्त १२५, १५१ आदि। यह बात भी ऋषियों को मन्त्रों का रचयिता मानने के पक्ष में अनुकूल नहीं होती। परन्तु इनको कवि-निबद्ध वक्ता मानने पर यह एक ऐसा ही वर्णन होगा, जैसे आज कोई रचना-कार, कागज़ का वर्णन कागज़ के द्वारा ही कहलवा दे। अथवा किसी भी वस्तु के स्वरूप को उसी के अपने मुख से प्रस्तुत कर दे।

हमने इस कधुकाय लेख में केवल ऋग्वेद के ऋषियों को ध्यान में रख अति संक्षेप में अपने

विचार प्रस्तुत किये हैं। इस विषय पर विस्तारपूर्वक एक अनुसन्धान पूर्ण ग्रन्थ लिखने का हमारा विचार है, हम आशा करते हैं, मननशील आर्य विद्वान् इस सम्बन्ध में और अधिक प्रकाश डालने का यत्न करेंगे।

सामवेद

[लेखक—श्री पण्डित रामावतार जी शर्मा तीर्थचतुष्टय, आर्यसमाज जमशेदपुर बिहार]

सर्गस्थितिप्रत्ययवहाग्हेतवे, संसारदुःखाब्धिनिमग्नसेतवे।
क्लेशाद्यविद्यासुतधूमकेतवे, ईशाय मे स्यात्प्रणतिर्भवेभवे ॥ १ ॥

ऋचो यजूंषि सामानि यस्य गायन्ति वैभवम्। जग्मुषान्तस्थुषामात्मा स मे प्रज्ञाम्प्रकाशयेत् ॥२॥
यत्क्रृपाकणमाहात्म्यं सामार्थान् व्यवृणोत्समान्। तत्तेजसाम्परन्तेजस्तिरयेत्तमसान्ततिम् ॥३॥
क्वाहमल्पार्थधिषणः क्व वेदो धिषणातिगः। तथापि कृपयेशस्य किञ्चिद्वक्तुमुपक्रमे ॥४॥

प्रस्तुत लेख के विचार का विषय है कि "सामवेद क्या है"। विचार गहन है इसलिये धैर्य से काम लेना चाहिये। ऐसा करने से पाठकों को कुछ साधन मिलेंगे जिनसे सामवेद के सम्बन्ध में अपना दृष्टिकोण स्थिर करने में सहायता मिलेगी। गीता और महाभारत के पढ़ने से मालूम होता है कि सामवेद का महत्व अन्य वेदों की अपेक्षा से अधिक है। क्योंकि "वेदानां सामवेदोऽस्मि" (गीता १०। २२) तथा "सामवेदश्च वेदानाम्" (महाभारत अनुशासन पर्व १४।३१७) इत्यादि प्रमाण इसी तात्पर्य को प्रकट कर रहे हैं। गीता में श्रीकृष्ण जी ने अपने को वेदों में सामवेद बतलाया है। महाभारत के प्रमाण से भी यही भाव सिद्ध होता है।

यद्यपि केवल वेद नाम से तो चारों वेदों की महत्ता और श्रेष्ठता निर्विरोध सिद्ध है। तथापि जब इनका पृथक् नाम आता हो, और इस प्रसंग में उनमें श्रेष्ठता या महत्ता की झलक दीखती हो तो स्वभावतः यह प्रश्न उपस्थित होता है कि क्या इनमें उत्तम, मध्यम और निकृष्ट भेद भी है? यदि ये भेद नहीं हैं तो इस सामवेद की विशेषता क्या है जिससे ऐसे अवसरों पर यह बाजी मार ले जाता है।

इसके अनेक कारण हो सकते हैं अतः इस दिशा में यहां थोड़ा विचार उपस्थित करना उपयुक्त होगा।

ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद, इन चारों वेदों के क्रमशः चार विषय संक्षेप रीति से कहे जाते हैं। नीचे लिखे क्रम के अनुसार इन पर दृष्टि डाली जा सकती है।

ऋग्वेद	यजुर्वेद	सामवेद	अथर्ववेद
ज्ञान	कर्म	उपासना	विज्ञान

१—उपरोक्त क्रम के देखने से और विचार करने से मालूम होता है कि कोई भी ज्ञान, विज्ञान, अथवा सकाम या निष्काम कर्म किसी न किसी उद्देश्य के साधन मात्र हैं। जब ये साधन हैं तो इसी प्रकरण में इन का कोई साध्य अवश्य होना चाहिये और वह उपासना के अतिरिक्त कोई अन्य चीज नहीं हो सकती। हम देखते हैं कि संसार की छोटी २ नदियां जैसे समुद्र में गिर कर समुद्र के आकार

में सहत्ता प्राप्त कर लेती हैं, इसी प्रकार सारे ज्ञान, विज्ञान, और सकाम या निष्काम कर्म उपासना में आकर सफल-सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार जिस साध्य के लिये ही ये सारे साधन एक स्वर से सिद्ध होते हों उसकी श्रेष्ठता में किस को सन्देह हो सकता है।

२—यदि सामवेद का उपासना विषय है तो यह ऐसा महान्, गहन, सरस और आवश्यक विषय है जिसके बिना मनुष्य जीवन ही नीरस तथा निकम्मा सिद्ध हो जाता है। इस विषय का आत्मा के साथ सीधा सम्बन्ध है, और वह भी कुछ सामान्य कार्य की सिद्धि के लिये नहीं किन्तु पूर्ण आनन्द की प्राप्ति के लिये भी यही एक मात्र स्वस्ति पन्था है। यही बात वेदों शास्त्रों उपनिषदों एवं यत्र तत्र सर्वत्र पायी जाती है।

उपासना और गान का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध प्राचीन काल से सब लोक मानते आये हैं। केवल मानते ही नहीं आये हैं अपितु व्यवहार में भी उपासना में गान का प्रयोग करते आये हैं। इसी लिये सामान्य रीति से चारों वेद गानमय हैं, और विशेष रीति से सामवेद गान विद्या की खान और उसका उद्गम स्थान है यह बात आज भी मानी जाती है, इसमें किसी को सन्देह नहीं है।

जब हम इस बात की तह में जाकर विचार करते हैं तो ऐसा लगता कि "गान विद्या" एक ऐसी मनोमोहिनी विद्या है कि जो झट से अन्तस्तल को स्पर्श कर हृत्तन्त्री को हिला देती है जिससे उसके आनन्द में विभोर होकर मनुष्य थोड़ी देर के लिये अपने को भी भुला देता है। उपासना में भक्त का भगवान् के साथ यही भाव अत्यन्त आवश्यक भी है। उपास्य और उपासक को इस द्वैत भाव की स्पष्ट रेखा दिखाई दे तभी यह अवस्था मनुष्य को प्राप्त हो सकती है। तब भक्त भगवान् से कैसी मीठी २ बातें करता है इस बात के प्रमाण में भक्तों की सेवा में ऋग्वेद का एक मन्त्र उपस्थित कर यह विषय और स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। वह यह है—

यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्। स्युष्टे सत्या इहाशिषः॥ ऋ० ८।४४।२३

भक्त कहता है कि हे मेरे प्यारे भगवान्! मैं तू हो जाऊँ अथवा तू मैं होजा तो तेरे सारे आशीर्वाद हमारे लिये सच्चे सिद्ध हो जाएँ। अतः कहां तक पहुंच कर भक्त भगवान् में अपने को लीन करने का उपाय कर सकता है यह बात यहां स्पष्ट हो जाती है। मालूम होता है कि "अमीर खुसरो" ने शायद इसी वेद मन्त्र के आशय का अनुवाद किया हो वह यह—

मन तो शुदम तो मन शुदी, मन तन शुदम तो जां शुदी।
ताकस न गोयद बाद अज़ीं मन दीगरम तो दीगरी।

अर्थात् "मैं तू हो जाऊँ, और तू मैं होजा, मैं शरीर बन जाऊँ और तू उसका प्राण होजा जिससे फिर कोई नहीं कह सके कि मैं दूसरा हूं और तू दूसरा है।" इत्यादि।

अभिप्राय यह कि यह तो किसी भक्त के ही अथवा सहृदय के ही समझने की बात है। गान की उपासना के साथ इतना घना सम्बन्ध होने के नाते ही सम्भवतः प्राचीन काल के ऋषियों ने इसी वेद के मूल मन्त्रों से नाना प्रकार के गान, भिन्न २ समयों अथवा कर्मों के उपयुक्त बनाये थे जो आज भी ग्रन्थ के रूप में प्राप्त होते हैं। वे गान, एक मन्त्र के अनेक प्रकार क्या सहस्र प्रकार के होते थे। सामवेद के उत्तरार्चिक में एक मन्त्र आता है कि "युञ्जे वाचं शत पदीं, गाये सहस्र वर्त्तनि" अर्थात् सौ पदों

वाली वाणी को मैं जोड़ता हूं और सहस्त्र प्रकार से उसका गान करता हूं"। महाभाष्यकार पतञ्जलि ऋषि ने भी महाभाष्य में लिखा है कि "सहस्त्रवर्त्मा सामवेदः" अर्थात् एक सहस्त्र मार्ग वाला सामवेद है।

उपरोक्त सामवेद में "गाये सहस्त्रवर्त्तनि" इन मन्त्र में आये हुए "वर्त्तनि" शब्द का तथा महाभाष्यकार के "वर्त्म" शब्द का सादृश्य स्पष्ट प्रतीत होता है। दोनों ही शब्द एक अर्थ के प्रतिपादन करने वाले हैं यह निःसन्देह मालूम होता है। ऐसी अवस्था में महाभाष्य की उस पंक्ति का यही अर्थ ठीक समझ में आ रहा है कि सामवेद के गाने के सहस्त्र प्रकार हैं।

सार यह है कि सामवेद, क्योंकि उपासना काण्ड का प्रतिपादन करता है इसलिये अन्य वेदों की अपेक्षा से व्यावहारिक जीवन के साथ अति निकटतम सम्बन्ध होने से विचारकों ने समय २ अपने विचार उस रूप में व्यक्त किये हैं जैसे महाभारत अथवा गीता में प्रकट किये गये हैं।

इसका यह तात्पर्य नहीं है कि शेष अन्य वेद गौण हैं। अपने २ विषयों के निरूपण करने के अवसरों पर वे भी मुख्य ही हैं। कर्म के विवेचन में सामवेद कभी नहीं मुख्य हो सकता यजुर्वेद ही उसका सर्वस्व है। ऐसे ही अन्य वेदों के विषय में भी कहा जा सकता है।

३—छान्दोग्य उपनिषद् के अध्ययन से ज्ञात होता है कि उस उपनिषद् का सामवेद से सीधा सम्बन्ध है। ईशोपनिषद् का यजुर्वेद से नित्य सम्बन्ध है। ऐसे ही गीता या महाभारतकार उसी गुरु परम्परा अथवा सम्प्रदाय के हों जिनके प्रवचन या व्यवहार सामवेद के सम्पर्क से ही चलते हों। इस दृष्टि से भी कुछ महत्व प्रकट करना अयुक्त नहीं है।

मीमांसादर्शन में जैमिनि ऋषि ने साम के स्वरूप का निर्णय करने के लिये लिखा है कि गीतिषु सामाख्या। (२।१।३६) अर्थात् गीति का नाम साम है।

जब गीति का ही साम नाम है तो संहिता को साम क्यों कहा जाय यह भी एक विचारणीय विषय है।

इस ग्रन्थ का सामवेद नाम इसलिये है कि इसीके मूल मन्त्रों से साम गान उत्पन्न होते हैं। अतएव साम गान के मूल होने से हीं संहिता का नाम भी प्रसिद्ध अर्थवाला नाम सामवेद रख लिया गया है।

सामवेद और ऋग्वेद

पश्चात्य विद्वानों का यह मत है कि सामवेद के अपने मन्त्र बहुत कम हैं। अर्थात् अठारह सौ पचहत्तर मन्त्रों में केवल बहत्तर मन्त्र ही सामवेद के हैं। शेष मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं। सामवेद में उनका संग्रह मात्र है। क्योंकि ऋग्वेद में वे मन्त्र उन २ स्थानों में पाये जाते हैं।

हम इस बात की परीक्षा करना चाहते हैं कि वास्तविकता क्या है। वे मन्त्र इस वेद के अपने हैं अथवा ऋग्वेद के हैं।

सबसे प्रथम हम ऋग्वेद के कुछ ऐसे मन्त्र प्रमाण रूप से उपस्थित करते हैं जो इस बात की साक्षी देते हैं कि ऋग्वेद के सम-काल में सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता वर्तमान है। वे मन्त्र निम्न प्रकार हैं—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे। ऋ० १०।९०।९

यो जागार तमु सामानि यन्ति। ऋ० ५।४४।१४

यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम् । ऋ० १०।१०७।६

अवत्साम गीयमानम् । ऋ० ८।८१।५

यूयं ऋषिमवथ सामविप्रम् ऋ० ५।५४।१४

अङ्गिरसां सामभिः स्तूयमानाः । ऋ० १।१०७।२

अर्चन्त एके महि साम मन्वत । १०।३६।५

उपरोक्त उदाहरणों में नीचे लिखे शब्द केवल सामवेद की सत्ता के साधक सिद्ध हो रहे हैं।

सामानि, सामानि, सामगाम्, साम, सामभिः और साम।

इन पदों से यह बात निर्भ्रान्त रूप से सिद्ध हो जाती है कि ऋग्वेद के समय में ही सामवेद की स्वतन्त्र सत्ता में कोई बाधा नहीं है। इतना ही नहीं किन्तु साम विशेषों के भी नाम पाये जाते हैं। जैसे—

'गायत्रम्'। 'त्रैष्टुभम्'। 'जागतम्'। 'बृहत्'। 'रथन्तरम्'। इत्यादि। ये विशेष गानों के नाम हैं। इनसे भी उपरोक्त बात ही सिद्ध होती है।

इन प्रमाणों के रहते यह कहने का साहस कोई नहीं कर सकता कि ऋग्वेद के मन्त्रों का ही सामवेद संग्रहमात्र है। साथ ही इस विचार का भी कि "दुनिया की लाइब्रेरी में सब से प्रथम ऋग्वेद ही है" समूल खण्डन हो जाता है। कारण यह है कि जब ऋग्वेद के समय में सामवेद भी वर्त्तमान ही है तो यह कैसे कहा जा सकता है कि सबसे पहले "ऋग्वेद" ही है, वरन् सामवेद भी उतना ही प्राचीन है।

हां एक प्रश्न हो सकता है कि (जैसा कि सरस्वती समाज में पं० राजाराम जी ने हम से पूछा था) मन्त्रों में तो केवल साम शब्द ही पाये जाते हैं सामवेद शब्द नहीं इसलिये साम शब्द से सामवेद का अर्थ कैसे माना जा सकता है? इत्यादि।

इसका उत्तर यह है कि निः सन्देह साम शब्द ही अथवा साम विशेष शब्द ही पाये जाते हैं सामवेद शब्द नहीं। परन्तु साम शब्द का अर्थ यदि गीति है जैसा कि मीमांसा ने बतलाया है तो यह भी ध्रुव निश्चित है कि वह कार्य है। बिना कारण का कार्य नहीं हुआ करता है। "कारणाभावात्कार्याभाव इति निश्चयात्" ऐसी अवस्था में सामगान के मूल कारण मूल मन्त्र ही हो सकते हैं अथवा और कुछ। यदि मूल मन्त्र ही हो सकते हैं तो सिद्ध हो गया कि "सामगान" के पहले साम मूल मन्त्र हैं। जब साम मूल मन्त्र हैं तो सामवेद भी है।

इसका कारण यह है कि जैसे अक्षर समुदाय का पद होता है, पद समुदाय का वाक्य होता है, वाक्य समुदाय का मन्त्र होता है, ऐसे ही मन्त्र समुदाय की संहिता होती है। यह त्रिकाल में भी नहीं हो सकता कि मन्त्र समुदाय तो हैं किन्तु संहिता नहीं है। यदि संहिता है तो मन्त्र भी हैं, यदि मन्त्र हैं तभी उनसे गान भी बनते हैं। तात्पर्य यह है कि मन्त्रों की विकृति के अतिरिक्त सामगान कोई और वस्तु नहीं है। मन्त्रों को तोड़ मरोड़ कर गाने के योग्य बना हुआ ही साम है। जैसे—गायत्र साम—इस मन्त्र का है—"तत्सवितुर्वरेण्यम्" और गान—"तत्सवितुर्वरेणियोम् भार्गो देवस्य धी माही" इत्यादि।

ऐसे अवसरों पर यह प्रश्न भी तो हो सकता है कि यदि साम शब्द से सामवेद का अर्थ नहीं होगा तो ऋक् शब्द से ऋग्वेद अर्थ कैसे हो सकता है। जिन युक्तियों से ऋक् शब्द से ऋग्वेद सिद्ध होगा, उन्हीं से साम शब्द से सामवेद भी सिद्ध हो जायगा। इस विषय की कोई ऐसी युक्ति अथवा

प्रमाण नहीं है कि ऋक् शब्द से ऋग्वेद तो सिद्ध होगा किन्तु साम शब्द से सामवेद नहीं।

चारों वेदों अथवा मन्त्रों में केवल "ऋचो यजूंषि सामानि" इसीप्रकार के शब्द आते हैं और भाष्यकार लोग इन पदों का ही वेदत्रयी या चारों वेद अर्थ करते हैं। जैसा कि षडगुरु शिष्य ने लिखा है कि "ऋग्यजुः सामरूपेण मन्त्रो वेदचतुष्टये" अतएव ऐसे प्रश्न भी भ्रान्तिमूलक ही हो सकते हैं। इनसे कुछ तत्व सिद्ध नहीं हो सकता।

ऋग्वेद और भाषा विज्ञान

सब से प्रथम संस्कृत साहित्य का निरुक्त ही भाषाविज्ञान का जन्मदाता कहा जा सकता है, यह सर्ववादिसम्मत सिद्धान्त है। परन्तु आज का भाषा विज्ञान अर्धविकसित अवस्था में है, इस लिये उससे किसी साध्य की यथार्थ सिद्धि होगी इसमें सन्देह है। अस्तु। भाषा विज्ञान के आधार पर पाश्चात्य और उनके अनुयायी पूर्वीय विद्वान् भी यह कहते हैं कि "ऋग्वेद" की भाषा ही कुछ ऐसी पुरानी और जटिल है जिस से विवश होकर कहना पड़ता है कि सब वेदों में पुराना ऋग्वेद है शेष वेद उस के बाद के हैं। अब हम यह विचार करने चलते हैं कि "भाषा की दृष्टि से भी ऋग्वेद प्रथम सिद्ध होता है अथवा नहीं"। इस विषय के प्रमाण रूप से हम कुछ मन्त्रों का उदाहरण देते हैं, जो कहने के लिये तो दोनों ही वेदों (ऋग्वेद और सामवेद) में हैं किन्तु वस्तुस्थिति कुछ भिन्न है।—

हम इसलिये भी इन प्रमाणों को उपस्थित करते हैं कि—"भाषा विज्ञानियों का यह सिद्धान्त कि जहां तक कृत्रिमता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य, या मन्त्र नये हैं, और जहां तक स्वाभाविकता का सम्बन्ध है वे सब पद, वाक्य, और मन्त्र पुराने हैं" यह उक्ति कहां तक सत्य और सही है।

निम्नलिखित "सामवेद" और "ऋग्वेद" के पाठ यह सिद्ध करते हैं कि सामवेद के पाठ पुराने तथा ऋग्वेद के पाठ नये हैं। जैसे—

सामवेद	ऋग्वेद
१—आसीदतु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याव-भिरध्वरे	आसीदन्तु बर्हिषि मित्रो अर्यमा प्रातर्याव-भिरध्वरे।
२—शुक्रा वियन्त्वसुराय निर्णिजे	शुक्रा वयन्त्वसुरायनिर्णिजम्। ९।९९।१
३—उुतः सुदक्ष घनिव। ५७४	सुतः सुदक्ष धन्व।९।१०५।४
४—दिवि सद्।६७२	दिविषद्।९।६१।१०
५—ये माणः। ७०२	ये मानः। ९।७५।३
६—विराजसे। ,,	विराजति। ,,
७—वरिवो धातमो भुव। ६९१	वारिवो धातमो भव। ९।१।३
८—सुद्रुवम्। २३८	सुद्रवम्। ७।३२।२०
९—परि नः शर्म। ८६७	परिणः शर्म। ९।४१।६

उपरोक्त मन्त्रों के निम्न पाठों पर विद्वान् पुरुष यदि ध्यान देंगे तो उनको दोनों पाठों के भेद स्पष्ट और युक्तियुक्त प्रतीत होंगे।

सामवेद	ऋग्वेद
१—आसीदतु	आसीदन्तु
२—वियन्तु	वयन्तु
३—ये मा णः	ये मा नः
४—धनिव	धन्व
५—दिविसद्	दिविषद्
६—विराजसे	विराजति
७—भुव	भव
८—सुद्रुवम्	सुद्रवम्
परिनः	परिणः

उपपत्ति

इन पदों पर विचार करने से यह साफ मालूम होगा कि किस वेद के पाठ नये तथा किसके पुराने हैं। जैसे—

आसीदतु=यह साम पाठ है। किन्तु मन्त्र की परिस्थिति यह सिद्ध करती है कि इस एक वचन की जगह बहुवचन प्रयोग होना चाहिये तदनुसार ऋग्वेद में बहुवचन पाठ है। यह साम का पाठ तब का प्रतीत होता है जब एक वचन या बहुवचन का विचार भी नहीं था।

वियन्तु=इस पाठ का अर्थ करते हुए भाष्यकारों ने वयन्तु यही अर्थ किया है, तदनुसार ऋक् पाठ वयन्तु यही है।

ये माणः=यह साम का पाठ है। इसमें "न" का "ण" कायम रहना अयुक्त समझ कर नकार का ठीक समझ कर उसी को शुद्ध माना गया है। तदनुसार ऋक् पाठ नकार युक्त ही रक्खा गया प्रतीत होता है।

धानिव=यह पाठ धातु पाठ की दृष्टि से शुद्ध कर "धन्व" यही शुद्ध रूप है। तदनुसार ऋक् पाठ धन्व यही है। अतएव साम पाठ तब का है जब यह विचार भी नहीं था कि कैसा पाठ होना चाहिये।

दिविसद्=दन्त सकार वाला यह पाठ साम का है, किन्तु व्याकरण के अनुसार मूर्धन्य सकार होना चाहिये। ठीक उसी के अनुकूल ऋक् पाठ मूर्धन्य सकार युक्त है। इसलिये साम पाठ तब का है जब यह विचार भी नहीं था कि यहां कौन सकार होना चाहिये।

विराजसे=इस पाठ पर दृष्टि डालने से यह प्रतीत होता है कि यहां प्रथम पुरुष का पाठ ही युक्तियुक्त है। उसके अनुकूल ऋक् पाठ है।

भुव=यह पाठ, अर्थ की प्रक्रिया के अनुसार "भव" यही अर्थ करता है। ठीक इसी प्रकार का "भव" पद ऋक् पाठ है। यह मालूम होता है कि साम का पाठ उस समय का है जब यह विचार नहीं था कि भू धातु का यहां धातु रूप क्या होना चाहिये।

सुद्रुवम्=यह पाठ स्वाभाविक रीति से उच्चारण करने पर सरल और सीधा है, इसलिये अकृत्रिम है।

किन्तु ऋक् का पाठ "सुद्र्वम्" सीधे यण् कर दिया गया है। व्याकरण की आंख से ठीक दीखता है इसलिये यही पाठ ऋग्वेद का है। पता लगा कि साम का पाठ बहुत प्राचीन है।

परिनः=यह साम का पाठ तब का ज्ञात होता है जब यह विचार नहीं था कि न कार का ण कार होना चाहिये। काल क्रम से जब यह विचार परिपक्व हो गया कि यह ठीक नहीं है इसलिये नकार का ऋग्वेद में चल कर णकार हो गया।

इन उपरोक्त उदाहरणों पर एक बार गहरा विचार करने पर ज्ञात होता है कि साम वेद के पाठ प्रारम्भिक अवस्था के हैं, इसीलिये स्वाभाविक तरह से हैं। यही कारण है कि कहां कैसा पाठ उपयुक्त है अथवा नहीं है, इस बात का विचार नहीं है। बस सिद्ध हो जाता है कि प्रारम्भिक अवस्था का परिचायक होने से साम पाठ प्राचीन है। तथा परिमार्जित अवस्था का परिचायक होने से ऋक् पाठ नये हैं।

इन उदाहरणों के रहते कोई भी विचारशील पुरुष यह नहीं कह सकता कि "सामवेद" के पाठ पुराने तथा ऋग्वेद के पाठ नये नहीं हैं। तब यह कहने में भी संकोच नहीं है कि सामवेद पुराना तथा ऋग्वेद नया क्यों न कहा जाय। ऐसा स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है यदि भाषा विज्ञान का यह नियम सही हो तो।

सम्पूर्ण ऋग्वेद में जिन मन्त्रों का सम्बन्ध सामवेद से बतलाया जाता है उन मन्त्रों का नब्बे प्रतिशत पाठ ऐसा ही है जैसा कि मैंने ऊपर उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है।

यदि इसी दृष्टि से विचार कर चारों वेदों के अनुवाद करने वाले ग्रीफिन् महाशय ने अपने साम वेद की भूमिका में यह लिखा हो कि—"सीम् इन् अदर्स् टु बि ओलडर् ऐन्ड मोर् ओरिजिनल् देन् दि रीडिङ्ग् औफ् दि ऋग्वेद"—अर्थात् ऋग्वेद के पाठ की अपेक्षा से सामवेद के पाठ पुराने और असल मालूम होते हैं" तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इतना होने पर भी हम यह नहीं मानते कि साम वेद के पाठ पुराने होने से वह पुराना है, तथा ऋग्वेद के पाठ नये होने से वह नया है। इसका कारण यह है कि जहां सामवेद के पाठ पुराने और ऋग्वेद के पाठ नये ज्ञात होते हैं, वहां ऋग्वेद के भी कुछ ऐसे पाठ मालूम होते हैं कि जैसे वे साम से भी पुराने हों। जैसे—

ऋग्वेद	सामवेद
१—पवाते ९। ४७ ।	पवताम् ५३५ ।
२—सीदाति ९।९७।४ ।	सीदतु ,, ।
३—ऋता ९। ३६ ।	ऋतम् १३५७ ।
४—दीयति ९।३।१ ।	दीयते १२५६ ।

स्थाली पुलाक न्याय से हमने केवल चार उदाहरण ही उपस्थित किये हैं, न्याय की तुला पर इन पदों को तौलने से ऐसा लगता है कि ऋग्वेद के पाठों का अर्थ ही साम के पाठ कर रहे हैं।

जब ऋग्वेद में आये हुए पदों का ही वे साम के पद अर्थ के रूप में प्रकट होते हैं तब तो किसी प्रकार का संदेह करने का अवकाश ही नहीं मिलता कि साम के पाठ नये तथा ऋग् के पाठ पुराने नहीं हैं।

हमने दोनों वेदों के पाठों को तुला पर रख कर तुलना की तो यह मालूम हुआ कि इस प्रकार के एकाङ्गी विचारों के आधार पर कोई विचारक अपना दृष्टिकोण स्थिर करे तो वह धोखा खा जाएगा जैसा कि अब तक के विचारकों के अनुशीलन भ्रान्त तथा कुविचार पूर्ण प्रतीत होते हैं।

इस प्रसंग में हम उन पुराने तथा नये भाष्यकारों और "वेद रहस्य" तक के लेखकों के ऐसे विचारों से सहमत नहीं हैं कि जो अब तक यह दिखलाने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं कि सामवेद के कुछ मन्त्रों के अतिरिक्त कुल मन्त्र ऋग्वेद के ही हैं।

वस्तुतः दोनों वेदों के पाठों को देखने से प्रतीत होता है कि इनमें पूर्वापर का विचार करना नितान्त भ्रान्तिमूलक है।

अब प्रश्न यह यह होता है कि जब दोनों ही वेदों के पाठ पुराने और समकालीन हैं तो फिर पाश्चात्य विद्वान् तथा उनको गुरु मान कर उनके पद चिह्नों पर चलने वाले पूर्वीय विद्वानों ने भी यह घोषणा करने का साहस कैसे किया है कि दुनिया की लाइब्रेरी में सबसे प्रथम ऋग्वेद है। हमारा अनुमान तो यह है कि इन महानुभावों ने कभी भी सामवेद को पढ़ने का कष्ट नहीं किया है। यदि पढ़ा भी है तो समझने की चेष्टा नहीं की है अथवा यह है भी इतना गहन कि समझ में ही नहीं आया हो। यही कारण है कि ऋग्वेद पर जितनी आसानी से इनकी लेखनियाँ चलती हैं, उतनी आसानी से उनकी साम पर नहीं चलती हैं। अब तक तो ऐसा ही देखने में आता है। भविष्य तो भविष्य के गर्भ में है उस पर विचार ही क्या किया जा सकता है।

स्वर-भेद

अब तक हमने विषय भेद तथा भाषा भेद से सामवेद की भिन्नता सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। इसके अतिरिक्त अब एक दूसरी दृष्टि से हम विचारने चले हैं, जो सम्पूर्ण सामवेद संहिता को जो पूर्वार्चिक और उत्तरार्चिक रूप से दो भागों में विभक्त है, सम्पूर्ण ऋग्वेद से, जो दश मण्डलों में विभक्त है एकदम पृथक् करती है। अथवा यों कहिये कि यह एक ऐसा प्रबल प्रमाण है जो सामवेद और ऋग्वेद का सम्पर्क भी अलग करता है। यह मेरा प्रयास केवल विद्वानों के विचार के लिये ही है। वह है दोनों वेदों का स्वर भेद।

स्वरभेद, अर्थभेद का नियामक है, अब इस विषय पर संदेह नहीं रहा। अर्थभेद होने से विषय भेद के साथ ही सत्ता भेद भी सिद्ध होने में संदेह नहीं हो सकता।

कुछ वेद के जिज्ञासुओं का विचार है कि दोनों वेदों के स्वरों में भेद नहीं है किन्तु वे जिज्ञासु हैं, अभी तक वे जान ही नहीं पाये हैं कि उनके स्वरभेद भी हैं। ऐसे जिज्ञासुओं की बुद्धियाँ जल्द सुधर जायं तो बहुत ही अच्छा हो जिसकी सम्भावना कम है।

हम कुछ ऐसे ही उदाहरण उपस्थित कर विद्वानों के विचार के लिये अवसर देते हैं। उदाहरण के पहले समझने के लिये कुछ संकेत जान लेना आवश्यक है जो विषय के ज्ञान में सहायता दे सकें। तदनुसार सामवेद के मन्त्रों के ऊपर जो १। २। ३। इस प्रकार के अङ्क पाये जाते हैं। यही उदात्त स्वरित और अनुदात्त के संकेत हैं। अर्थात् एक अङ्क उदात्त, दो स्वरित तथा तीन का अङ्क अनुदात्त को बतलाता है।

ऋग्वेद में "इन्द्रो मदाय" इत्यादि मन्त्रों के ऊपर तथा नीचे दो प्रकार की लकीरें दीखती हैं। ऊपर की स्वरित तथा नीचे की अनुदात्त की लकीर है उदात्त का कोई चिह्न नहीं होता। बस सामान्य रीति से इतने ही संकेत पर्याप्त हैं।

अब हम सामवेद के प्रारम्भ से ही पांच मन्त्रों को उपस्थित कर उनकी ऋग्वेद के मन्त्रों से तुलना करते हैं जिससे यह बात भली भांति समझ में आजायगी कि इन दोनों वेदों में स्वर भेद कैसे हैं?

सामवेद	ऋग्वेद
२ ३ १ २ १—अग्न आयाहि।	अग्न आयाहि। ६। १६। १०
१ २ ३ २ ३ २—त्वमग्ने यज्ञानाम्	त्वमग्ने यज्ञानाम्। ६। १६। १
३ २ ३ ३—अग्निं दूतम्।	अग्नि दूतम्। १। १२। १
३ २ ३ १ २ ४—अग्निर्वृत्राणि।	अग्निर्वृत्राणि। ६। १६। ३४
२ ३ २ ३ १ २र ५—अग्ने रथन्न वेद्यम्।	अग्निं रथन्न वेद्यम्। ८। ८४। १

स्पष्टीकरण

उपरोक्त पांच उदाहरणों पर विचार करने से उनमें भेद दृष्टि गोचर होगा। जैसे—

१—सामवेद के "अग्ने" पद के "अ" पर स्वरित का चिह्न है जब कि ऋग्वेद के "अग्ने" पद के अकार पर स्वरित का चिह्न नहीं है।

२—दूसरे मन्त्र के "यज्ञानाम्" इस पद के "ज्ञा" पर सामवेद में स्वरित का चिह्न विद्यमान है जब कि ऋग्वेद के मन्त्र के "ज्ञा" पर कोई चिह्न दृष्टिगोचर नहीं होता। इसलिये वह अक्षर ऋग्वेद में उदात्त है, साम में स्वरित है।

३—तीसरे मन्त्र के "अग्निम्" पद के "ग्नि" पर सामवेद में स्वरित का चिह्न है जब कि ऋक् के मन्त्र के "ग्नि" अक्षर पर कोई चिह्न नहीं है, इसलिये यहाँ वह स्वरित नहीं उदात्त है।

४—चौथे मन्त्र के "अग्निः" पद के "ग्नि" पर सामवेद में स्वरित का चिह्न होने से वह स्वरित है जब कि ऋग्वेद के मन्त्र में वह उदात्त है।

५—पांचवें मन्त्र में तो सामवेद का अग्ने सम्बोधन है जब कि ऋग्वेद में द्वितीयान्त अग्नि पद दीखता है। इसके साथ २ यहाँ भी वही उपरोक्त भेद स्पष्ट हैं जिनका निर्देश हम कर चुके हैं।

इस प्रकार उदाहरण देकर हमने यह दिग्दर्शन कराने का प्रयत्न किया है कि दोनों वेदों में स्वरों का महान् भेद विद्यमान है। स्वरभेद होने से अर्थभेद है और अर्थ भेद होने से विषयभेद एवं स्वातन्त्र्य भेद भी स्वतः सिद्ध हो जाता है।

ऐसी अवस्था में सामवेद को ऋग्वेद का संग्रह मानना तथा दोनों में स्वर भेद नहीं मानना कितनी बड़ी भयङ्कर भूल है यह विद्वान् जन विचार करें।

हमने जो पाँचवाँ मन्त्र उदाहरण के रूप में उपस्थित किया है। उस पर थोड़ा दृष्टिपात करने से कुछ और विशेषता दिखलाई देती है। वह यह कि इस मन्त्र के प्रथम पद को जब हम देखते हैं

दो सामवेद में सम्बोधन है और ऋग्वेद में द्वितीयान्त। इस पद के अर्थ पर विचार कीजिये तो साम के पद का "हे अग्ने" अर्थ होगा, जब कि ऋग्वेद के "अग्नि को" ऐसा अर्थ होगा। अब विचारना यह है कि हे अग्ने! और "अग्नि को" कोई भी विचारशील पुरुष एक नहीं मान सकता है। कारण यह है कि हे अग्ने! यह पद तो प्रत्यक्ष अर्थ का निर्देश कर रहा है जब कि दूसरा परोक्ष अर्थ की प्रतीति करा रहा है। इस प्रकार अटक से कटक की दूरी की तरह भेद की प्रतीति होने पर भी कोई विचारक मस्तिष्क की गुलामी से यदि भेद नहीं देखता तो इसमें दोष किसको दिया जाय। मन्त्रों का दोष तो है नहीं। वे तो अपना स्वरूप स्पष्ट प्रकट कर रहे हैं इतने पर भी हमको नहीं दीखता तो यह लोकोक्ति सही मालूम होती है कि " नैष स्थाणोरपराधो यदेनमन्धोन पश्यति"

निरास

पिछली पंक्तियों में हमने बतला दिया है कि विषय, पाठ, भाषा और स्वर भेद से सामवेद के १८७५ मन्त्र अपने आप में स्वतन्त्र हैं, ऋग्वेद से संगृहीत नहीं किये गये हैं। इतना होने पर भी कुछ लोग युक्त्याभास से विरोधाभास दिखलाने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं। वे कहते हैं कि "ऋच्यध्यूढं साम गीयते" इत्यादि प्रमाण यह सिद्ध करते हैं कि ऋग्वेद के आश्रय से ही सामवेद की सत्ता है। इत्यादि

पैनी दृष्टि दौड़ाने पर यह शङ्का भी निर्मूल ही सिद्ध होगी ऐसा विश्वास करने का पर्याप्त अवकाश है।

यदि इसी प्रकार का विश्लेषण किया जाय तो शङ्का का सरल समाधान हो जायगा। यह प्रमाण कहता है कि "ऋचा के आश्रित ही साम का गान होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि साम की उत्पत्ति का आधार ऋचा है। अब विचारना यह है कि ऋचा क्या चीज़ है।

मीमांसा दर्शन ने ऋचा का निर्णय निम्न प्रकार से स्पष्ट किया है कि—

सा ऋक्-मन्त्रार्थवशेन पादव्यवस्था। २। १। ३५

अर्थात्—अर्थ के अधीन जिसके पाद की व्यवस्था की जाय वह ऋचा है। भाव यह हुआ कि छन्दोबद्ध मन्त्र ऋचा है। संभवतः गानविद्या के निपुण पर्यवेक्षकों अथवा छन्दः शास्त्र के जानने वालों को भी यह मालूम होगा कि गान पद्य में ही होता है, गद्य रूप में नहीं या यों कहिये कि काव्यकला की वह देन है कि पद्य के रूप में प्रकट होकर ब्रह्मानन्द की प्राप्ति में वह अन्यतम साधन हो जाती है।

जब गान है तो उसका पद्य से सम्बन्ध कैसे नहीं हो सकता है। अस्तु

मीमांसा दर्शन में शबर स्वामी ने साम के सम्बन्ध में निम्न प्रकार से अपने विचार प्रकट करते हुए लिखा है कि—

"सामवेदे सहस्रगीत्युपायाः। आह, कतमे ते गीत्युपाया नाम? गीतिर्नाम क्रिया आभ्यन्तरप्रयत्नजन्या स्वरविशेषाणामभिव्यञ्जिका साम शब्दाभिलप्या। सा नियत प्रमाणायां ऋचि।

भावार्थ—सामवेद में एक हज़ार गान के उपाय हैं। प्रश्न—वे कौन हैं? उत्तर—भीतरी प्रयत्न से उत्पन्न होने वाली और विशेष स्वरों का प्रकाश करने वाली गीति या गान ही साम है और वह नियत या पादबद्ध अथवा छन्दोबद्ध ऋचा में ही उत्पन्न होता है अथवा उसी से बनता है। शबर स्वामी

के शब्दों से ही यह बात सिद्ध हो गई कि सामगान छन्दोबद्ध ऋचाओं से बनते हैं न कि ऋग्वेद से। ऋग्वेद और चीज़ है और ऋचायें भिन्न वस्तु हैं। छन्द और गान का नित्य सम्बन्ध है इसलिये गान भी गाने योग्य मन्त्रों से ही बन सकते हैं। अतएव उपरोक्त शङ्का का भी अवकाश नहीं है।

पुनरुक्त

सामवेद पर अनेक प्रकार से लोगों ने आक्रमण किये हैं। उनमें एक दोष यह दिया जाता है कि वह ऋग्वेद का संग्रह है जिस का निरास या खण्डन हो चुका है। दूसरा दोष यह भी दिया जाता है कि कुछ मन्त्र पुनरुक्त भी हैं जिनका दूसरा अभिप्राय ही नहीं होता है। केवल आवृत्ति मात्र हैं। इत्यादि। लेख की आकार वृद्धि से भय हो रहा है तथापि संक्षेप में इस विषय पर भी थोड़ा प्रकाश डालना आवश्यक है। इस विचार का यहाँ तक फल देखने में आया है कि ७२ मन्त्रों का सामवेद छपकर प्रकाशित हो गया है। इस विषय का एक ही प्रबल प्रमाण उपस्थित करते हैं। वह प्रमाण पाणिनि व्याकरण के जन्मदाता महर्षि पाणिनि जी का है, जिससे पुनरुक्त दोष का दुरुपयोग करने वालों का पूरा समाधान हो जायगा। उन्होंने एक ही सूत्र लिखा है, जिसके आकार प्रकार अक्षर या मात्रा में ज़रा भी भेद नहीं किया है। जैसे—

बहुलं छन्दसि। २।४।७३, ५।२।१२२, ७।१।८, ७।१।१०३, ७।४।७८, २।४। ३६, ३।२।८८, ६।१।३४, ७।१।१०, ७।३।६७ इत्यादि।

ऋषि ने इन सूत्रों को भिन्न २ अर्थ की सिद्धि के प्रयोजन से बनाया है जैसे—बहुलं छन्दसि २।४।३६ का सूत्र वेद में विकल्प से अद् धातु का घस्लृ आदेश करता है। २।४।७३ का सूत्र अदादि गण के नियम से प्राप्त शप् के लुक् का परिवर्तन कर देता है। २।४।७६ का सूत्र जुहोत्यादि गण के श्लु के नियम का परिवर्तन कर देता है। ३।२।८८ का सूत्र क्विप् प्रत्यय के नियम का परिवर्तन करता है। ५।२।१२२ का सूत्र विनि प्रत्यय के नियम का परिवर्तन कर देता है।

इन पांच सूत्रों के ही सम्बन्ध में जो मैंने विचार उपस्थित किये इनसे यह समझने में कोई कठिनता नहीं मालूम होती है कि यद्यपि ऊपर से देखने में सूत्र तो एक ही समान के मालूम होते हैं। फिर भी इन के अर्थ और प्रयोजन भिन्न २ होते हैं।

कल्पना कीजिये कि कोई विचारक यह विचार कर ले कि सारे सूत्र एक समान ही हैं इसलिये एक सूत्र को छोड़कर शेष सूत्रों को अष्टाध्यायी से छांट कर निकाल देना चाहिये तो जितनी भयंकर भूल ऐसा विचारक कर सकता है, उससे कहीं अधिक भूल यह होगी कि वेद मन्त्रों को ही छांट कर पृथक् कर दिया जाय अथवा यह कह दिया जाय कि इन मन्त्रों के अर्थ हो चुके हैं। यह दूसरी बात है कि हमारी समझ में यह मन्त्र नहीं आता हो किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं होगा कि संशोधन कर दिया जाय। अतएव इस प्रकार के संदेह अथवा प्रयत्न का होना अविद्या देवी की कृपा का परिणाम ही कहना चाहिये।

आरण्यक पर्व

ऐतरेयारण्यक शांख्यायनारण्यक, बृहदारण्यक, (माध्यन्दिन) बृहदारण्यक, (काण्व) तैत्तिरीयारण्यक मैत्रायणीयारण्यक तथा तवलकारारण्यक इत्यादि आरण्यक ग्रन्थों के पाये जाने से सामवेद के आरण्यक पर्व को कुछ लोग परिशिष्ट रूप से पीछे से जोड़ा गया हुआ मानते हैं, यह उनकी भूल

है। कारण यह है कि जितने आरण्यक ग्रन्थ पाये जाते हैं, वे सब के सब मन्त्र नहीं हैं किन्तु ब्राह्मण के समान वन में रहने वाले वानप्रस्थों के प्रकाशित किये हुए हैं, इसलिये उनका नाम आरण्यक है। यही प्रसिद्ध उनका नाम है। 'आरण्यकों की भाषा ब्राह्मण ग्रन्थों की भाषा से मिलती जुलती है। ब्राह्मण ग्रन्थ वेदों के व्याख्या हैं, अब यह बात सब लोग मानने लग गये हैं। ऐतिहासिक लोग भी ऐसा ही कहते हैं।

अब प्रश्न यह है कि यदि मन्त्र रूप से आरण्यक था तो पाणिनि जी ने उसका नाम क्यों नहीं लिया। पाणिनि जी के नाम नहीं लेने से उनके समय के बाद का आरण्यक पर्व है इसलिये परिशिष्ट मानना चाहिये इत्यादि।

इस प्रकार के अनुमान अनुमान नहीं हैं वे अनुमानाभास हैं। पाणिनि जी के समय में दो विभाग हो चुके थे यह बात उनके सूत्रों से ज्ञात होती है। उन्होंने लिखा है कि "छन्दो ब्राह्मणानि च तद्विषयाणि। ४। २। ६। छन्द और ब्राह्मण इस तरह दो विभाग करने से, उनका तात्पर्य यही प्रतीत होता है कि आरण्यक जो मन्त्र रूप में थे वे छन्दविभाग के अन्तर्गत थे। अतएव मन्त्र या छन्द शब्द से ही उनका भी ग्रहण कर उसी शब्द से उनका व्यवहार करना पाणिनि जी को उचित जंचा। इसीलिये आरण्यक शब्द का पृथक् नाम लेकर मन्त्र भाग से उसको पृथक्त्व संदेह होने का निरास या खण्डन किया हुआ ही उनका आशय प्रतीत होता है न कि उस समय वह भाग नहीं था इसलिये उन्होंने नाम नहीं लिया यह भाव है। आशय यह है कि उन पाणिनि जी का यह अभिप्राय कदापि सिद्ध नहीं होता कि उनके समय में वह भाग ही नहीं था। अतएव ऐसा समझना कि आरण्यक पर्व नहीं था यह विचार अयुक्त है।

इस तरह की बातें बनाने वालों से हम एक प्रश्न करना चाहते हैं, वह यह कि पाणिनि जी के समय में आरण्यक पथ, आरण्यक हाथी महान् हिम और महान् अरण्य ये सब कुछ थे कि नहीं। ऐसे कहने वालों को तो यही कहना चाहिये कि ये सब कुछ नहीं थे। क्योंकि ये सब होते तो इन पदों का साधन वह अवश्य ही दिखलाते। यदि वह ऐसा कर गये होते तो वार्तिककार स्वनामधन्य महर्षि कात्यायन को यह वार्तिक बनाने की क्या आवश्यकता होती। जैसे—"पथ्यध्यायन्यायविहार मनुष्यहस्तिष्विति वाच्यम्"। सूत्रकार की कमी की पूर्ति करना वार्तिककार का काम है। सूत्रकार जिस साधन को छोड़ गये थे दूसरे ने उसकी पूर्ति की। अतः इस प्रकार की कल्पना भी निर्मूल ही प्रतीत होती है। हमारा विचार यह है कि पाणिनि जी के समय में आरण्यकमन्त्र अवश्य थे किन्तु मन्त्र के रूप में थे। वे न तो ब्राह्मण रूप में थे और न ब्राह्मण के समान आरण्यक रूप में थे। इस पर्व में देखा जाय तो किसी अन्य पर्व से कोई कमी नहीं दीखती है। जैसे अन्य पर्वों में ऋषि, छन्द और देवता का क्रम देखा जाता है, ठीक उसी क्रम से वे सब कुछ यहाँ भी अपने २ स्थान पर विराजमान हैं। इसलिये इस पर्व को परिशिष्ट कहना भयङ्कर भूल है। हम नहीं कह सकते कि "वैदिक सम्पत्ति" के लेखक श्री रघुनन्दन शर्मा ने इस पर्व को किस आधार पर परिशिष्ट लिखने का साहस किया। इस प्रकार की अनेक बातें शर्मा जी की कल्पनाप्रसूत मालूम होती हैं। जिनका यहाँ उल्लेख करना आवश्यक नहीं है।

पर्व

सामवेद के पूर्वार्चिक में चार पर्व हैं। आग्नेय पर्व, ऐन्द्र पर्व, पवमान पर्व और आरण्यक पर्व।

इन चारों पर्वों का प्राचीन नाम "पर्व" के रूप में चला आ रहा है। किन्तु कुछ समय से इन पर्वों के साथ "काण्ड" शब्द का व्यवहार भी लोग करने लग गये हैं। ऐसा व्यवहार करना उचित नहीं है। क्योंकि "काण्ड" शब्द का प्रयोग "अथर्व वेद" में किया जाता है। सामवेद में ऐसा प्राचीन सम्प्रदाय नहीं है।

सामवेद के ब्राह्मण अथवा संहिता में कहीं भी काण्ड शब्द का प्रयोग नहीं मिलता है। ऐसी अवस्था में यह प्रश्न होना स्वाभाविक है कि "काण्ड" शब्द का व्यवहार कहाँ से आ गया। यह बात स्पष्ट है कि सबसे प्रथम सायणाचार्य ने काण्ड शब्द का प्रयोग सामवेद के पर्वों के स्थान में किया था।

इस प्रयोग की अयुक्तता सिद्ध करते हुए सत्यव्रत सामश्रमी जी ने "निरुक्तालोचन" में लिखा है कि—"सामवेदे—सामसंहितासु आर्चिक संहितासु ब्राह्मणेषु वा न क्वापि तैत्तिरीया दाविवकाण्ड विभागो दृश्यते अपितु सर्वास्वेव संहितासु पर्वेति ब्राह्मणेषु च पञ्चिकेति च तेन व्यज्यते सायणस्य तैत्तिरीयादावेव कृतबहुश्रमत्वमिति—"अर्थात् सायणाचार्य का पर्व के स्थान में काण्ड शब्द का प्रयोग करना साबित करता है कि सामवेद के विषय में उनकी इतनी जानकारी रही थी कि परम्परानुसार पर्व शब्द का प्रयोग करते। क्योंकि साम संहिता अथवा साम ब्राह्मण दोनों ही विभागों में पर्व और "पञ्चिका" शब्दों का ही व्यवहार देखा जाता है, काण्ड शब्द का नहीं। इसी तरह "दशति" के स्थान में खण्ड शब्द का प्रयोग भी उन्होंने ही चलाया है। इससे मालूम होता है कि तैत्तिरीय संहिताओं में ही उनका विशेष परिश्रम था। इत्यादि।

इन युक्तियों से यह सिद्ध हो गया कि "पर्व" शब्द का ही लिखना या छापना और व्यवहार करना प्राचीन शैली है, काण्ड शब्द का नहीं। "काण्ड" का प्रयोग सायण सम्प्रदाय है जो अयुक्त है। उनकी अयुक्तता से शब्दों की अयुक्तता स्वतः सिद्ध होती है।

शाखायें

यद्यपि सामवेद की तेरह शाखाओं के नाम ग्रन्थों में पाये जाते हैं, तथापि इस समय केवल तीन ही शाखायें प्राप्त होती हैं। वे ये हैं—कौथुमी, राणायनी, और जैमिनीय। इन तीनों में भी राणायनी हस्तलिखित रूप में कहीं २ पायी जाती है।

कौथुमी तथा राणायनी शाखाओं में "अध्याय" आदि के भेद के अतिरिक्त दूसरा कोई भेद नहीं है। सबके मन्त्र ज्यों के त्यों वे ही पाये जाते जो "कौथुमी" में है।

जैमिनीय संहिता के क्रम में भेद नहीं होते हुए भी उसके पाठ में भेद अवश्य ही है। इसके अतिरिक्त उसमें स्वतन्त्र मन्त्र भी कुछ हैं। जो अन्यों में नहीं हैं। इस जैमिनीय संहिता के अध्ययन से यह ज्ञात होता है कि यह संहिता "कौथुमी" के बाद प्रचलित हुई है इसके अनेक प्रमाण उपलब्ध होते हैं, किन्तु हम एक ही युक्तियुक्त प्रमाण देते हैं।

इन दोनों संहिताओं के पाठों पर विचार करने पर निम्न लिखित एक मन्त्र के एक ही पद के दो तरह के पाठ प्राप्त होते हैं जो दोनों के समयों का पार्थक्य सूचित करते हैं।

कौथुमी शाखा।	जैमिनीय शाखा।
रीषतः।	रिषतः।

केवल एक ही उदाहरण पर आप विचार करें तो ऐसा प्रतीत होगा कि—कुथुमसम्प्रदाय

की संहित. में दीर्घ रीष् धातु का पाठ है जब कि जैमिनीय में—ह्रस्व रिष् धातु का पाठ मिलता है। धातु पाठ के अध्ययन से ह्रस्व रिष् धातु का पाठ मिलता है, दीर्घ रीष् धातु है ही नहीं इसलिये इसके सम्बन्ध में यह अनुमान सम्भव है कि जैमिनी संहिता का पाठ धातुपाठ के अनुसार होने से कौथुमी की अपेक्षा से यह पीछे प्रचलित हुई है। युक्ति यह है कि कौथुमी का पाठ तबका है, जब धातुओं का संग्रह भी नहीं हुआ था अन्यथा ऐसा नहीं होता।

कौथुमी शाखा पर ही अब तक के भाष्यकारों के भाष्य भी पाये जाते हैं। इस लिये भी वही सबसे प्राचीन सिद्ध होती है।

उपसंहार

हमने इस लेख में सामवेद के सम्बन्ध में विषयभेद भाषाभेद, पाठभेद तथा स्वरभेद के प्रदर्शन के द्वारा यह विचार उपस्थित किया है कि इतने भेद सिद्ध होते हैं कि जिनसे विवश होकर यही कहना पड़ता है कि सामवेद संहिता एक स्वतन्त्र सत्ता रखती है। वह भी न केवल कुछ मन्त्रों के रूप में अपितु १८७५ मन्त्रों के रूप में ही वह प्रकट हुई और अब तक उसी रूप में ही विद्यमान रह कर मानव समाज ही नहीं अपितु प्राणीमात्र के कल्याण का उपदेश दे रही है। इस लेख के अन्त के भाग में मैंने कुछ शङ्काओं का समाधान कर पर्व, आरण्यक, तथा शाखाओं के विषय में भी कुछ विचार उपस्थित किये हैं। इसके ब्राह्मण, सूत्र तथा श्रौत के विषय में कुछ विचार देकर इस लेख का कलेवर बढ़ाना अनावश्यक प्रतीत हुआ।

अन्त में श्री स्वामी वेदानन्द तीर्थ जी महाराज को हम बहुत २ धन्यवाद देते हैं जिन्होंने इन पङ्क्तियों के लिये प्रोत्साहित किया है।

सृष्टि—स्थिति—लय

(जीवन जगत् में हो रहे परिवर्त्तनों का वैदिक रहस्य)

(श्रीमान शान्त स्वामी अनुभवानन्द जी महाराज, लाहौर)

उभा जिग्यथुर्नपराजयेथे न पराजिग्ये कतरश्च नैनोः।

इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेतां त्रेधा सहस्रंवितदैरयेथाम् ॥ ऋ० ६।६९।८

सृष्टि उत्पत्ति के उपरांत प्रत्येक उत्पन्न पदार्थ अथवा मूर्त्त-पिण्ड में संकलन-निष्कलन, विकास-निकास अथवा संश्लेषण-विश्लेषण नाम की दोनों क्रियायें समान रूप से नहीं; किन्तु विषम रूप से निरन्तर चालू रहती हैं। इन दोनों क्रियाओं के द्वारा जीवनीयतत्त्वों का उपसर्गोत्सर्गसंकलननिष्कलन-दिन रात बराबर होता ही रहता है। वैदिक साहित्य का अध्ययन करने वाले विद्वान् जानते हैं कि चराचर सृष्टि में जितने भी मूर्तिमान पिण्ड-पदार्थ पाये जाते हैं, वे सबके सब "अग्निसोमात्मक" हैं। शतपथ १।६।३।२३ में कहा गया है कि "द्वयं वा इदं न तृतीयमस्तिआर्द्रञ्चैव शुष्कञ्च। यच्छुष्कं तदाग्नेयं यदार्द्रं तत्सौम्यम्।" अर्थात्—समस्त सृष्टि में दो ही प्रकार के पिण्ड-पदार्थ पाये जाते हैं—तीसरा कोई नहीं; इनमें से एक गीला है और दूसरा सूखा है। जो वस्तु या जिस वस्तु का जितना भाग गीला है—

वह सौम्य (सोमात्मक) है; और जिसका जितना भाग सूखा है—वह आग्नेय है। शतपथकार के कथन का मूल बीज ऋग्वेद १।६३।६ में प्रगट किया गया है जो इस प्रकार है:—

अन्यं दिवो मातरिश्वा जभारामथ्नादन्य परिश्येनो अद्रेः। अग्निषोमा ब्रह्मणा वावृधानोरुं यज्ञाय चक्रथोरु लोकम्।

अर्थः—(मातरि-श्वा दिवः अन्यं आ जभार) अन्तरिक्ष में व्यापने वाला मातरिश्वा नामक प्राण❋ वायु एक स्वतंत्र 'अपस्तत्त्व' को (पानी के मूल सूक्ष्म तत्त्व को) ग्रहण करता है और (श्येनः△ अद्रेः परि अन्यं आ मथ्नात्) श्येन नामधारी आग्नेय वायु तत्त्व मेघ मण्डल को घेरे हुए दूसरे (भृगु) तत्त्व का मन्थन करता है, इस प्रकार (अग्निसोमौ ब्रह्मणा वावृधाना) अग्नि एवं सोम दोनों ब्रह्म तत्त्व की सहायता से बढ़ते हुए (यज्ञाय उ लोकं उरु चक्रथुः) सृष्टि यज्ञ अथवा सृष्टि संवर्द्धन के लिये इस दृश्यमान लोक का विस्तार करते रहते हैं।

यह मातरिश्वा नामक वायु सदैव आग्नेय भाव को धारण किये रहता है। गरमियों में चलने वाला तपतपाता लू इसीका अन्तिम रूप है; इसकी पुष्टि ऋ. १।६०।१; ६।८।४; और अथ. ११।५।१३ से भी होती है। इससे मालूम होता है कि, प्रजापति परमेष्ठि के "अग्निसोमात्मक" संगम से ही इस समूचे ब्रह्माण्ड की रचना हुई है। यज्ञों में तीन सवन होते हैं:—प्रातः सवन, मध्यन्दिन सवन और सायं सवन। इस मूर्त्तिमान जगत् के प्रत्येक मूर्त्तपिण्ड की रचना में भी हम तीनों सवनों (विभूतियों) का दर्शन पाते हैं। क्योंकि उत्पत्ति के पश्चात् प्रत्येक सजीव-निर्जीव पिण्ड एक निश्चित अवधि तक बढ़ता चला जाता है। उस निश्चित अवधि तक पहुँच कर ठहर जाता और एक निश्चित काल तक उसी भाव में ठहरा रहता है—उसकी बढ़ती मानों रुक सी जाती है। तीसरी अवस्था में वही पिण्ड क्रमशः घटते २ अन्त को समाप्त हो जाता है। प्राणिजीवन में भी ये तीनों सवन स्पष्ट देखे जाते हैं. इसी भाव को लेकर सुश्रुतकार ने कहा है कि

तिस्रोऽवस्थाः शरीरस्य—वृद्धिर्यौवनसम्पूर्णता, ततः परिहाणिः। सु. सूत्र० अ० ३५

अर्थात्—प्रत्येक प्राणिकलेवर की तीन अवस्थायें होती हैं:—वृद्धि, जोबन को पूर्ण स्थिति; और अन्त को परिहानि अर्थात् घटती। क्या ये ही इस जीवन यज्ञ के तीनों सवन हैं ?।

वैदिक वाङ्मय में भी सृष्टि के मूल कारण स्वरूप तीन ही तत्त्व बताये गये हैं:—

१—यौगिक (Compound) वायु का मूल बीज मातरिश्वा अथवा प्राणतत्त्व जो कि परावत❋ वायु का परिणाम स्वरूप है।

२—अग्नितत्त्व, तेजस्तत्त्व, विद्युत्तत्त्व—यौगिक अग्नि का मूल भृगुतत्त्व एवं अङ्गिरस्तत्त्व△।

३—अपस्तत्त्व के यौगिक भेद आपः, प्राण, सलिल, अम्भस्, सोम, मित्र, रेतः और कहीं २ सलिल का अवान्तर रूप सरिद्।

❋ प्राणो मातरिश्वा—ऐतरेय २।३८

△ श्येनोऽसीति सोमं वा एतदाह, एष हवा अग्निर्भूत्वाऽस्मिंल्लोके संश्यायति। गोपथ पू० ५।१२

❋ द्वाविमौ वातौ वात आसमुद्रादापरावतः—ऋ. १०।१३७।२

△ त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरा ऋषिः—ऋ. १।३१।१ त्वमग्ने प्रथमो अङ्गिरस्तमः—ऋ. १।३१।७

इन तीनों मौलिक तत्त्वों के जो नाम ऊपर लिखे गये हैं, वे सब पर्याय वाची होने पर भी एक ही रूप में नहीं हैं। ये सब इन तत्त्वों की भिन्न २ अवस्थाओं में परिणत होने पर ही घटते और चरितार्थ होते हैं। उदाहरण के लिये ऋ० १।१२६। ३-४ में सृष्टि के मूलभूत उपादानों में से 'अपस्तत्त्व' के लिये अम्भः, सलिल एवं रेतः नामों का प्रयोग किया गया है; किन्तु ये तीनों भी समानार्थक और पर्याय वाची होने पर भी अपनी २ भिन्न अवस्था में ही सार्थक होते हैं। प्रजापति परमेष्ठिमण्डल में व्याप रहे हैं। अरुण रूपक अपस्तत्त्व का मौलिक नाम आपः है, उसकी जीवनीय शक्ति ही वास्तव में अपः, आपः और प्राण कहलाती है। गोपथ पूर्वखण्ड १।२ में इस अपोव्याप्ति का वर्णन इस प्रकार किया गया है:—

तद्यदब्रवीत् आभिर्वाऽहमिदं सर्वमाप्स्यामि यदिदं किञ्चेति; तस्मादापोऽभवंस्तदपामाप्त्वम्।

अर्थः—तब जब उस मौलिक अपस्तत्त्व में व्यक्त ध्वनि हुई कि, इस समस्त अपोमय भाव में व्यापना—फैलना—हो, जो कुछ कि इधर उधर है;—तब उस आन्दोलन से आन्दोलित होकर वह व्याप गया—फैल गया—बस यही उसकी व्याप्ति थी।

जब उस व्याप रहे अपस्तत्त्व में आन्दोलन होने लगता है, तब उस अवस्था में उसमें से एक विशेष प्रकार की व्यक्त ध्वनि होने लगती है। उस ध्वनित अवस्था वाले अपस्तत्त्व को ही 'अम्भः' कहते हैं। जब उस अम्भस् भाव में ज़रा सा गीलापन आ जाता है, तभी उसका नाम 'मित्र' (आर्द्रता—Hydra अथवा आर्द्रोजन Hydrogen) होता है। जब वह गीलापन कुछ और स्पष्ट होने लगता है, तब वही 'सलिल' कहलाता है; और जब वही सलिल प्रवाही रूप धारण करता है, तब 'सरिद्' नाम से पुकारा जाने लगता है। अब इस प्रवाही सरिद् में निर्मलता आने लगती है, पारदर्शी दिखाई देने लगता है और इसमें सौम्यभाव आ जाता है जैसा कि हिमद्रव—ओस जल—में होता है;—तभी इसे 'सोम' कहा जाने लगता है। इस सोम तत्त्व में भेदक—स्फोटक एवं उत्पादन का सामर्थ्य पैदा हो जाता है, इस अवस्था में यही सोम* के नाम से पुकारा जाता है। जिस प्रकार निरुक्त १२।११—२६ तक में रात के अन्तिम पहर से लेकर अगली रात के प्रथम पहर तक त्वष्टा, सविता, भग, सूर्य, विष्णु, वरुण, केशिन, यम और वृषाकपायी आदि एक ही सूर्य के भिन्न २ समय एवं भिन्न २ प्रभाव तथा प्रभा के अनुसार भिन्न २ बारह नामों का उल्लेख किया गया है। जिस प्रकार अथर्व ३।१३। के अनेक मंत्रों, ऋग्वेद ७।३३।१०—१४ तक पांच मंत्रों; और ब्राह्मण ग्रन्थों तथा निघण्टु में वारि, वाः, उदक, द्रप्स, स्कन्न, ब्रह्मा, रेतस्, सोम, पुष्कर, अन्न, प्राण, वीर्य, अमृत, शान्ति, वसिष्ठ, प्रजापति और परमेष्ठी आदि पानी के नाम पढ़े गये हैं,—वे सब भी उसकी विभिन्न अवस्था एवं विभिन्न गुण धर्म को प्रगट करते हैं। अस्तु।

यही अपस्तत्व परमेष्ठिमण्डल में पहुँच कर अनेक परिवर्त्तनों में से होता हुआ अब सवितृ-तेज से उत्तेजित होकर बढ़ने लगता है, तब इसे ब्रह्म कहा जाता है;—और यही ब्रह्म पौराणिक कथानकों में वर्णन किये जाने वाले सृष्टि कर्त्ता—'ब्रह्मा' का जन्मदाता है। गोपथ पू० १।१६ में कहा भी है कि:—'ब्रह्म ह वै ब्रह्माणं पुष्करे* ससृजे।' अर्थात्—ब्रह्म नामक अपस्तत्त्व ही अन्तरिक्ष*

---

* सोमः=चन्द्रमा—ऋ. ८।७७।४

* पुष्कर=अन्तरिक्ष—निरुक्त ५।१४।१

में पहुँच कर ब्रह्मा की रचना किया करता है। यह ब्रह्म क्योंकि प्रजापति परमेष्ठी नामक व्यापक अपस्तत्त्व का कार्य है, अर्थात् इसका उपादान—'प्रजापति तत्त्व' होने से यह सुतरां—'प्राजापत्य' ¿ कहलाता है और इसी भाव से ऋ० १।८०।१ में इसके लिये क्रिया का प्रयोग किया गया है। यही ब्रह्मतत्त्व सारे भूमण्डल का मूल उपादान होने से इसका जन्मदाता है, इसीलिये भूमण्डल को—'ब्रह्माण्ड' कहा गया है। 'यह अपनी संकलन शक्ति से बिखरे हुए पिण्ड परमाणुओं को परस्पर संश्लिष्ट करके मूर्त्त पिण्ड बनाता रहता है। इसकी इस संकलनाप्रवृत्ति के कारण पुराणों में इसे देवता रूप से सृष्टि की रचना करने वाला बताया गया है।

अपस्तत्त्व का कार्य रूप यही ब्रह्म तत्त्व जब 'अवि' ❀ के रूप में चन्द्रमा ¿ से सौम्य भाव ग्रहण करके स्वयं सोम में परिवर्त्तित होता हुआ खेतियों, वृक्षों, वनस्पति एवं लताओं में प्रवेश करता है, तब अपने बहुव्यापी गुण कर्म के कारण 'विष्णु' कहा जाता है 'ब्रह्मतत्त्व के द्वारा' उत्पन्न की गई पिण्डरूप सृष्टि को 'अवि' एवं मातरिश्वा प्राण देकर पालन पोषण और स्थिर रखना तथा उसे रूप सम्पन्न करना ही इस विष्णु तत्त्व का काम है। इसी भाव को स्पष्ट करते हुए कहा गया है कि:—

प्राणः सोम—शतपथ ७।३।१।२ **प्राणो वै ब्रह्म पूर्व्यम्**—शतपथ ६।३।१।१७

'यो वै विष्णुः सोमः स—शतपथ ३।३।४।२१ **यतदन्तमेष सः विष्णुर्देवता**—शतपथ ७।५।१।२१

अथर्व० तीसरे काण्ड के सत्ताइसवें सूक्त में सन्ध्या में पढ़े जाने वाले छः मंत्र "अघमर्षण" कहलाते हैं, उनमें ५ वाँ मन्त्र इस प्रकार है:—

ध्रुवादिग्विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः तेभ्योनमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्योनम इषुभ्यो नम एभ्य अस्तु।

अर्थ—अय मनुष्यो! तुम्हारे जीवन-जगत् की एक ध्रुव अर्थात् निश्चित दिशा अवस्था है, पालन और स्थिर रखने वाला विष्णु तत्त्व उसका अधिपति हैं; क्योंकि वही रंग बिरंगे वनस्पतियों में की खाद्य सामग्री रक्षा किया करता है। इस काम के लिये वृक्षों—वनस्पतियों—में व्याप्त उनकी 'वीरुध नामक घटकें (Ammunitic Corpuscles) उनके विकार निवारणार्थ मानों बाणों का काम कर रही हैं; इसलिये उन घटकों (अंशों parts) की रक्षा वृद्धि होते रहना चाहिये, उनके मूल कारण विष्णु तत्त्व की पुष्टि होते रहना चाहिए, उन तत्त्वों की सुरक्षा करने वाले घटकों का पोषण भी जारी रहना चाहिये, विकारग्रस्त घटकों को नष्ट करने वाले वीरुध बाणों को बढ़ती बनी रहे; इन सभी तत्त्व विभागों की ओर से सावधान रहो, उनकी मात्रा कम न होने पाये।

ऊपर लिखे पर्वग्रामों (paragraphs) में हम यह समझ चुके हैं कि, ब्रह्म तत्त्व ही वस्तुतः सृष्टि का सर्जन करते समय ब्रह्मा और फिर समस्त चराचर में व्याप कर संकलन, उपसर्जन अथवा उपादान स्वरूप तत्त्वों—घटकों—के द्वारा उत्पन्न हो चुके पिण्ड—पदार्थों—को साम्य अवस्था में

¿ प्रजापत्यो वै ब्रह्मा—गोपथ ऋ० ३।१८

❀ अविर्वैनाम देवता—इत्यादि। अथर्व १०।८।३१

¿ सोमः=चन्द्रमा—अथ० ११।६।७; ऋ० ८।७७।४

रख कर जब पोषण करने लगता है, तब वही ब्रह्म तत्त्व पौराणिक परिभाषणी में 'विष्णु देवता' के नाम से विख्यात होता है। इस प्रकार उत्पादन करने वाली ब्रह्मशक्ति का क्रिया कलाप ही जीवन यज्ञ और सृष्टियज्ञ का 'प्रातः सवन' अर्थात् प्रारम्भिक ऐश्वर्य है, जिसे हम अपनी भाषा में जीवन जगत् का शैशव काल कह सकते है। पालन पोषण करने और जीवन जगत् को उसकी निश्चित अवधि तक स्थिर बनाये रखने वाली व्यापक 'विष्णु शक्ति का कार्य काल इस जीवन यज्ञ—सृष्टि-यज्ञ का 'मध्यन्दिन सवन है जिसे हम जीवन जगत् का यौवन काल कहते हैं।

इसी विष्णुरूपी सोम तत्त्व में जब सजीव शक्ति बहुत बढ़ कर अन्तिम सीमा पर पहुँच जाती है, तब इसमें एक ऐसा आन्दोलन उठ खड़ा होता है कि जिसके संघर्ष से एक नवीन लहर पैदा होती है, उसे हम आर्द्रोविद्युत् (Hydro-electricity) कह सकते हैं। यह विद्युत् प्रवाह केवल सोम अथवा आर्द्रिक जल में ही नहीं होता, बल्कि प्रत्येक पिण्ड पदार्थ में पाया जाता है—इसी 'विद्युत् प्रवाह' को वैदिक परिभाषा में 'प्राकृत इन्द्र' कहा गया है। यदि हम ऋग्वेद के दूसरे मण्डल के १२वें सूक्त और १० वें मण्डल के ८६ वें सूक्त को मन लगा कर पढ़ें तो, सरलता से समझ सकते हैं कि, इन्द्रतत्त्व किस २ सजीव एवं निर्जीव वस्तु के लिये प्रतिपादित किया गया है।

संसार में जितनी भी अग्नि पायी जाती है, उस सब में तीन ही प्रकार की क्षमता देखने में आती है। इन तीनों शक्तियों में से पहली क्षमता—सामर्थ्य 'दीप्ति' अर्थात् चमक एवं प्रकाश है, दूसरी क्षमता 'तेज' अर्थात् तीव्रता, जलाने पकाने वाली शक्ति और तीक्ष्णता है; और तीसरी क्षमता 'गति' अर्थात् स्वयं गतिशील होना एवं दूसरे पदार्थों में गति पैदा करना। यदि थोड़ा और भी विचार करें तो हम समझ सकते हैं कि विद्युत् अर्थात् इन्द्र तत्त्व की दीप्ति में ही गति है और इस गति का ही अन्तिम प्रभाव निष्कलन विश्लेषण और विलयन है। अग्नि के इस वैद्युतिक तेज को भी वैदिक साहित्य में 'इन्द्र' * ही कहा गया है। इसी के तेजोमय तत्त्व को हम सब प्रकाश के रूप में देखा करते हैं। ऊपर लिखी क्षमताओं के अतिरिक्त अग्नि में और भी अनेक तात्त्विक विभूतियां रहती हैं, उनमें से भृगु, अङ्गिरस्, अत्रि, विद्युत, ज्योति एवं विरूपस्; और आकर्षण विकर्षण के रूप में दोनों प्रकार की गति शक्ति भी विद्यमान रहती है। इसकी विकर्षण—विश्लेषण—गति का ही अपर नाम निष्कलन है। आकर्षण गति अन्तरिक्ष में अनेक नक्षत्रों और मण्डलों का स्तम्भन कर रही होती है:—इसी स्तम्भन शक्ति का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

यः पृथिवीं व्यथमानामदृंहद् यः पर्वतान् प्रकुपितॉं अरम्णात्। योअन्तरिक्षं विममे वरीयो योद्यामस्तभ्नात् स जनास इन्द्रः॥ ऋ० २।१२।२

जो कम्पायमान हो रही भूमि को उसकी अपनी ही धुरी पर स्थिर किये हुए हैं, जो उठ रहे—उत्तेजित हो रहे—पर्वतों अथवा पर्वमान पदार्थों को रमणीय बना रहा है। जो सर्व सुन्दर क्षेपनों के लिये अन्तर्लोक (Etheral area) की सीमाबन्दी कर रहा है, और जिसने सौर मण्डल की स्थिति को सुनियमित कर रखा है—अय लोगो! वह भी इन्द्र (प्राकृत इन्द्र) ही है।

अग्नि और विद्युत् में जो निष्कलन अथवा विश्लेषण शक्ति है, उसका सामान्य नाम प्राकृत इन्द्र होने पर भी पारिभाषिक नाम "रुद्र" है, इसी कारण निरुक्त कार यास्क ने अग्नि पद के निर्वचनों

---

* कौषीतकी १४।१

में "अग्निरपि रुद्र उच्यते" कहा है। इस रुद्र नामक अग्नि के भी अनेक रूप और प्रभाव हैं जो, अपने २ गुण कर्मानुसार भिन्न २ नामों से स्मरण किये जाते हैं। प्राणिक ऊष्मा (Animal heat) यद्यपि शोणित प्रभव होने से 'आर्द्रविद्युत्' है; किन्तु वह भी आग्नेय गुण विशिष्ट होने से अग्नितत्व का ही रूपान्तर है और वैदिक परिभाषा में 'तनूनपात्'* कहा जाता है। यास्क ने किसी अतीतकालीन निरुक्तकार शाकपूणी का मत प्रगट करके कहा है:—

अग्निरिति शाकपूणीः। आपोऽत्र तन्व उच्यन्ते—तता अन्तरिक्षे, ताभ्य ओषधिवनस्पतयोजायन्त ओषधिवनस्पतिभ्य एष (अग्निः) जायते। निरुक्त ८।६

अर्थः—शाकपूणी के मत से 'तनूनपात्' शरीरिक अग्नि का नाम है। इस मत से 'तनू' का अर्थ द्रवरूप सोम—जल—है, वह अन्तरिक्ष में फैला हुआ होता है। उससे खेतियां एवं वनस्पतियां पैदा होती हैं और वे ही अन्न के रूप में इस आग्नेय तत्त्व—प्राणिक ऊष्मा—को पैदा किया करता है. इसी कारण इस आग्नेय तत्त्व का वैदिक नाम 'तनूनपात्' है।

तब क्या इस आग्नेय प्रभाव रखने वाले तनूनपात् को पुष्टि कर्त्ता "विष्णु" कहना उपयुक्त होगा? हां, यही बात है। वस्तुतः अग्नि, वायु और सोम—ये तीनों एक दूसरे के विरोधी होते हुए भी एक दूसरे में अविनाभाव से सम्मिलित रहते हैं। तीनों परस्पर सहयोगी एवं सहायक भी हैं; और असहयोगी तथा प्रतिद्वन्द्वी भी हैं। जहां २ अनुकूलता में प्रभावित होते हैं, वहां २ सहयोगी, योगवाही और सहकारी हैं, किंतु जहां २ प्रतिकूल परिस्थितियों में सम्मिलित होते हैं, वहां २ असहयोगी और प्रतिरोधी हो जाते हैं। जिस प्रकार समुद्रज अर्थात् मित्र (Hydrogen) वायु और वरुण (Oxygen) वायु एक विशेष अनुकूल मात्रा (H_2O) मिलकर पानी बना देते हैं, और ये ही दोनों विपरीत मात्रा (HO_2) में मिलने पर प्रतिकूल परिस्थिति से प्रभावित होते हुए आग पैदा कर देते हैं,—ठीक यही अवस्था इन तीनों तत्त्वों की देखी जाती है। आयुर्वैदिक ग्रन्थों में इसी भाव से जठराग्निक सीकरों को "रुद्र" कहा गया है, इसीलिये माधव निदान आदि निदान ग्रन्थों में मलेरिया ज्वर की उत्पत्ति का कारण "रुद्र निःश्वास" अर्थात् जठराग्निक रसों के विपाचन से उत्पन्न विकारी वाष्प को बताया है।

ऋ० ४।२२।३ में इन्द्र का विशेषण "महादेव" है, ऋ० १०।३७।१ में सूर्य का विशेषण भी "महादेव" है और अथ० १३।४।४ में सवितृमण्डल को भी "महादेव" ही कहा गया है। यास्कीय निरुक्त (१०।८) के अनुसार ऋ० १।२७।१० में अग्नि रुद्र है, ऋ० २।१।६ में तो अग्नि के लिये 'रुद्र' 'महादेव' 'इन्द्र' और पालन पोषण करने वाला 'पूषा' भी कहा गया है। इन सभी विशेषणों से ज्ञात होता है कि, अग्नि का विश्लेषणकारी प्रभाव ही 'रुद्र' और उसी का दूसरा रूप 'इन्द्र' के नाम से स्मरण किया गया है। पुराणों में रुद्र के ११ नाम—रूप—वर्णन किये गये हैं। उनमें से एक नाम है जो, हरने विश्लेषण करके छिन्न भिन्न करने वाला स्वरूप ही आग्नेय रुद्र है। अहिर्बुध्न्य, सावित्र और वैवस्वत स्पष्ट ही अपने को प्रभाव प्रगट करते हैं। यही रुद्र महादेव पौराणिक कथानकों में सृष्टि का विश्लेषण द्वारा संहारकर्त्ता तीसरा देवता महादेव है।

---

*निरुक्त—१०।७

इन तीनों ब्रह्म-सोम, मातरिश्वा-प्राण और रुद्र नामक अग्नि के सम्मिलित कार्यक्रम को ही 'उत्पत्ति, स्थिति और-लय-प्रलय' के नाम से प्रगट किया जाता है। इन तीनों में से ब्रह्म अर्थात् सोमतत्त्व का काम प्राकृत घटकों के संकलन-संश्लेषण-क्रिया द्वारा प्रत्येक पिण्ड पदार्थ की रचना और वृद्धि करना है। इसके द्वारा पिण्ड पदार्थों का संकलन हो जाने के पश्चात् दूसरे दोनों देव-तत्त्वों से किसी प्रकार का संघर्ष, विमर्ष अथवा विरोध नहीं होता। किन्तु प्राण एवं अपान अर्थात् विष्णु एवं इन्द्र नाम धारी रुद्र तत्त्व का प्रत्येक पिण्ड पदार्थ में संघर्ष-विमर्ष बराबर चलता रहता है। प्राण के प्रतिनिधि विष्णु देव का काम है श्वास द्वारा आने वाले स्वच्छ वायु एवं अन्यान्य खाद्य पदार्थों के पचपचा जाने पर बनने वाले जीवनीय घटकों (अजज़ा) का आदान, उपसर्ग, संकलन और संश्लेषण करके प्राणि पदार्थों के आयु जीवन को स्थिर बनाये रखना। इधर अग्नि के प्रति-निधि रुद्र नामक इन्द्राग्नि का काम है श्वास द्वारा आने वाले वायु में से प्राण तत्त्व के अलग हो जाने अथवा शारीरिक तर्पण के लिये रुधिर में मिल जाने और खाद्य पदार्थों के पचपचा जाने तथा उनमें से सजीव घटकों के अपसारित (Absorbed) हो जाने पर बचे हुए घोकट को मल, मूत्र, पसीना और धूमिकवाष्प (Carbonic acid gas) के रूप में बाहिर निकालते रहना इसके अति-रिक्त विष्णुपदामृत प्राप्त द्वारा संकलित लिये हुए जीवनीय घटकों को शारीरिक रचना में खर्च करके जीर्णशीर्ण करते २ निष्कलन-विश्लेषण-क्रिया के द्वारा समाप्त करते जाना भी इसी का काम है।

इस प्रकार प्रत्येक स्थावर जंगम जीवन का प्रारम्भिक तिहाई भाग ब्रह्म तत्त्व द्वारा पैदा होकर बढ़ती में रहना 'ब्रह्मा' का, बोच वाला तिहाई भाग पालन, पोषण और स्थिर रखने वाले 'विष्णु' का और अन्तिम तिहाई भाग अर्थात् जीवन जगत् का सायं सवन रुद्र नामक 'इन्द्र' देवता का समझना चाहिये। मध्यन्दिन सवन अर्थात् जीवन जगत् के यौवन काल में विष्णु और रुद्रदेव की मानो संधि रहती है। कोई भी प्राणी जीवन यदि अपनी अज्ञानता अथवा असावधानता से इस मध्य जीवन का दुरुपयोग करने लगे तो, इस प्रतिकूल परिस्थिति के उपस्थित हो जाने पर रुद्र नामधारी इन्द्राग्नि की क्रिया बढ़ जाने से निष्कलन अधिक होने लगेगा, जिससे जीवनीय घटकों का क्षय बढ़ जायेगा। यहाँ तक कि जीवन भी समाप्त हो जायेगा। इसके विपरीत यदि जीवन का सदुपयोग किया जाय तो, संधि फिर भी पूर जायेगी; किन्तु इस अवस्था में विष्णु शक्ति के बढ़ती पर आजाने से संकलन क्रिया भी बढ़ती जाती है। इससे जीवनीय उपादानों के बढ़ जाने से आयु भी बढ़ जाती है, शरीर भी स्वच्छ रह जाता है और प्राणी शक्ति सम्पन्न होने लगता है। इस प्रकार प्रत्येक पिण्ड पदार्थ की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु—समाप्ति—तक विष्णु एवं रुद्रेन्द्र—इन दोनों—में से किसी एक का विजय अथवा पराजय न होकर दोनों क्रियाओं द्वारा संकलन-निष्कलन अथवा विकास-विनाश समान रूप से जारी रहता है,—नवीन उपादान संकलित होते रहते हैं और पुराने घटक निकलते रहते हैं, इसी रहस्य को प्रगट करने के लिये इस मन्त्र का उपदेश हुआ है जो इस लेख के आरंभ में दिया गया है। इसका अर्थ इस प्रकार है कि:—

दोनों विजयी रहते हैं, इनमें से एक भी पराजित नहीं होता—न ही एक दूसरे को पराजित करता है। जीवन का भी सदुपयोग किया जाये तो इन्द्र और विष्णु में यदि कभी स्पर्द्धा भी होने लगे, तो ये दोनों प्राणि जीवन के तीनों सवनों—भागों—में हज़ारों प्रकार की प्रेरणायें ही देते रहते—देते रह सकते हैं।

वेद की शिक्षा सार्वभौम है

(श्री महात्मा नारायण स्वामी जी)

(१) प्रारंभ

जगत् के प्रारंभ में जिस प्रकार पृथिवी निवासियों की आंखों की सहायतार्थ, जगत् रचयिता ने सूर्य की रचना की उसी प्रकार मानस चक्षु के लिये वेदों को प्रादुर्भूत किया जिससे मानस चक्षु उनसे ज्ञान प्राप्त कर सके। इसीलिये वेद किसी देश या जाति विशेष के लिये नहीं अपितु समस्त भूमंडल के लिये प्रादुर्भूत हुये थे और समस्त देशों में एक समय उनकी शिक्षा प्रचलित भी थी। एडन बर्ग रिव्यू (Eden Berg Review) के अनुसार संस्कृत एक समय, इस पृथिवी के समस्त देशों में प्रचलित थी और उसी संस्कृत (अभिप्राय वेद की भाषा से है) से समस्त भाषाओं की उत्पत्ति हुई। इस बात को प्रो० मैक्समूलर आदि भाषा विज्ञान वेत्ताओं ने असंदिग्ध शब्दों में स्वीकार किया है।

(२) वेद और उनकी शिक्षा का प्रकार

वेदों के सार्वभौम होने की बात, उनकी शिक्षाओं से प्रमाणित होनी चाहिये इसलिये हम उनकी मुख्य शिक्षाओं पर एक दृष्टिपात करना चाहते हैं:—(१) वेद में मनुष्यों के दो भेद प्रकट किये गये हैं एक आर्य—उत्तम ज्ञान और उत्तम कर्म करने वालों तथा व्रतों के पालन करने वाले श्रेष्ठ पुरुषों को आर्य कहते हैं। इस के विपरीत दस्यु घातक, नाशक और प्रत्येक प्रकार के दुष्ट कर्म करने वालों को कहते हैं। आर्यों के लिये वेद में शिक्षा दी गई है कि उन (दस्युओं) को आर्य बनावें जिस से बुरे कर्म करने वाले कोई न रहें।

नोट—"दस् उपक्षये" धातु से दस्यु शब्द बनता है जिसके अर्थ घातक नाशक आदि के हैं।

(२) वेद में मनुष्यों को संबोधन करते हुये कभी किसी जाति या देश विशेष को संबोधन नहीं किया गया है। वेद के संबोधन का प्रकार ऐसा है जैसे "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः" (यजुर्वेद) सुनो हे अमृत पुत्रो! यहां मनुष्य मात्र को अमृत पुत्र कहा गया है-किसी प्रकार का भेद जाति आदि का नहीं किया गया है।

(३) वेद में वैदिक धर्म का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है:—

विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभय ँ सह।

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ (यजुर्वेद ४०।११)

अर्थात् "ज्ञान और कर्म को जो साथ साथ जानता अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर के उसे कार्य में परिणत कर देता है वह कर्म से मृत्यु के पार होता और ज्ञान से अमरता को प्राप्त कर लेता है।" इस का अभिप्राय यह है कि वेद प्रतिपादित धर्म, जो वैदिक धर्म के नाम से प्रसिद्ध है, केवल इतना है कि मनुष्य ज्ञान प्राप्त करके उसके अनुसार कर्म करे परंतु यह ज्ञान और कर्म सोद्देश्य होने चाहिये। उद्देश्य यह है कि उनसे मृत्यु पर्यन्त समस्त बंधन कट जावें। यह धर्म है जिसे दुनिया के प्रत्येक व्यक्ति काले, गोरे, लाल और पीले, बिना किसी प्रतिबंध के पालन कर सकते हैं। इस धर्म का पालन करते हुये उनका पारस्परिक व्यवहार और समाज संगठन कैसा हो? इस संबंध में वेद की शिक्षायें इस प्रकार हैं:—

(३) वैदिक साम्यवाद

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभगाय। युवा पिता स्वपा रुद्र एषां सुदुघा पृश्निः सुदिना मरुद्भ्यः ॥ (ऋ० ५।६०।५)

अर्थ—जिन में कोई बड़ा नहीं है और कोई छोटा नहीं, ऐसे (एते) ये सब (भ्रातरः) भाई (भाई की तरह) (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (सं, वा, वृधु) मिलकर आगे बढ़ते हैं। इन सब का (युवा, पिता) शक्तिशाली पिता (स्वपा, रुद्र) उत्तम कर्म करने वाला परमेश्वर है। (एषां) इनकी (सुदुघा) उत्तम दूध (धनधान) देने वाली माता (पृश्निः) भूमि है जो (म-रुद्भ्यः) न रोने वाले जीवों के लिये (सुदिना) अच्छे दिन देती है।

एक दूसरा मंत्र इस प्रकार से है:—

करफशस्य विशफस्य द्यौ पिता पृथिवी माता।

यथाभिचक्रे देवास्तथाप कृणुता पुनः ॥ (अथर्व० ३।६।१)

अर्थ—(करशाफ) निर्बल और (विशाफ) प्रबल—दोनों का पिता (द्यु) परमेश्वर और माता पृथिवी है। (यथाभिचक्रे देवाः) जैसा पराक्रम देवों ने किया (तथा, अपकृणुता, पुनः) वैसा ही ये करें।

इस प्रकार के अनेक मंत्र वेदों में मिलते हैं। इन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वेदों की दृष्टि में यह पृथिवी एक विशाल परिवार है जिस में न कोई बड़ा है न कोई छोटा सभी भाई भाई और बहन बहन हैं। इन सब को मिलकर उन्नति के मार्ग का पथिक बनना चाहिये क्योंकि वे सभी एक ही माता (पृथिवी) और पिता (परमेश्वर) के पुत्र हैं। Fatherhood of God & brotherhood of man kind की इस से बढ़कर और क्या शिक्षा हो सकती है ?

(४) मतभेद होने पर क्या करना चाहिये ?

इतने बड़े विशाल परिवार में मतभेद न हों यह संभव नहीं। वेद ने इस मत भेद होने को, इन शब्दों में, स्वीकार किया है:—

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्टः, सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।

यमयोश्चिन्न समा वीर्याणि, ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः ॥ (ऋ० १०।११७।६)

अर्थ—एक व्यक्ति के दोनों हाथों में बराबर बल नहीं होता, एक ही गाय की दो बछियायें बराबर दूध नहीं देतीं, एक ही समाज के दो व्यक्ति बराबर दान नहीं देते। इन मतभेदों के होने पर क्या करना चाहिये ? इस संबंध में वेद की शिक्षा इस प्रकार है—

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नाना धर्माणं पृथिवी यथौकसम्।

सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥ (अथर्व० १२।१।४५)

अर्थ—अनेक भाषाओं तथा भिन्न भिन्न धर्मों (कर्त्तव्यों) के भेद होने पर भी जब मनुष्य मिलकर इस प्रकार रहते हैं जैसे एक परिवार के भीतर रहा करते हैं तब पृथिवी उनका पालन करती है

और धन द्रव्य की उसी प्रकार अनेक धारायें दिया करती हैं जिस प्रकार गायें दूध की अनेक धारायें देती हैं ॥

जब वेद की इस शिक्षानुसार पृथिवी निवासी मिलकर रहा करते हैं तभी संसार शान्ति का धाम बना करता है ।

(५) इन शिक्षाओं के काम में लाने के साधन

वेदों की उपर्युक्त शिक्षाओं को काम में लाने के साधन आश्रम और वर्ण हैं । उनकी संक्षिप्त रूप-रेखा यहां अंकित की जाती है:—

(६) आश्रम और वर्ण व्यवस्था

मनुष्य के जीवन को अधिक से अधिक उपयोगी बनाने के लिये उसे चार भागों में विभक्त किया गया है, इन्हीं के नाम ४ आश्रम हैं । जिन में पहला आश्रम ब्रह्मचर्य है । यह आश्रम जीविका की चिन्ता से मुक्त रह कर विद्याध्ययन और शरीर, मन तथा आत्मा को पुष्ट बनाने के लिये है । इस आश्रम के उद्देश्यों की पूर्ति का समय कम से कम २४ वर्ष तक की आयु है । दूसरा गृहस्थाश्रम—विवाह करके सन्तान पैदा करना, अन्य समस्त आश्रमों तथा अपने लिये शुद्ध व्यवसाय करके जीविका उपलब्ध करना, राज्य को सुप्रबंध से चलाना तथा देश और जाति की रक्षा करना, मुख्य रीति से इस आश्रम के उद्देश्य हैं । इस आश्रम की अवधि ५० वर्ष तक है । तीसरा वानप्रस्थाश्रम—यह आश्रम तपस्या करके आत्मोन्नति करने, ब्रह्मचारियों को मुफ्त शिक्षा देने तथा अन्य निस्स्वार्थ भाव से सेवाओं के करने के लिये हैं । चौथा संन्यासाश्रम—संसार के भोगों से विरक्त होकर, जनता की निस्स्वार्थ सेवा करने, परलोक की उन्नति के साधनों को काम में लाते हुये, अपने उपदेशों, और शिक्षाओं से बाकी आश्रमों को अपने अपने कर्तव्यों के पालन करने में लगाने आदि के लिये यह आश्रम है । इन चारों आश्रमों में से एक गृहस्थ को छोड़कर अन्यों के लिये कोई व्यवसाय करके धनोपार्जन करना निषिद्ध है । इसी-लिये बाकी आश्रमों का कोई वर्ण नहीं होता ।

(७) गृहस्थाश्रम के भेद ४ वर्ण

धन पैदा करने के उद्देश्य से गृहस्थाश्रम को चार भागों में विभक्त किया गया है, इन्हीं के नाम चार वर्ण हैं । इस बात को भली भांति समझ लेने के लिये वर्णों के कर्तव्यों पर एक दृष्टिपात करना आवश्यक है । मनुस्मृति में, इन वर्णों के कर्तव्य निम्न भांति वर्णित हैं:—

नाम वर्ण	परलोक संबंधी कर्तव्य	धनोपार्जन के लिये, लोक संबंधी कर्तव्य
(१) ब्राह्मण	(१) ज्ञानोपार्जन करना	(१) शिक्षा देना
	(२) यज्ञ=उत्तम कर्मों को निष्कामता से करना	(२) यज्ञ कराना
	(३) दान देना	(३) दान लेना
(२) क्षत्रिय	ब्राह्मण की तरह	राज्य करना तथा युद्ध और शासन विभाग के अन्य कार्यों को करना ।
(३) वैश्य	" " "	व्यापार, कृषि, पशु पालन तथा अन्य बड़े बड़े व्यवसायों का करना ।
(४) शूद्र	" " "	शारीरिक परिश्रम करना

उपर्युक्त चित्र पर दृष्टि डालने से, यह बात साफ़ ज़ाहिर हो जाती है कि परलोक संबंधी कार्यों में कोई वर्णभेद नहीं। इसीलिये ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और संन्यासी का कोई वर्ण नहीं होता। वर्ण भेद जीविका उपलब्ध करने के, लोक संबंधी कार्यों में है। गृहस्थाश्रम का प्रारंभ आयु के २५वें वर्ष से होता है, वर्णों का प्रारंभ भी उसी समय से हुआ करता है। इसलिये वर्णों का जन्म से कोई संबंध नहीं हो सकता। ये वर्ण न तो जीवन के प्रारंभ से शुरू होते हैं न जीवनान्त तक रहा करते हैं। इनका संबंध बीच के एक आश्रम से है जिस का समय २५वें से ५०वें वर्ष तक का है, इसलिये प्रचलित जन्म की जातियों का भी इस वर्ण व्यवस्था से कोई संबंध नहीं।

(८) आश्रम और वर्ण के लाभ

आश्रम व्यवस्था का प्रारंभ (ब्रह्मचारी के) ग़रीबी के जीवन के साथ होता है और अन्त संन्यासी के भिक्षु जीवन के साथ होता है। इसलिये आश्रम व्यवस्था के प्रचलित होने से मौरूसी अमीरी और ग़रीबी नहीं हो सकती। अर्थात् न तो कोई हमेशा के लिये अमीर बन सकता है न हमेशा के लिये कोई ग़रीब ही रह सकता है।

(२) इस व्यवस्था में श्रम और पूंजी (Labour & Capital) का झगड़ा भी नहीं हो सकता इसलिये कि इस व्यवस्था में स्थिर अमीरी और स्थिर गरीबी दोनों का अभाव है।

(३) इस व्यवस्था में एक आश्रम जो धन पैदा करता है वह केवल अपने लिये नहीं बल्कि चारों आश्रमों के लिये है फिर भला उससे कौन झगड़ा कर सकता है?

(४) इन वर्णों में छुटाई और बड़ाई का भी प्रश्न नहीं उठाया जा सकता क्योंकि प्रत्येक वर्ण अपने अपने कामों में निपुणता रखने से अन्यों से विशेषता रखने वाला हुआ करता है। यह बात श्रेणी (Kind) तथा दरजों (Decrees) का भेद समझ लेने से भली भांति समझी जा सकेगी। जो वस्तुयें भिन्न भिन्न श्रेणियों (Kinds) की हुआ करती हैं, उनमें दरजों का भेद नहीं हुआ करता। दरजों का भेद एक ही श्रेणी की वस्तुओं में हुआ करता है। अर्थात् यह नहीं पूछा जा सकता कि यह मेज अच्छी है या यह दावात अच्छी है? इस लिये कि दोनों दो भिन्न भिन्न श्रेणियों की वस्तुयें हैं। हां दस मेज़ों या १० दावातों में यह पूछा जा सकता है कि कौन सी मेज़ अच्छी है या कौन सी दावात अच्छी है, इसलिये कि १० मेज़े एक ही श्रेणी की चीज़ें हैं, इसी प्रकार १० दावातें भी एक ही श्रेणी की वस्तुयें हैं। इसी के अनुसार यह भी नहीं पूछा जा सकता कि कौनसा वर्ण बड़ा और कौन सा छोटा है क्योंकि ये चारों वर्ण भी भिन्न भिन्न श्रेणियों की वस्तुयें हैं। हां १० ब्राह्मणों में यह पूछा जा सकता है कि उनमें कौन सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रकार अन्य वर्णों में भी एक एक वर्ण के अन्दर ही यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि कौन सर्वश्रेष्ठ और कौन उसकी अपेक्षा अल्प श्रेष्ठ है, इत्यादि।

(९) वेद की इन शिक्षाओं का परिणाम

वेद की इन सार्वजनिक भ्रातृभाव संबंधी शिक्षाओं को, क्रियात्मक रूप देने के साधन वर्ण और आश्रम हैं जैसा कि कहा जा चुका है इनके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्रता से जो चाहे काम कर सकता है और जितना चाहे अपने को श्रेष्ठ बना सकता है, ऐसे व्यक्तियों के लिये उन्नति का प्रत्येक द्वार खुला हुआ है। यही एक मार्ग है जिस से जाति और देश में मेल और सामंजस्य रह सकता है और रक्खा जा सकता है।

(१०) पश्चिमी सभ्यता से निराशता

पश्चिमी संस्कृति और सभ्यता से घबरा कर इसी लिये अब पश्चिमी विद्वान् पूर्वी सभ्यता की ओर ताकने लगे हैं। एक एमरीकन ने युद्ध काल ही में लिखा थाः—

"Plenty of talk of crushing the enemy, of marching to Berlin & Tokyo, of unconditional surrender, but not a whisper of pity or forgiveness. We people of the west—we simply have not got it......Force, violence, revenge, arrogance, pride, power, these we are familiar with, & spread as a contagion to other people. as witness our cross imitation, Japan. But mercey, compassion, Love, huminity & self abnegation, peace, these we know little of yet it is these latter & not the former, which can alone deliver the world from death. who can be sorry that balance is shifting these days from west to east. The western empirles are perishing of their sins, which China & India prepare to take over destiny of man kind.

(११) पश्चिमी विचारक और विश्वभावना

इस समय के पश्चिमी विचारक भी अपने विचारों और लेखों में, भारत ही की, वेद प्रतिपादित विश्वभावनामयी शिक्षा का स्वप्न देख रहे हैं। यहां हम एक उदाहरण देते हैं:— पिछले पश्चिमी युद्ध के बाद भी League of nations बनी थी, उसके मन्त्रि मण्डल के प्रधान मन्त्री डाक्टर फिलिप रैविन (Dr. Philip Rvaan) थे। उन्होंने अपने अनुभव के आधार से एक Dream Book १६४० ई० से २१०६ ई० तक के हालात की लिखी थी। यह बात यहां ध्यान में रखनी चाहिये कि डाक्टर रैविन की मृत्यु इस दूसरे युद्ध के शुरू होने से पहले हो चुकी थी। वैल्स (H. G. wells) महोदय ने उसी के आधार पर एक पुस्तक, "The shape of things to come." लिखकर प्रकट किया है कि १६४० से १६५० ई० तक लड़ाई रहेगी।

१६५० से १६६० तक Transport Union बनेगा। हवाईजहाज़ और व्यापार उसके आधीन रहेंगे।

१६६५ ई० में उस यूनियन (समिति) के निम्न कार्य होंगे:—

(१) आकाश और समुद्र का नियंत्रण (२) व्यापार नियंत्रण (३) आयात और निर्यात नियंत्रण (४) शिक्षा नियंत्रण (५) कुछेक अन्य नियंत्रण

१६७८ ई० में बसरे में एक सम्मेलन होकर यह यूनियन संसार की पहली (supreme) गवर्नमेन्ट होगी।

१६७८ से २०५६ ई० तक संसार की राज्य प्रणाली के संबंध में विचार होता रहेगा।

२०५६ ई० में मजेवी (mageve) में एक और सम्मेलन होगा और उसमें, इस पृथिवी के राज संगठम का कुछ और रूप हो जायगा। २१०६ ई० में इस संगठन का प्रधान (King President) चुन लिया जावेगा और दुनिया में शान्ति हो जावेगी।

इसी प्रकार की बातें डेवीस ने अपने ग्रन्थ भविष्य के इतिहास (History of future by

J. L. Davies) में लिखी हैं। इन लेखों से स्पष्ट है कि पश्चिम के कुछेक विचारक इस पृथिवी को एक विशाल परिवार के रूप ही में देखना चाहते हैं।

(१२) वेद प्रचारक आर्य समाज का स्वरूप

आर्य समाज के प्रवर्तक ऋषि दयानन्द वेद प्रचारक थे और उन्होंने उन्हीं वेदों के प्रचार के लिये, अपने स्थानापन्न के रूप में आर्य समाज की स्थापना की थी; जिस से उनका प्रचारित वेद प्रचार का काम बराबर जारी रहे। ऋषि दयानन्द ने आर्यसमाज के स्वरूप को प्रकट कर देने के लिये आर्य-समाज के प्रसिद्ध नियमों में, जिनको स्वीकार करके ही कोई आर्यसमाज में प्रविष्ट हुआ करता है, छठा नियम यह रक्खा:—"संसार का उपकार करना आर्यसमाज का मुख्योद्देश्य है अर्थात् शारीरिक आत्मिक और सामाजिकोन्नति करना।"। वेद जैसा कहा जा चुका है कि संसार के लिये हैं और वे समस्त पृथिवी को एक विशाल परिवार के रूप में देखना चाहते हैं। इसीलिये उनका प्रचारक आर्य समाज किस प्रकार किसी देश विशेष या जाति विशेष के लिये हो सकता है? वह भी समस्त पृथिवी को एक विशाल परिवार के रूप ही में समझता है और उसका मुख्योद्देश्य उसी परिवार का उपकार करना है और उस का उद्देश्य यही हो भी सकता था, परंतु आर्यसमाज के इस स्वरूप को न समझ कर कुछेक भाई कहा करते हैं:—

(१) आर्य समाज केवल हिन्दू सुधारक समाज है और इसलिये अन्य कार्यों को छोड़कर उसे केवल यही काम करना चाहिये।

(२) दूसरे प्रकार के भाई कहते हैं कि आर्य समाज को राजनैतिक कार्यों में भाग लेना चाहिये। अब तक ऐसा न करने के लिये वे उलाहना भी देते हैं और कहते हैं कि उसने ऐसा न करके अपने को पीछे डाल रक्खा है अन्यथा वह कांग्रेस आदि सब से आगे होता और देश के शासन में भी उसका बड़ा अधिकार होता। कुछ और भी इसी प्रकार की बातें कही जाती हैं। इनके संबंध में हमारा उत्तर इस प्रकार है:—

(१) आर्यसमाज को क्यों हिन्दू सुधारक समाज समझा गया? इसका एक मात्र कारण स्वर्गीय श्री स्वामी श्रद्धानन्द जी का, हिन्दू संगठन के कार्य को अपनाना था। वे आर्यसमाज के नेता थे इसलिये उनके इस कार्य के प्रभाव से आर्य भाई भी बच नहीं सके, उन में से कई तो अपने को हिन्दू कहने में भी संकोच नहीं करते जब कि प्रारंभ के आर्य अपने लिये ऐसा सुनना भी गवारा नहीं करते थे, परंतु आर्यसमाज ने कभी अपनी स्थिति बदलने का विचार भी नहीं किया। इसलिये मेरी दृष्टि में, अब भी आर्यसमाज की स्थिति और स्वरूप वही है जिसका ऊपर उल्लेख हो चुका है।

(२) जो भाई समष्टि रूप से राजनैतिक कार्यों में भाग लेने की सलाह आर्य समाज को दिया करते हैं, उन्होंने, प्रतीत होता है कि आर्यसमाज की "सार्वभौम" स्थिति को नहीं समझा, अन्यथा वे सोचते कि इस देश के आर्यसमाज यदि स्वराज्य लेने और अंगरेज़ों को देश से निकालने का काम समष्टि रूप से अपना ठहरावें तो इंगलैंड, अमरीका, अफ्रीका आदि के ५०० से अधिक आर्यसमाज किस प्रकार इस आन्दोलन में भाग ले सकते हैं? समष्टि रूप से, इन बहुसंख्यक आर्यसमाजों का इस कार्य से कोई संबंध नहीं हो सकता। यदि आर्यसमाज के कार्य का क्षेत्र भारत वर्ष तक सीमित होता

तब तो यह बात विचारी भी जा सकती थी परंतु आर्यसमाज को स्थिति सार्वदेशिक होते हुये, अब उसे पीछे नहीं लौटाया जा सकता। आर्यसमाज ने अपने सदस्यों और सहायकों को स्वतंत्रता दे रक्खी हैं कि वे अपनी व्यक्तिगत स्थिति में राजनैतिक कार्य करें अथवा जो भी सुधार संबंधी कार्य उन को रुचिकर हो करें। इस स्थिति को दुनियां भर के आर्य, जहां भी वे चाहें या जहां भी वे हों, बिना किसी खटके के स्थिर रखकर काम में ला सकते हैं। इससे आगे कोई क़दम उठाना आर्यसमाज की स्थिति को खतरे में डालना होगा। इसलिये प्रत्येक आर्य को उस से बचना चाहिये।

आलम्भन ?

[श्री पं० सत्यानन्द जी शास्त्री, साहित्योपाध्याय, एम. ए. ओ. एल., उपमन्त्री विरजानन्द-वैदिक-संस्थान, लाहौर।]

श्रौत ग्रन्थों के "अग्निषोमीयं पशुमालभेत" इत्यादि वाक्यों में अनेक विद्वानों के विचार से "आलभ्" धातु का अर्थ "मारना" अर्थात् "जान से वियुक्त करना" या "वध करना" माना गया है। वास्तव में "आलभ" का मुख्यार्थ यह नहीं, अपितु "प्राप्त करना" है, जैसा कि महर्षि पाणिनि ने धातु-पाठ में "डुलभष् प्राप्तौ" लिखा है। कुछ समय पश्चात् किन्हीं विशेष कारणों से गौणवृत्ति द्वारा "वध करना" अर्थ में "आलभ्" धातु का प्रयोग होने लगा। शनैः शनैः यह अर्थ प्रबल होता गया और आज स्थिति यह है कि संस्कृत साहित्य इसी अर्थ में "आलभ्" के प्रयोगों से भरा पड़ा है। जैसे:—

आलम्भसमये तस्मिन् गृहीतेषु पशुष्वथ। महर्षयो महाराज बभूवुः कृपयान्विताः॥

महाभारत अश्व पर्व ९१वां अध्याय।

[अर्थ—"हे महाराज ! वध के समय जब पशु पकड़ लिए गए तो (इस दृश्य को देख कर) आमन्त्रित ऋषि लोग कृपा से द्रवित हो उठे"]

इस स्थल में "आलभ्" का अर्थ निश्चित ही वध है। और भी—

मनुष्याणां समालम्भो नैव दृष्टः कुतश्चन। स कथं मानुषै र्देवं यष्टुमिच्छति शंकरम्॥

महाभारत, सभापर्व, २२वां अध्याय।

[अर्थ—"मनुष्यों का वध यज्ञों में हम ने कहीं देखा और सुना नहीं। ऐसी स्थिति में वह किस तरह शंकर देवता (शिव जी) का मनुष्य बलि से यज्ञ करने की इच्छा करता है।"]

यहां पर भी संपूर्वक "आलभ्" का अर्थ "वध करना" है। वैदिक साहित्य में भी बहुधा "आलभ्" का प्रयोग "वध करना" इस अर्थ में ही पाया जाता है। जैसे ऐतरेय ब्राह्मण २।१।८॥ में निम्नलिखित वाक्य मिलता है।

"पुरुषं वै देवाः पशुमालभन्त। तस्मादालब्धान्मेधः उदक्रामत्।"

[अर्थ—"देवताओं ने (यज्ञार्थ) पुरुष रूपी पशु का वध किया। वध किए हुए मनुष्य से यजनीय भाग हवा हो गया।"]

यहां पर भी आलभ् का अर्थ निश्चित ही "वध करना" ऐसा है। इतना ही नहीं पुराणों में

बहुधा "आलभ्" धातु का प्रयोग "वध करना" अर्थ में ही आता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत स्कन्ध ११ अध्याय २१ का ३० वां श्लोक है—

हिंसा विहारा ह्यालब्धैः पशुभिः स्वसुखेच्छया। यजन्ते देवता यज्ञैः पितृभूतपतीन् खलाः॥

[अर्थ—"हिंसक स्वभाव वाले दुष्ट लोग अपने सुख की इच्छा को पूरा करने के लिए (यज्ञ में) वध किए हुए पशुओं से पितर, भूत और पति इत्यादि देवताओं का यज्ञ करते थे।"]

यहां पर भी "आलभ्" धातु का अर्थ वध करना ही है।

परन्तु "आलभ्" का मुख्यार्थ "वध करना" कदापि नहीं हो सकता। महर्षि पाणिनि ने "डुलभष् प्राप्तौ" अर्थात् यह धातु प्राप्ति अर्थ में गिना है। कई विद्वान् कह सकते हैं कि आङ् उपसर्ग के बल से "लभ्" का अर्थ "हनन", "हिंसा" या "वध" हो जाता है। पर यह उनकी भूल है। वेदों में कई स्थलों पर "आलभ्" प्रयुक्त हुआ है। वहां पर कहीं भी हिंसार्थ में इसकी संगति नहीं लगती। जैसे—अथर्ववेद ७।१०१।७ में "अत्तान् यद् बभ्रून् आलभे" यह पाठ आया है। यहां पर अर्थ "स्पर्श द्वारा प्राप्त करना" है। अतः भावार्थ हुआ "मैं बादामी पासों को छूता हूँ। यदि यहां "आलभ्" धातु को हिंसार्थक माना जाए तो कदाचित् उपरिलिखित वेद वाक्य का कुछ अर्थ ही न बन पाएगा क्योंकि बेजान पासों का वध करना सम्भव ही कैसे हो सकता है?

इसी प्रकार यजुर्वेद २४।११ में "धूम्रान्वसन्ताय आलभते श्वेतान् ग्रीष्माय कृष्णान्वर्षाभ्यो अरुणान् शरदे पृषतो हेमन्ताय पिशंगान् शिशिराय" यह पाठ आता है। यदि उक्त मन्त्र में "आलभ्" धातु का "वध करना" अर्थ लिया जावे तो मन्त्रार्थ होगा "वसन्त (ऋतु) के लिए धूम्र रंग वाली और ग्रीष्म के लिए श्वेत रंग वाली और शिशिर के लिए पीले रंग वाली, शरद् (ऋतु) के लिए अरुण (लाल) रंग वाली, हेमन्त (ऋतु) के लिए चितकबरे रंग वाली और शिशिर के लिए पीले रंग वाली वस्तुओं का वध करता है।" परन्तु इस मन्त्रार्थ से कुछ आशय खुलता नहीं। इसके विपरीत "आलभ्" का अर्थ यदि "प्राप्ति, स्पर्श, या प्रयोग करना" किया जाए तो तात्पर्य स्पष्ट हो जाता है। क्योंकि ग्रीष्म ऋतु में सफेद कपड़ों का प्रयोग तो भौतिक विज्ञान के अनुकूल भी है। वैज्ञानिक लोग मानते हैं कि श्वेत रंग की वस्तुएँ प्रकाश और गरमी की किरणों को अपने अन्दर जज्ब नहीं करतीं अपितु लौटा देती हैं। "White colour is bad absorver and good reflector of heat and light." "आलभ्" को इसी अर्थ में लेने से मन्त्र का गूढ़ रहस्य समझ में आता है अतः इसका यह अर्थ ही युक्ति संगत है, इसके विपरीत वध करना" इत्यादि संगत नहीं।

आगे चल कर यजुर्वेद के ३०वें अध्याय में पुनः 'आलभते' का प्रयोग आया है। यहाँ पिछले अठारह मन्त्रों की संगति इकट्ठी ही लगती है। इन सब में केवल एक ही क्रिया पद "आलभते" है जोकि २२वें मन्त्र में आया है। इन सब मन्त्रों की संगति इसी क्रिया से लगती है। यदि ५वें मन्त्र की संगति "आलभते" क्रिया पद से लगाई जाए तो मन्त्र इस प्रकार बन जाएगा।

"ब्रह्मणे ब्राह्मणमालभते, क्षत्राय राजन्यमालभते" इत्यादि। अब इस प्रकरण में यदि "आलभ्" का अर्थ "वध करना" किया जाए तो मन्त्रार्थ होगा "ब्रह्म (की प्राप्ति) के लिए ब्राह्मण का वध करता है और क्षत्र (राज्य) (की प्राप्ति) के लिए राजन्य (सैनिक) का वध करता हैं।" भला क्या कभी

ज्ञानी ब्राह्मण को मार कर ब्रह्म की प्राप्ति संभव हो सकती है ? नहीं, कदापि नहीं। अतः आलभते का अर्थ "वध करना" न मान कर कुछ और ही किया जाना चाहिए। अब यदि यहां "आलभ्" का अर्थ "प्राप्ति या समीप जाना" किया जाए तो मन्त्रार्थ इस प्रकार होगा "ब्रह्म (की प्राप्ति) के लिए ब्राह्मण को प्राप्त होता है, अर्थात् उसके समीप जाता है" इत्यादि। यह अर्थ सचमुच है भी युक्ति संगत। इसी प्रकार वेद में जहाँ भी "आलभ्" का प्रयोग आया है "वध करना" अर्थ इसका कहीं भी नहीं। यही तो कारण है कि वैदिक कोष निघण्टु में जहां "दभ्नोति" इत्यादि ३३ वध कर्माणः धातुओं का परिगणन किया गया है वहां "आलभ्" का उल्लेख नहीं मिलता। इससे यह बात निश्चित हो जाती है कि वैदिक कोश निघण्टु के संकलनकाल तक "आलभ्" ने "वध करना" इस अर्थ को संगृहीत नहीं किया था।

अब प्रश्न उठता है कि यदि प्राचीन वैदिक साहित्य में "आलभ" का अर्थ "वध करना" नहीं, तो बाद में "आलभ्" का यह अर्थ कैसे हो गया। इस गुत्थी को सुलझाने के लिए हम पाठकों को पुनः यजुर्वेद के तीसवें अध्याय की ओर ले जाना चाहते हैं। यहाँ पर पिछले १८ मन्त्रों में १८४ पुरुषों की गणना की गई है, जिनके साथ राजा का व्यवहार पड़ता है। उनमें से कइयों को राजा प्रोत्साहित करता है, ताकि उनके कार्यों से समाज की उन्नति हो सके। शेष मनुष्यों को इसलिए यहां पर परिगणित किया गया है ताकि राजा उनको दण्डादि देकर सुधार दे या विनाश करदे जिससे कि समाज में वे कोई दोष उत्पन्न न कर सकें जैसे कि १८वें मन्त्र में आया है "अन्तकाय गोघातं ...... आलभते" इत्यादि, इस का अर्थ होगा "राजा प्राण दण्ड के लिए गोघातक को प्राप्त करे। यजुर्वेद के इस अध्याय के इस प्रकार के स्थलों में जहां कि समाज के प्रति पाप करने वाले लोगों की गणना की गई है औरउनके प्रति राजा का दण्ड रूपी व्यवहार भी उल्लिखित है, वहां पर "आलभ्" का "प्राप्ति" अर्थ दब सा जाता है और दण्ड भावना प्रबल हो जाती है। वस्तुतः बात यह है कि वाक्यार्थ—प्राणदण्ड—को धात्वर्थ समझ लिया गया है, और इस तरह 'आलभ्' का ही सीधा अर्थ प्राणदण्ड अर्थात् वध समझा जाने लगा। "आलभ्" में जो लभ् धातु है उसका अर्थ प्राप्ति ही है। परन्तु इन स्थलों पर परिगणित पापियों की राजा द्वारा केवल प्राप्ति अभीष्ट नहीं, अपितु अभीष्ट यह है कि उन्हें पकड़ कर दण्ड दिया जाए। अतः "अन्तकाय गोघातम् ...... आलभते" इत्यादि वाक्यों में दण्ड=हिंसा=घात=वध इत्यादि की भावना प्रबल होती गई। उक्त स्थल से संगृहीत हिंसा की भावना "आलभ्" में धीरे धीरे सर्वत्र संगृहीत होने लगी। और यह प्रवृत्ति इतनी प्रबल हुई कि उत्तर कालीन संस्कृत साहित्य में "आलभ्" का मुख्यार्थ "वध करना" ही हो गया, जैसा कि ऊपर दरशाया जा चुका है।

मैत्रायणी संहिता १।५।६ में "वत्समालभते वत्सनिकान्ता हि पशवः" यह पाठ आया है। काठक संहिता ७।८। में तत्स्थानीय पाठ इस प्रकार है "वत्सं पराहन्ति वत्स निकान्ता हि पशवः"। इस प्रकार के स्थलों ने भी "आलभ्" को हिंसार्थ में अपनाने में अवश्य सहायता दी होगी। यहां "पराहन्ति" "आलभते" का पर्याय है। परन्तु वस्तुतः ऐसा तभी हो सकता है यदि "हन्" धातु का "गति" (ज्ञान, गमन, प्राप्ति)" अर्थ ही संगृहीत किया जाए (और हिंसा अर्थ की निवृत्ति कर दी जाए)। परन्तु दूसरी ओर हुआ यह कि "हन्" का "हिंसा" अर्थ प्रगल्भ होता गया। तब अनायास ही "पराहन्ति" पर्याय ने "आलभते" को भी हिंसार्थक बना दिया। नीचे उत्तरकालीन साहित्य से ऐसे स्थलों का संग्रह किया गया है जहाँ "आलभ्" का अर्थ "वध करना" कदापि युक्ति संगत नहीं हो

सकता। इससे पाठक जान जाएंगे कि "आङ् पूर्वक लभ् (=आलभ्)" धातु का अर्थ वध करना, जैसा कि श्रौत ग्रन्थों में किया जाता है और जोकि वैदिक यज्ञों में पशुबलि का मूलाधार है, कदापि युक्ति-युक्त नहीं।

(क) पारस्कर गृह्यसूत्र १।८॥ में जो विवाह प्रकरण है उसमें हम निम्न वाक्य पाते हैं:—

"दक्षिणमंसमधि हृदयमालभते"

[शब्दार्थ —"(वर वधू के) दाहिने कन्धे के नीचे हृदय का आलम्भन (स्पर्श) करता है।]

(ख) पुनः पारस्कर गृह्यसूत्र १।११॥ में जो चतुर्थी कर्म प्रकरण है उसमें निम्न लिखित वाक्य मिलता है:—

"अथास्यै दक्षिणमंसमधि हृदयमालभते"

[शब्दार्थ—"तब (पति) उस (वधू). के दाहिने कन्धे के नीचे हृदय का आलम्भन (स्पर्श) करता है।"]

(ग) आगे फिर पारस्कर गृह्य सूत्र १।१३॥ में जो गर्भाधान संस्कार प्रकरण है उसमें निम्नलिखित वाक्य है:—

"एवमथर्तुमतीजायाहृदयमालभ्य पूर्ववत् सव्येन..........अभिमृशति""

शब्दार्थ:—"इस प्रकार ऋतुमती पत्नी के हृदय का आलम्भन करके पहिले की तरह बायें हाथ से......छूता है।"]

(घ) इसी प्रकार पारस्कर गृह्य सूत्र २।३॥ के उपनयन संस्कार प्रकरण में निम्नलिखित वाक्य मिलता है:—

"अथास्य दक्षिणांसमधि हृदयमालभते"

शब्दार्थ:—"तब आचार्य उस बालक के दाहिने कन्धे के नीचे हृदय का आलम्भन (स्पर्श) करता है।"]

ऊपर के चारों स्थलों में "आलभ" का "वध करना" यदि अर्थ लिया जाए तो वाक्यार्थ कुछ भी नहीं बनता। हां यदि "वध करना" के स्थान में पाणिनि मुनि प्रदर्शित "प्राप्त करना" अर्थात् "स्पर्श करना" अर्थ मान लिया जाए तो वाक्यार्थ युक्ति संगत हो जाता है।

(ङ) आश्वलायन गृह्यसूत्र १।१५।१॥ निम्न प्रकार है (देखो जातकर्मसंस्कार प्रकरण)।

"कुमारं जातं पुरान्यैरालम्भात् सर्पिर्मधुनी हिरण्यनिकाषं प्राशयेत्।"

[शब्दार्थ:—"इसके पूर्व कि नवजात बालक का कोई अन्य आलम्भन (स्पर्श) करे उसे सोने की सलाई द्वारा सोने के पात्र में रखा हुआ घी और मधु चटाना चाहिए"]

इस स्थल से भी "आलभ्" का अर्थ "वध करना" संभव नहीं।

(च) गोभिल गृह्यसूत्र २।७।२३॥ इस प्रकार है (देखो जातकर्मसंस्कार प्रकरण)—

"अत ऊर्ध्वमसमालम्भनमादशरात्रात्"

इस पर श्री प० सत्यव्रत सामश्रमी जी ने निम्न भाष्य किया है:—

"'अत ऊर्ध्वम्' नाभिकृन्तनात् परस्तात् 'आदशरात्रात्' दशरात्रिविशेषं यावत्

'असमालम्भनम्' 'अस्पर्शनम्' कुमारमातुरित्यशौचविधिः ।"

यहाँ पर श्री पं० सामश्रमी जी ने स्पष्ट ही आलम्भन का अर्थ स्पर्श किया है ।

(छ) आपस्तम्ब धर्मसूत्र प्रश्न २ पटल २ ख० ३ का तृतीय सूत्र इस प्रकार है:—

"केशानङ्गं वासश्चालभ्याप उपस्पृशेत् ।"

[शब्दार्थ—"केश अंग और कपड़े को छूने के पश्चात् मनुष्य को पानी से हाथ धोने चाहिएं" ।

श्री उज्ज्वलक उक्त सूत्र पर भाष्य करते हुए "आलभ्य" शब्द का "स्पृष्ट्वा" इस प्रकार अर्थ करता है ।

(ज) मीमांसा दर्शन के दूसरे अध्याय के तीसरे पाद के १७ वें सूत्र की टीका में सुबोधनीकार ने निम्नलिखित वाक्य लिखा है :—

"वत्सस्य समीपे आनयनार्थमालम्भः स्पर्शो भवति"

[शब्दार्थ:—बछड़े को (गौ) के समीप लाने के लिए पकड़ना (स्पर्श करना) आलम्भन कहाता है]

इस स्थल में तो स्पष्ट ही आलम्भन को स्पर्श कहा गया है ।

(झ) आयुर्वेद में दुरालभा नामक एक ओषधि का उल्लेख है । भाषा में इसे जवांह, जवासा, य यवासा कहते हैं । दुःस्पर्शः भी उसीका पर्यायनाम है । अतः "आलभ्" का अर्थ "स्पर्श करना" यहनइ पर्यायवाची शब्दों से भी व्यक्त हो जाता है । भावप्रकाश निघण्टु गुडूच्यादि वर्ग का २११वां श्लोक इस विषय में प्रमाण है :—

यासोयवासो दुःस्पर्शः धन्वयासः कुनाशकः । दुरालंभा दुरालभा समुद्रान्ता च रोदनी ॥

(ञ) पूर्व मीमांसा १.२.१० के भाष्य में "सः (प्रजापतिः) आत्मनो वपामुदक्खिदत्" तै० स० २.१.१.४ रूपी विषय वाक्य की व्याख्या करते हुए शबर स्वामी ने "आलभ्य" का अर्थ "उपयुज्य" इस प्रकार किया है । वास्तविक प्रकरण वहां निम्न प्रकार है:—

"नित्यः कश्चिदर्थ प्रजापतिः स्यात्—वायुः आकाशः आदित्यो वा । स आत्मनो वपामुदखिदत् इति वृष्टिं वायुं रश्मिं वा.........ततो अज इत्यन्नं, बीजं वीरुत् वा, "तमालभ्य" तमुपयुज्य प्राप्नोतीति गौणाः शब्दाः"

(ट) मीमांसा दर्शन २।३।१६।। "विशये प्रायः" पर भाष्य करते हुए श्री शबर स्वामी जी "आलभ्" धातु के सम्बन्ध में लिखते हैं—

"अत्र भगवान् आचार्य इदमुदाहृत्य 'वत्समालमेत वत्सनिकान्ता हि पशवः इति इमं संशयमुपन्यस्यति स्म किं यजिमदभिधान एषः आलभतिः उतालम्भमात्र वचनः इति ?"

[शब्दार्थः—"यहां पर आचार्य 'वत्स (बछड़े) का आलम्भन करे (क्योंकि) पशुओं को वत्स (बछड़े) प्यारे होते हैं' यह उद्धृत करके निम्न लिखित संशय को पेश करते हैं । 'क्या यह आलभ् धातु (यजिमद्) यज्ञार्थक है अथवा आलम्भन (स्पर्श) अर्थ को ही कहने वाला है ?"

तदनन्तर इस संशय में पूर्व पक्ष की स्थापना निम्न प्रकार से की गई है:—

"तत्र च पूर्वपक्षं प्रतिजानीते स्म, यजिमदभिधानः इति।......अतस्तां निवर्त्तयितुं पूर्वपक्षमुपन्यस्यति स्म. आलभतिरस्माभिः प्राणिसंयुक्तः यजिमदभिधानो दृष्टः, अयमपि प्राणिसंयुक्तः एव, तेनायमपि यजिमद्वचनः एव इति भवति कस्यचित् आशङ्का"

[शब्दार्थ:—"वहां पूर्व पक्ष की प्रतिज्ञा की जाती है कि (आलभ्) यजर्थक है..........

अतः उस (आशंका) का निवारण करने के लिए पूर्व पक्ष की स्थापना की जाती है। किसी प्राणी के सम्बन्ध में आया हुआ 'आलभ्' धातु को (प्रायः) हम यजर्थक देखते हैं। और यहां पर भी 'आलभ्' धातु प्राणी (वत्स) से संयुक्त ही है इसलिए यहां पर यह यजर्थक ही है ऐसी किसी को शंका हो सकती है।"]

आगे इस पूर्व पक्ष का निम्नलिखित उत्तर दिया गया है।

"एवं प्राप्ते ब्रूमः, अस्मिन् संशये आलम्भमात्रं संस्कारः कुतः ? प्रायः दर्शनात्........, वत्स आलभ्यमानो गां प्रस्तावयिष्यति तस्मादेवं न्यायप्राप्ते प्रायदर्शनं द्योतकं भवति तस्माद् आलम्भमात्रं संस्कारः।

[शब्दार्थ:—"ऐसी स्थिति में हमारा कहना है कि इस संशय में स्पर्श (आलम्भ) मात्र एक संस्कार है। क्योंकि प्रायः ऐसा देखने में आता है......वत्स (बछड़ा) जब छुआ जाता है तो गौ को प्रस्तावित करेगा। इसलिए ऐसा न्याय प्राप्त होने पर प्रायः दर्शन द्योतक हो जाता है। अतः स्पर्श (आलम्भन) मात्र एक संस्कार है।"

आगे फिर "अर्थवादोपपत्तेश्च" (मीमांसा दर्शन २।३।१७) में शवर स्वामी लिखते हैं:—

अर्थवादश्च भवति, वत्सनिकान्ता हि पशवः इति, यस्मात् वत्सप्रियाः पशवः, तस्मात् वत्स आलब्धव्यः इति, यदि गां प्रस्तावयितुमालभ्यते, तत्र एतद्वचनम् अवकल्पते, अथ संज्ञपितुम् तत्र एवंजातीयकं वचनं नोपपद्येत। तस्मात् आलम्भमात्रं संस्कारः इति सिद्धम्।

[शब्द:—"क्योंकि पशुओं को बछड़े प्यारे होते हैं वह अर्थवाद बन जाता है। क्योंकि पशु बछड़ों से प्यार करते हैं इसलिए बछड़ों का स्पश (आलम्भन) किया जाना चाहिए। यदि गौ को प्रस्तावित करने के लिए छुआ जाता है तो तब ही यह वचन (अर्थवाद) बन सकता है अन्यथा नहीं बन सकता। इसलिए स्पर्श (आलम्भन) मात्र संस्कार ही है।"]

ऊपर के दो मीमांसा सूत्रों के भाष्य में शवर स्वामी ने इस विषय पर 'कि आलम्भन का अर्थ "स्पर्श रूपी एक संस्कार विशेष है" या "मार कर यज्ञ करना" अच्छा विचार किया है और अन्तमें यही निश्चय किया है कि "स्पर्श-रूपी एक संस्कार विशेष" ही आलम्भन का अर्थ है।

(ठ) यजु० ३४।४६।। पर भाष्य करते हुए उवट महोदय मन्त्रान्तर्गत "अन्वालेभिरे" को "अन्वालभन्त" मान कर "आलभते स्पृशति" इसका अर्थ करते हैं। सारा प्रकरण वहां निम्न प्रकार है:—

वेद मन्त्र; सहस्तोमा सहछन्दस ऽआवृतः सहप्रमाऽऋषयः सप्त दैव्या पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा ऽन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन् ।। य० ३४।४६।।

इस मन्त्र पर उवट भाष्य का निम्न भाग विचारणीय है।

"यथा सारथिरिष्टदेशप्राप्त्यर्थं प्रथममश्वरश्मीनालभते स्पृशति एवं ते (धीराः =

ऋषयः) अपि सृष्टि यज्ञे सृष्टवन्तः ।"

यहां महीधर महोदय भी अन्वालेभिरे का स्पृशति ही अर्थ करते हैं। इस विषय में उक्त मन्त्र पर महीधर भाष्य का निम्न भाग विचारणीय है।

"........कथमिव ? रथ्यो न रश्मीन् नकारः उपमार्थः रथे साधु रथ्यः रथो यथा इष्ट देश प्राप्त्यर्थं प्रथमं रश्मीन् प्रग्रहानालभते स्पृशति सृजति वा तथा तेऽपि सृष्टि यज्ञं सृष्टवन्तः........"

इत्यादिक स्थलों से पाठकों को स्पष्ट हो गया होगा कि

(क) "आलभ्" (आ ङ् पूर्वक लभ्) धातु का मुख्यार्थ वध करना (हिंसा) नहीं अपितु प्राप्ति है जैसा कि महर्षि पाणिनि ने अपने धातु पाठ में निर्दिष्ट किया है।

(ख) वेदों में इसी "प्राप्ति" अर्थ में 'आलभ्' का प्रयोग हुआ है। और चारों वेदों में हिंसार्थ में मुख्यतया एक स्थान पर भी इस की संगति नहीं लगती।

(ग) हिंसार्थ में आलभ् का प्रयोग वैदिक समय के पश्चात् आरम्भ हुआ। और इसका मूल यजुर्वेद अध्याय XXX के वे स्थल समझने चाहियें, जहां कि दण्डार्थ (हिंसार्थ) समाज में से गोघाती इत्यादि दुष्ट पुरुषों का आलम्भन राजा को करना विधान किया है। जैसा कि हम पीछे लिख आये हैं।

(घ) संहिताओं ने कई स्थलों पर "हन्" धातु का प्रयोग, "आलभ्" का समानार्थक मानकर किया है। यह है तो ठीक, क्योंकि "हिंसा" के अतिरिक्त "हन्" धातु का अर्थ "गति" भी है जिसमें "प्राप्ति" भी समाविष्ट है। (गति के तीन अर्थ माने गए हैं ज्ञान, गमन और प्राप्ति) और इन प्रयोगों ने भी "आलभ्" को हिंसार्थ ग्रहण करने में बड़ी सहायता दी है। उत्तर काल में ज्यों ज्यों हन् केवल हिंसार्थ में ही रूढ़ होता गया त्यों त्यों आलभ् भी हिंसार्थ को अधिकाधिक अपनाता गया।

(ङ) अन्त में जब श्रौत यज्ञों में पशु बलि का आविर्भाव हो गया तो आलभ् भी हिंसार्थ में रूढ़ हो गया।

वैदिक राष्ट्र-व्यवस्था

[प्रोफेसर श्री पं० विश्वनाथ जी, वेदोपाध्याय]

वेदों में राष्ट्र सम्बन्धी बहुत ऊँचे विचार मिलते हैं। राष्ट्र व्यवस्था का अभिप्राय है "राष्ट्र का निर्माण, उसका प्रबन्ध, तथा एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र के साथ सम्बन्ध"। इन विषयों पर इस लेख में कुछ विचार दर्शाए जायेंगे।

राष्ट्र-शब्द का अर्थ

राष्ट्र शब्द के अर्थ पर हम प्रथम विचार करते हैं। राष्ट्र शब्द के निर्माण पर ध्यान देने से ज्ञात होता है कि राष्ट्र शब्द दो भागों में विभक्त किया जा सकता है। "राज्" और "त्र"। इस प्रकार ज्ञात होता है कि राष्ट्र वह देश और प्रजा है जिसमें राजा त्राण करता है, रक्षा करता है। "राज्" अर्थात् राजा और "त्र" अर्थात् त्राण, रक्षा। राष्ट्र शब्द में राज् के ज् को ष् हो गया है। इसी

प्रकार एक शब्द है भ्राष्ट्र। भ्राष्ट्र का अर्थ होता है भट्टी। भ्राष्ट्र शब्द में भी "भ्राज् या भ्रस्ज् धातु है और इसके अन्त में "त्र" लगा हुआ है। भाष्ट्र में भी भ्राज् या भ्रस्ज् के ज् को ष् हुआ है। भ्राज् का अर्थ है दीप्त होना और भ्रस्ज् का अर्थ है पाक करना, पकाना दीप्ति या पकाने के काम की रक्षा (त्राण) जिसमें होती है उस भट्टी को भ्राष्ट्र कहते हैं। इस प्रकार राष्ट्र शब्द के संगठन से प्रतीत होता है कि एक राजा जितने देश और जिस प्रजा पर शासन करता है. राज करता है उसे राष्ट्र कहते हैं।

राजा का चुनाव

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में वंशपरम्परा से आने वाले राजाओं को कोई स्थान नहीं। वेदों में राजा के चुनाव पर विशेष बल दिया गया है। इस वैदिक सिद्धान्त को सभी वैदिक विद्वान् मानते हैं। कोई भी ऐसा विद्वान् नहीं जो यह मानता हो कि वेदों में राजा को वंश परम्परा से प्राप्त हुआ माना गया है। न केवल ऐसे ही मन्त्र मिलते हैं जिनमें कि राजा के चुनाव का वर्णन है, बल्कि ऐसे भी मन्त्र विद्यमान हैं, जिनमें कि राजा को पदच्युत कर सकने का भय भी प्रदर्शन किया गया है। जिस व्यवस्था में राजा चुना जाय और पृथक् भी किया जा सके ऐसी व्यवस्था को डेमोक्रेसी कहते हैं, या प्रजा-द्वारा-शासन की प्रणाली कहते हैं। इस सम्बन्ध में हम कतिपय प्रमाण यहां उद्धृत करते हैं। अथर्ववेद ३।४।२।। में लिखा है कि—

"त्वां विशो वृणतां राज्याय"

अर्थात् प्रजाएँ तुझे चुनें राज्य करने के लिये। इसी प्रकार अथर्व वेद ४।८।४।। में लिखा है कि—

"विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु"

अर्थात् तुझे सभी प्रजाएँ चाहें। "तुझे सभी प्रजाएँ चाहें"—इस वर्णन से यह भी प्रतीत होता है कि वेदों में राजा के चुनाव में सम्मति देने का हक प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति को है, चाहे वह स्त्री हो चाहे पुरुष, चाहे धनी हो चाहे निर्धन, चाहे सम्पत्तिशाली हो, चाहे सम्पत्तियों से हीन, चाहे भूमिपति हो, चाहे किसान-मज़दूर, सभी को चुनाव में सम्मति देने का अधिकार है। अथर्व वेद ६।८७।१।। में यह भी कहा है कि—

"मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्"

अर्थात् हे राजन्! तुझसे राष्ट्र का अधिकार छीनना न पड़े। यह भय प्रदर्शन है कि यदि तू प्रजा की इच्छा के विरुद्ध राज्य शासन करेगा तो प्रजा तुझ से शासन का अधिकार वापिस भी लें सकती है। अथर्ववेद में लिखा है कि:—

"स विशोऽनुव्यचलत्। तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन्" (१५। ६।१।२।।)।

अर्थात् राजा जब प्रजाओं की सम्मति के अनुसार चलता है तभी सभा, समिति, सेना और सुरा अर्थात् राष्ट्रकोष उस राजा के पीछे २ चलते हैं। सभा और समिति का क्या अभिप्राय है,— यह आगे स्पष्ट हो जायगा। अथर्ववेद १६।३७।३।। में राजा को राष्ट्र का भृत्य अर्थात् नौकर कहा गया है। इसके लिये अथर्ववेद का 'राष्ट्र भृत्य' शब्द विशेष महत्त्व रखता है। राजा को राष्ट्र का

भृत्य कहने से यह भी भाव सुतरां स्पष्ट है कि वैदिक राष्ट्र-व्यवस्था में प्रजा के हाथ में ही शासन-सूत्र दिया गया है। अर्थात् वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में राजा भृत्य है और प्रजा स्वामिनी है। डैमोक्रेसी का यह कितना ऊँचा भाव है। इस डेमोक्रेसी को वेदों में "स्वराज्य" कहा गया है। स्वराज्य का अर्थ है "अपना राज्य" अर्थात् प्रजा का अपना राज्य।

किस जाति का व्यक्ति राजा चुना जाय?

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में यह आवश्यक है कि राष्ट्र अपनी जाति के व्यक्ति को ही राजा चुने। जैसे कि भारतवासियों को भारतवासी व्यक्ति ही राजा चुनना चाहिये, इङ्गलैण्ड वासियों को अंग्रेज जाति का ही व्यक्ति राजा चुनना चाहिये, इत्यादि। अपनी जाति का राजा और अपनी जाति शासक अपनी प्रजा की भावनाओं, कामनाओं, आवश्यकताओं, प्रथाओं, आदतों आदि को ठीक रीति से समझ सकते हैं और उनके साथ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं। यह गुण विदेशीय राजा में होना मुश्किल है। इसीलिये अथर्व वेद ३।५।२ में चुना गया राजा कहता है कि:—

"अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः"

अर्थात् मैं जो कि राजा चुना गया हूँ वह तुम्हारे राष्ट्रवर्ग का निज व्यक्ति हूँ, वह मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मैं अपने आपको उत्तम बनाऊंगा। इस मन्त्र में "निज" शब्द इस भाव को प्रकट कर रहा है कि राजा वही व्यक्ति चुना जाना चाहिये जो कि उसी जाति का व्यक्ति हो। "निज" शब्द में "नि" और "ज" ये दो विभाग है जिसने निश्चित रूप से अपनी जाति में जन्म पाया हो उसे "निज" कहते हैं। वेदों में विषम परिस्थितियों में इसका अपवाद भी पाया जाता है। परन्तु सामान्य नियम यही है कि राजा उसी प्रजाजन में से एक व्यक्ति हो जिस प्रजाजन पर कि उस राजा को राज्य करना है। अथर्ववेद ६।२७।१ में इसी भाव को "अन्तरभू" शब्दों द्वारा भी प्रकट किया गया है। "अन्तर् अभूः" का अर्थ है कि "तू अन्दर का है, हमारी जाति के अन्दर का है"।

राजा का राज्य काल

वैदिक राष्ट्र व्यवस्था में जब राजा चुन लिया जाता है तब उसके ऊपर शासन काल का कोई प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता। वर्ष-वर्ष के बाद, या पांच-पांच वर्षों के बाद, या किसी भी निश्चित वर्षसंख्या के बाद राजा का चुनाव अवश्य कर देना चाहिए,—यह सिद्धान्त वेदों को अभीष्ट नहीं। वेदों की दृष्टि में ऐसे व्यक्ति को ही राजा चुनना चाहिये जो कि प्रजाजनों में से सर्वोत्कृष्ट हो। ऐसे व्यक्ति को जब राजा चुन लिया और वह यदि राज्य शासन उत्तम रीति से करता है और प्रजा को सुखी तथा सम्पन्न बनाता है तब उसके पुनः चुनाव की कोई आवश्यकता नहीं। वह राजा तब हट सकता है या तो उसकी मृत्यु हो जाय, या रोगी आदि रहने के कारण स्वयं त्याग पत्र दे दे, और या वह निकम्मा समझ कर प्रजाजनों द्वारा पृथक् कर दिया जाय। अथर्व वेद ३।४।७॥ में लिखा है कि:—

"दशमीमुग्रः सुमना वशेह"

अर्थात् हे राजन्, तू सुप्रसन्न रह कर इस राजगद्दी पर या इस राष्ट्र में दसवीं अवस्था तक भी राज्य करता रह। ९० वर्षों से ऊपर की अवस्था को "दशमी" अवस्था कहते हैं। मनुस्मृति में लिखा है कि:—

"शूद्रस्तु दशमीं गतः"

अर्थात् जब शूद्र अपनी दसवीं अवस्था तक पहुँच जाय तब वह भी सत्कार और अभिवादन के योग्य हो जाता है। इस प्रकार चुना हुआ राजा यदि प्रजा का सदा भला करता है तो वह जब तक जीवित रहे तब तक राज्य कर सकता है, ऐसी वैदिक भावना है। यह भावना सर्वोत्तम तथा सर्वोत्कृष्ट भावना है।

राजा के सहायक

राजा राज्य का शासन करता है। परन्तु राज को राज्यशासन सम्बन्धी नियमों के बताने तथा राज्य की सम्यक् व्यवस्था कायम रखने के लिये सभा और समिति के निर्देशों के अनुसार चलना होता है। वेदों में इस सभा और समिति का वर्णन कई स्थानों पर आया है। कई युरोप के विद्वानों ने लिखा है कि जूआ-घर को सभा कहते हैं, और युद्ध को समिति। यह बात बिल्कुल गलत है। सूत्रकारों के समय सभा का अर्थ जूआघर भी था—इसमें इसमें विवाद नहीं। इसी प्रकार वैदिक काल के बाद समिति का अर्थ युद्ध भी हो गया—इसमें भी विवाद नहीं। परन्तु यह निश्चित है कि संहिता भाग में सभा का मुख्य अर्थ "शासकसभा" है, और समिति का मुख्य अर्थ "शासकसभा" से भी ऊँची सभा है। एक राष्ट्र में राजा की सहायक सभा को तो वेदों में "सभा" कहा है और इसके मैम्बरों को सभ्य तथा सभासद् कहा है। परन्तु समिति-संगठन सभा-संगठन से ऊँचा संगठन है। जब राष्ट्र परस्पर रक्षा की भावना से मिल कर एक संयुक्त-राष्ट्र बनाते हैं तब इस संयुक्त राष्ट्र के राजा को जो सहायक-संस्था दी जाती है उसे वेदों में समिति कहते हैं। यजुर्वेद १२। ८० में लिखा है कि:—

"यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव। विप्रः स उच्यते भिषग्रक्षोहामीवचातनः।"

अर्थात्, जिस व्यक्ति में ओषधियों का उत्तम संगम होता है जैसे कि समिति में राजाओं का, उस बुद्धिमान् व्यक्ति को भिषक् अर्थात् वैद्य कहते हैं, यह वैद्य रोगकीटों का मारने वाला होना चाहिये, तथा रोगों को नष्ट करने वाला होना चाहिए"। वैद्य वही है जिसमें ओषधियों का उत्तम संगम होता है, जिसमें औषध-विज्ञान एक समन्वय में रहता है। इस वर्णन में ओषधियों के परस्पर विरोध या लड़ाई का भाव नहीं है। इसी प्रकार समिति उसे कहेंगे जिसमें कि राजा लोग इकट्ठे हों और परस्पर मिल कर अपने संयुक्त-राष्ट्र के राजा के सहायक, परामर्श दाता तथा नियम निर्माता बनें। अथर्ववेद १२। १। ५६ में लिखा है कि:—

ये संग्रामाः समितयः

अर्थात् जो संग्राम और समितियां है, उनमें हे मातृभूमि! हम तेरी कीर्त्ति को गावें। इस मन्त्र में संग्राम और समिति शब्द इकट्ठे पढ़े गये हैं—अतः निश्चित है इन दोनों शब्दों के अर्थ भिन्न हैं, एक ही नहीं। साथ यह भी ध्यान रखना चाहिये कि समिति शब्द "सम्" और "इति" इन दो शब्दों के मेल से बना है। अंग्रेज़ी भाषा का कमेटी (committee) शब्द समिति का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। अंग्रेज़ी com=सम्, और ittee=इति। इसलिये committee=सम्+इति=समिति। इस प्रकार भी समिति शब्द के अर्थ पर विशेष प्रकाश पड़ सकता है। अतः सभा और

समिति—ये राष्ट्र और संयुक्त-राष्ट्र की सहायक-व्यवस्थाएँ हैं। सभा तो राष्ट्र के राजा की सहायक सभा है। समिति संयुक्त-राष्ट्र के राजा की सहायक सभा है। सभा में प्रजाजनों के प्रतिनिधि होते हैं, और समिति में राष्ट्रों के। राजा स्वयं प्रतिनिधिरूप में एकत्र होकर संयुक्त राष्ट्र के राजा को सहायता देते हैं। संयुक्त-राष्ट्र को वर्त्तमान समय में हम confederation या federation कह सकते हैं। इस संयुक्त-राष्ट्र को वैदिक भाषा में हम साम्राज्य कह सकते हैं, और संयुक्त-राष्ट्र के राजा को सम्राट्। साम्राज्य और सम्राट् में वह "सम्" शब्द है जो कि समिति में "सम्" शब्द है। इस प्रकार सम्राट्, साम्राज्य और समिति—ये तीनों शब्द एक प्रकार के राष्ट्रसंगठन के पारिभाषिक शब्द प्रतीत होते हैं। और वह राष्ट्र संगठन है संयुक्त-राष्ट्र संगठन।

सभा और समिति पर और अधिक प्रकाश

सभा और समिति के ठीक २ भावों को समझने के लिये हमें अथर्ववेद के उस सूक्त पर विशेष विचार करना चाहिये, जिसमें कि राष्ट्रभाव के उत्क्रमण का विशेष वर्णन है। वह सूक्त निम्नलिखित है। यथा:—

विराड् वा इदमग्र आसीत्, तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥१॥ सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥ गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥ सोदक्रामत्, साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥ यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥ सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥ यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥ सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥ यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥ सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥ यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ । सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥ यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद ॥ १३ ॥

अथर्ववेद काण्ड ८, सूक्त १० और पर्याय १ के ये प्रसिद्ध मन्त्र हैं। इन में राष्ट्र आदि के भावों के उत्क्रमण (Evolution) का वर्णन है। वर्णन बहुत महत्त्व का है। इन मन्त्रों का अर्थ मन्त्रक्रम से निम्न लिखित है। यथा:—

"निश्चय से पहले विराट्-अवस्था थी, उसके जन्म होते ही उससे सब डरे कि क्या यही अवस्था आगे रहेगी ॥ १ ॥ इस विराट्-अवस्था में उत्क्रान्ति (उन्नति) हुई. यह विराट्-अवस्था गार्हपत्य-संगठन में उतरी ॥ २ ॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है वह गृह-यज्ञ को रचाता है और गृहजीवन का पति (रक्षक) बनता है ॥ ३ ॥ इस गार्हपत्य-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह गार्हपत्य-संगठन आहवनीय-संगठन में उतरा ॥ ४ ॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसके देव-निमन्त्रण पर देव लोग आते हैं और वह देवों का प्रिय बन जाता है ॥५॥ इस आहवनीय-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह आहवनीय-संगठन दक्षिणाग्नि-संगठनमें उतरा ॥६॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है वह दक्षिणाग्नि-संगठन-रूपी-यज्ञ में जाने का अधिकारी होता है, वह वसती अर्थात् निवास के योग्य नगर के जीवन का उपकार करने वाला होता है ॥ ७ ॥ इस दक्षिणाग्नि-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई; वह दक्षिणाग्नि-संगठन सभा-संगठन में उतरा ॥८॥

जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है, उसकी सभा में देव लोग आते हैं और वह व्यक्ति इस सभा का सभासद् या सभापति बनता है ॥ ६ ॥ इस सभा-संगठन में भी उन्नति हुई, वह सभा-संगठन समिति संगठन में उतरा ॥ १० ॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसकी समिति में देव लोग आते हैं, और वह व्यक्ति इस समिति का सदस्य होता है ॥ ११ ॥ इस समिति-संगठन में भी उत्क्रान्ति हुई, वह समिति संगठन आमन्त्रण-संगठन में उतरा ॥ १२ ॥ जो व्यक्ति इस प्रकार जानता है उसके आमन्त्रण में देव लोग आते हैं, और वह व्यक्ति इस आमन्त्रण का सदस्य बनता है ॥ १३ ॥

(विराट् से गार्हपत्य-संगठन)

असंगठन की अवस्था में उन्नति हो कर उच्च से उच्च संगठन कैसे बनते गये,—इस का संक्षिप्त वर्णन ऊपर दिया गया है। वेद की दृष्टि में पहिले विराट् अवस्था थी। विराट् का अर्थ यहां पर "राजा का न होना",—ऐसा प्रतीत होता है। वि=विरुद्ध; राट्=राजा; अर्थात् राजा होने की विरोधी अवस्था, राजा का न होना, किसी प्रकार की भी राज्य-व्यवस्था का न होना। यही विराट्-अवस्था है। इस दृश्यमान समष्टि-जगत में जो परमात्मा का शासन है उसे भी विराट्-शासन कहते हैं, अर्थात् परमात्मा के ही केवल शासन का होना, मनुष्यकृत शासन-व्यवस्था का न होना। दोनों प्रकार से भाव यही सूचित होता है कि पहिले मनुष्यकृत शासनव्यवस्था का अभाव था। जब यह अवस्था हुई तो इसके होते ही सब भयभीत होने लगे। परमात्मा का विराट्-शासन तो उन्नतावस्था के मानुषहृदयों तथा मानुषमस्तिष्कों पर राज्य कर सकता है। परन्तु अविकसित अवस्था के मनुष्यों के हृदयों और मस्तिष्कों पर परमात्मा का विराट्-शासन नियन्त्रण नहीं कर सकता। ऐसी अवस्था में मनुष्कृतशासन और व्यवस्था ही काम में आती है। मनुष्य-जाति की अविकसित अवस्था में मनुष्यकृत शासन व्यवस्था अभी विकसित न हुई थी। मनुष्यकृत शासन व्यवस्था के विकसित न होने से सब डरते थे कि उनकी जान-माल की रक्षा कैसे होगी। इस भय की अवस्था में वे कहने लगे कि क्या यही अवस्था भविष्य में भी रहेगी ॥ १ ॥

इस भय से मनुष्यों में सूझ पैदा हुई। अभी तक पति-पत्नी का भी व्यवस्थित सम्बन्ध विकसित न हुआ था। इस भय का पहिला परिणाम यह हुआ कि पहले गार्हपत्य-संगठन बना। पति और पत्नी इकट्ठे रहने लगे, पत्नी ने समझा कि अमुक मेरा पति है, और पति ने समझा कि अमुक मेरी पत्नी है इस प्रकार की पारस्परिक भावना में सम्बद्ध होकर पति और पत्नी के सम्बन्ध की व्यवस्था बनी। अब पति और पत्नी दोनों मिलकर एक दूसरे के जान-माल की रक्षा करने लगे। शत्रु के आने पर उस के साथ ये दोनों मिल कर लड़ने लगे। इस संगठन में परस्पर के मेल से इन दोनों की शक्ति बढ़ गई। इसे ही गार्हपत्य-संगठन कहा है। इस संगठन में गृह बना, और उस गृह के ये दोनों पति अर्थात् रक्षक बने। उस गृह तथा गृह की वस्तुओं की रक्षा में इन दोनों का परस्पर सहयोग होने लगा। दोनों ही गृह के पति या रक्षक कहलाए। दोनों के पति अर्थात् रक्षक होने से दोनों का ही गृह पर और गृह की वस्तुओं पर समान अधिकार था। दोनों की सन्तानें हुई। सन्तानों के होने पर इन दोनों की शक्ति और भी बढ़ गई। पति, पत्नी और सन्तानें मिल कर गृह प्रबन्ध, गृह रक्षा तथा गृह का शासन करने लगे। यह गार्हपत्य-संगठन हुआ।

(गार्हपत्य-संगठन से आहवनीय-संगठन)

गार्हपत्य-संगठन के बाद आहवनीय-संगठन का विकास हुआ। आहवनीय-संगठन को ग्राम-संगठन कहा जा सकता है। "आहवनीय" शब्द में "आ" और "हू" दो विभागों पर विचार करता है। आ+हू का अर्थ है आह्वान करना, बुलाना, आस पास के सभी गृहपतियों को बुलाना और उन्हें बुला कर एक संगठन के सूत्र में पिरोना। इस प्रकार आहवनीय-संगठन गार्हपत्य-संगठन से व्यापी संगठन है, ग्रामव्यापी संगठन है। इस ग्रामव्यापी संगठन को आहवनीय-संगठन कहा है। इस आहवनीय संगठन के नेता को वेद में "ग्रामणी" (क) कहा है, अर्थात् ग्राम का नायक नेता। जिस सद्-गृहपति को विचार उठा कि ग्राम के सब गृहपतियों को एकत्र कर ग्राम की रक्षा के लिये एक संगठन बनाना चाहिये उसने शेष गृहपतियों का आह्वान किया और आहवनीय संगठन बनाया। यह सद्-गृहपति इस आहवनीय-संगठन का सदस्य या सभापति बना। ग्राम के देव अर्थात् समझदार लोग इसके आह्वान करने पर आए और उन्होंने आहवनीय-संगठन का निर्माण किया। यह सद्-गृहपति उन सब देवों का प्रिय बन गया, क्योंकि इसने ऐसा एक संगठन सुझाया जिससे ग्राम की रक्षा हुई, और ग्राम के गृहपति आपस में मिलकर परस्पर की रक्षा करने लगे।

(आहवनीय संगठन से दक्षिणाग्नि-संगठन)

ग्राम-संगठन स्थापित हो गया और ग्राम का नेता ग्रामणी कहलाया। शनैः २ इन्होंने अपनी एक सेना भी बना ली। सेना के नायक को सेनानी (ख) कहा गया। वेद में ग्रामणी और सेनानी शब्द मन्त्र में इकट्ठे पठित हैं। अतः प्रतीत होता है सेनानी ग्राम की सेना का नायक है, जैसे कि ग्रामणी ग्राम के संगठन का नायक है। इस प्रकार प्रत्येक ग्राम के भीतर तो शान्ति हो गई, परन्तु आहवनीय-संगठनों के रहते भी ग्राम २ में परस्पर लड़ाइयां, मार-लूट और आक्रमण जारी रहे। संस्कृत का संग्राम शब्द अर्थ पूर्ण है। संग्राम का अर्थ है ग्रामों का मेल। सम्+ग्राम। आरम्भ में ग्राम का ग्राम के साथ मेल युद्ध की भावना से ही होता रहा होगा इस परिस्थिति से लोग तंग आ गये और दक्षिणाग्नि-संगठन की नींव डाली। दक्षिण का अर्थ होता है "चतुर" और अग्नि का अर्थ होता है "अग्रणी"। निरुक्त (ग) में लिखा है कि "अग्निः अग्रणीः भवति", अर्थात् अग्नि का अर्थ "अग्रणी" भी होता है। दक्षिणाग्नि-संगठन के बनाने वाले ग्राम २ के चतुर नेता थे। इस संगठन में ग्राम २ की प्रजा शामिल न थी, न प्रत्येक ग्राम के प्रत्येक गृहपति। क्योंकि इससे यह संगठन अक्रियात्मक बन जाता। इसलिये ग्राम २ के दक्षिण अर्थात् चतुर २ नेता इकट्ठे हुए और इन्होंने मिल कर एक संगठन बना लिया। इस संगठन को वेद ने दक्षिणाग्नि-संगठन कहा है। इसे हम ज़िला-संगठन कह सकते हैं। जिस व्यक्ति ने दक्षिणाग्नि-संगठन पहले पहल सुझाया उसकी कीर्त्ति गाई जाने लगी। उसने इस दक्षिणाग्नि-संगठन को यज्ञ का रूप दिया। उसने समझाया कि दक्षिणाग्नि-संगठन एक यज्ञ है। इस यज्ञ में इस यज्ञ के देवों का सत्कार करना होगा, उनका कहना या शासन मानना होगा, उनके साथ संगतिकरण करके उन्हें इस यज्ञ के रचाने में सहायता देनी होगी, और इस यज्ञ में दान देना होगा। दिये कर या टैक्स को दान की भावना से देना होगा। तभी यह दक्षिणाग्नि-

(क) देखो यजुर्वेद १५।१५॥ (ख) देखो यजुर्वेद १५।१५॥ (ग) दैवत काण्ड अ. ७, पा. ४।

संगठन ठीक प्रकार चल सकेगा। इस दक्षिणाग्नि-संगठन के यज्ञ में इसे सुझाने वाला व्यक्ति भी शामिल हुआ, सदस्य के रूप में या सभापति के रूप में शामिल हुआ, उसे सभी वसतीयों का हितकारी समझा गया, वह वासतेय बना।

(दक्षिणाग्नि से सभा-संगठन)

दक्षिणाग्नि-संगठन से ग्रामों में परस्पर व्यवस्था हो गई, इसके रहन सहन में शान्ति हो गई, और इनमें परस्पर-विचार से उन्नति होने लगी। दक्षिणाग्नि-संगठन को हम वर्त्तमान दृष्टि में तहसील-संगठन या ज़िला संगठन कह सकते हैं। इस संगठन में और उन्नति हुई और इस का परिणाम हुआ सभा-संगठन। सभा-संगठन एक राज्य का संगठन है। क्योंकि अथर्ववेद (क) ७, १, १, २ में "राजा सम्बोधित करता है सभा को और सभासदों को, कि तुम मुझे शिक्षित करो, सलाह दो, और मेरे साथ एक वाणी (ख) वाले होकर राज्य के प्रबन्ध में मेरे सहायक बनो।" इससे ज्ञात होता है कि सभा-संगठन के नीचे उतना प्रदेश सम्मिलित होता है जितने पर कि एक राजा राज्य करता हो। राष्ट्र संगठन की इस उत्क्रान्ति में सभा वर्णन यह स्पष्ट सूचित कर रहा है कि सभा-संगठन एक-ऊँचा राष्ट्र-संगठन है, सभा जूआ-घर नहीं है। अथर्ववेद में सभा को "नरिष्टा" कहा है। नरिष्टा का अर्थ है नृ+इष्टा या नर+इष्टा। अर्थात् नरों द्वारा इष्ट जिसे कि नर या प्रजा चाहती है, जो प्रजा की इच्छा से निर्मित हुई है। जिसमें कि प्रजा द्वारा चुने गये प्रतिनिधि शामिल हैं। इस सभा-संगठन को सुझाने वाला व्यक्ति इस सभा का स्वयं भी सभासद् बनता है और सभा के निर्माण का जब वह प्रस्ताव करता है तो लोग उसकी सभा में दिलचस्पी लेने लगते हैं, और इस प्रकार सभा-संगठन का निर्माण हो जाता है।

सभा संगठन से समिति-संगठन

सभा-संगठन एक-राष्ट्र का संगठन है। एक जाति के एक राष्ट्र का संगठन सभा-संगठन है। यह स्वाभाविक और अधिक युक्तियुक्त है कि एक भावना वाले, एक विचार वाले, एक रीति रिवाज वाले, एक इतिहास वाले, एक सभ्यता वाले और एक प्रकार की सामाजिक प्रथाओं वाले लोगों का एक संगठन हो। ये अपनी जाति की भावनाओं के अनुसार अपने राष्ट्रिय नियम और कानून बनाएँ, और वंश परम्परा से प्राप्त संस्कारों के आधार पर अपने उन्नति के मार्ग पर अग्रसर हों। इस प्रकार जब जाति २ के अनुसार राष्ट्र स्थापित हो जाँय और इनमें अपने २ सभा-संगठन काम करने लगे तो इनमें अधिकाधिक उन्नति की सम्भावना होती है। परन्तु इस सभा-संगठन में यह गारण्टी नहीं होती कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के साथ न लड़ेगा और इनमें आर्थिक नीति के कारण परस्पर संघर्ष न पैदा होगा। इसके लिये राष्ट्र-संगठन से ऊँचा उठ कर हमें संयुक्त-राष्ट्र का संगठन बनाना होगा। संयुक्त-राष्ट्र-संगठन में अलग २ राष्ट्रों की सत्ता मिट नहीं जाती। अलग २ राष्ट्रों

(क) सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने।
येना संगच्छा उप मा स शिक्षाचारु वदानि पितरः संगतेषु॥ (७, १, १)॥

(ख) ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः॥ (७, १, २)॥

(ग) विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि॥ (७, १, २)॥

की सत्ता के रहते हमें संयुक्त-राष्ट्र-संगठन बनाना होगा। जैसे कि अमरीका का इस समय एक संयुक्त राष्ट्र-संगठन है। इसके अध्यक्ष को या राजा को सम्राट् कहते हैं। सम्राट् का अर्थ है संयुक्त राजाओं का राजा, या संयुक्त राष्ट्रों का राजा। इस संगठन की शासक व्यवस्था को समिति कहते हैं। यह पहिले कहा जा चुका है कि समिति में राजा लोग इकट्ठे होते हैं, भिन्न २ राष्ट्रों के भिन्न २ राजा या उनके प्रतिनिधि समिति में एकत्र होकर साम्राज्य शासन के सहायक होते हैं, सम्राट् के परामर्शदाता होते हैं। समिति-संगठन को हम कनफ़ेडेरेशन या फ़ेडेरेशन कह सकते हैं।

समिति संगठन से आमन्त्रण संगठन

समिति संगठन एक संयुक्त-राष्ट्र संगठन है। एक जैसी भावनाओं वाले या एक स्वार्थ वाले राष्ट्र परस्पर मिल कर एक संयुक्त-राष्ट्र बना सकते हैं और इनकी शासक सभा को हम समिति कह सकते हैं। परन्तु ऐसे कई संयुक्त-राष्ट्र हो सकते है। इन नाना संयुक्त-राष्ट्रों का भी परस्पर संगठन चाहिये। तभी विश्वशान्ति सम्भव है। नहीं तो एक संयुक्त-राष्ट्र दूसरे संयुक्त राष्ट्र के साथ लड़ेगा। इस प्रकार जब संसार के प्रत्येक राष्ट्र अपने २ संयुक्त-राष्ट्रों में शामिल हो जाय, और तत्पश्चात् ये नाना संयुक्त-राष्ट्र जब एक विश्वव्यापी महा-संयुक्त-राष्ट्र में संयुक्त हो जाय उस समय इस महा-संयुक्त-राष्ट्र की शासक सभा को वेद की परिभाषा में "आमन्त्रण" कहेंगे। "आ" अर्थात् सब ओर के राष्ट्र मिलकर जिस शासक सभा में आकर "मन्त्रण" अर्थात् मन्त्रणा करते हैं, विचार करते हैं तो उस शासकसभा को वेद के शब्दों में हम आमन्त्रण कहेंगे। इसलिए आमन्त्रण-संगठन विश्वव्यापी संगठन है, पृथिवीव्यापी संगठन है। वेद प्रतिपादित राष्ट्रों का परस्पर संगठन कितने महत्त्व का और कितनी ऊँची भावनाओं वाला है—यह बात इस संक्षिप्त लेख द्वारा अवश्य प्रकट हो जाती है। यहां यह दर्शा देना भी आवश्यक है कि इस महा-संयुक्त-राष्ट्र के अधिपति को वेद में एकराट् तथा जनराट् कहा है।

एक वैदिक समस्या का स्पष्टीकरण
ऋषि को ऋषि ने समझा

(लेखक:—श्री आचार्य विश्वश्रवा: जी वेदमन्दिर ६६ बाज़ार मोतीलाल बरेली यू० पी०)

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।

एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्वेद १।१६४।४६॥

यह मन्त्र निरुक्त दैवत काण्ड ७।१८॥ में उद्धृत है। इसकी व्याख्या भी यास्क ऋषि ने स्वयं की है। वेद भाष्यकार सायणाचार्य आदि अपने भाष्यों में निरुक्त का वह स्थल उद्धृत भी करते हैं कि—

'अयं मन्त्रो निरुक्त एवं व्याख्यातः। इत्यादि—

पर ये सब भाष्यकार न इस ऋचा का अर्थ समझ पाये और नाहीं वे भाष्यकर यह समझ सके कि यास्क ने इस ऋचा का क्या अर्थ किया है।

(क) कोई भाष्यकार समझता है कि—

आदित्य ही महान् आत्मा है और उसी के बहुत से नामों का वर्णन इस मन्त्र में किया है।

(ख) कोई भाष्यकार समझता है कि—

भौतिक अग्नि का वर्णन इस मन्त्र में है कि इस अग्नि के अनेक नाम होते हैं।

(ग) बहुत से भाष्यकर जिन्होंने अस्यवामीय सूक्त पर भाष्य रचे वे इस मन्त्र को केवल अध्यात्मपरक ही समझे बैठ रहे। सब के उद्धारण देने में निबन्ध बड़ा हो जायगा, पाठक उन ग्रन्थों को स्वयं देखें, दुर्ग सायण उपलक्षण रूप में दिखाये हैं।

दुर्गाचार्य स्वयं निरुक्त के इस स्थल का अर्थ नहीं समझता। वह कहता है कि—इन्द्र मित्र और वरुण नामों से अग्नि को कहते हैं और जो यह द्युलोक में सूर्य है वह भी अग्नि ही है। इसी अग्नि महान् एक आत्मा को अनेक प्रकार से आत्मविद् कहते हैं; अग्नि, यम और मातरिश्वा। दुर्गाचार्य के शब्द निम्न प्रकार हैं—

इन्द्रं मित्रमिति—अस्यवामीयेषा। इन्द्रं मित्रं वरुणम्—इत्येतैरभिधानैरग्निमाहुस्तत्वविदः। अथो अपि च योऽयं दिव्यो दिविजो दिवि जायते सुपर्णः सुपतनो गरुत्मान् गरणवान् स्तुतिभिस्तद्वान् रसानां वा गरिता आदित्यः अयमपि स एवाग्निरित्याहुः। किं बहुना—इममेवाग्निम् एकं महान्तमात्मानमनन्त्यत्वेन पश्यन्तः विप्रा मेधाविन आत्मविदो बहुधा वदन्ति—अग्निं यमं मातरिश्वानमिति'।

दुर्गाचार्य के भाष्य में 'तत्वविदः' 'आत्मविदः' 'एकं' 'महान्तं' 'आत्मानम्' शब्दों को देख कर पाठक यह न समझें कि दुर्ग परमात्मा के वर्णन को इस मन्त्र में समझ रहा है। दुर्ग तो सब विशेषण भौतिक अग्नि में ही देख रहा है। हां निरुक्त में जो 'महान्तं' आत्मानं' आदि शब्द आये हैं वे उसे लिखने पड़ रहे हैं। और वह येन केन प्रकारेण भौतिक अग्नि में ही घटाने यत्न कर रहा है।

यह भी नहीं कहा जा सकता कि दुर्गाचार्य के पास निरुक्त के इस स्थल का शुद्ध पाठ भी विद्यमान था या नहीं। निरुक्त के इस स्थल के कई प्रकार के पाठ इस समय निरुक्त के हस्तलेखों में मिल रहे हैं। न जाने कौन सा पाठ दुर्ग के पास था। पाठ भेद निम्न प्रकार हैं—

१—इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानम्।

२—इममेवाग्निं महान्तं चात्मानम्।

३—इममेवाग्निं महान्तमेवात्मानम्।

पाठ भेदों के सम्बन्ध में अति अधिक देखना हो तो श्री डाक्टर लक्ष्मणस्वरूप जी सम्पादित निरुक्त में देखें, विस्तारभय से हम उनकी समीक्षा छोड़ते हैं। साधारणतया सायणाचार्यादि के भाष्यों में उपरिलिखित पाठ भेद देखे जाते हैं।

सायणाचार्य 'इन्द्रं मित्रं' ऋचा में आदित्य का ही वर्णन समझता है। वह कहता है कि—

अमुमादित्यमैश्वर्यविशिष्टमिन्द्रमाहुः। तथा मित्रम्—प्रमीतेः, मरणात् त्रातारम्—अहरभिमानिनमेतन्नामकं देवमाहुः, वरुणं पापस्य निवारकं-रात्र्यभिमानिनं देवमाहुः। अथो अपि चायमेव दिव्यो दिवि भवः, सुपर्णः सुपतनः, गरुत्मान् गरणवान् पक्षवान्

वैतन्नामको पद्त्यस्ति सोऽप्ययमेव । कथमेकस्य नानात्वमित्युच्यते—

अमुमेवादित्यमेकमेव वस्तुतः सन्तं विप्रा मेधाविनो देवता तत्वविदो बहुधा वदन्ति । तत्तत्कारणेनेन्द्राद्यात्मानं वदन्ति । एकैव वा महानात्मा देवता स सूर्य इत्याचक्षते इत्युक्तत्वात् । किं च तमेव वृष्ट्यादिकारणं वैद्युतमग्निं, यमं नियन्तारम्, मातरिश्वानम्-अन्तरिक्षे श्वसन्तं वायुमाहुः । सूर्यस्य ब्रह्मणोऽनन्यत्वेन सार्वात्म्यमुक्तं भवति । अत्र ये केचिदग्निः सर्वा देवता इत्यादि श्रुतितः अयमेवाग्निरुत्तरे अपि ज्योतिषी इति मत्वाग्नेरेव सार्वात्म्यप्रतिपादको ऽयं मन्त्र इति वदन्ति तत्पक्षे प्रथमोऽग्निशब्द उद्देश्यः तमग्निमुद्दिश्येन्द्राद्यात्मकत्वं कथयन्ति ।

अयं मन्त्रो निरुक्ते एवं व्याख्यातः—इममेवाग्निं महान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति—इन्द्रं मित्रं वरुणम् अग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम् । दिव्यो दिविजः, गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा ।

सायण के इस लेख का आशय यह है कि इस सूक्त में आदित्य का प्रकरण है अतः आदित्य उद्देश्य है और इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् अग्नि, यम, मातरिश्वा, ये सब विधेय हैं। अग्नि शब्द दो बार आया है उसका समाधान वह इस प्रकार कर लेता है कि प्रथम अग्नि शब्द पार्थिवाग्नि वाचक है और दूसरा अग्नि शब्द वैद्युताग्नि वाचक है और सूर्य ही महान आत्मा है। सूर्य तथा ब्रह्म एक ही वस्तु हैं। अतः सूर्य को यहां सार्वात्म्य से कहा है।

दूसरों का मत सायण इस प्रकार बताता है कि अग्नि का ही वर्णन इस मन्त्र में है अतः प्रथम अग्नि शब्द उद्देश्य है और दूसरा अग्नि शब्द विधेय है तथा 'इन्द्र' से लेकर 'मातरिश्वा' तक सब विधेय ही हैं। निरुक्त का उद्धरण भी सायण ने अपने भाष्य में दिया है पर सायण यह न समझ पाया कि यास्क ने इस मन्त्र का क्या अर्थ किया है। सायण तो यास्क को भौतिकाग्निव्याख्यापरक ही समझ पाया है।

इसी आशय से पं० महेशप्रसाद जी न्यायरत्न ने स्वामी दयानन्द सरस्वती जी के वेद भाष्य का खण्डन करने का साहस करते हुए लिखा है कि—

(अग्निमीडे) इस मन्त्र की सिद्धि में और अधिक प्रमाण स्वामी जी ने नहीं दिये परन्तु कई मन्त्रों के प्रमाण धर कर वे कहते हैं कि अग्नि से ईश्वर का ग्रहण है सो उन मन्त्रों की साधारण विचार परीक्षा से मालूम होता है, कि उनसे स्वामी जी के अर्थ नहीं निकल सकते। पहला मन्त्र (इन्द्रं मित्रं) वे उसको इन्द्र, मित्र, वरुण और अग्नि आदि नामों से पुकारते हैं। यह मालूम नहीं होता कि इस मन्त्र में किस को संमुख करके बोलते हैं। निरुक्तकार कहता है कि वह भौतिक अग्नि के लिये आया है। कोई सूर्य को बताते हैं। खैर कुछ भी हो परन्तु अग्नि से ईश्वर कभी नहीं लिया जा सकता। (भ्रान्तिनिवारण शताब्दी संस्करण पृष्ठ ८६८)

अर्थात् पं० महेशप्रसाद यह समझते हैं कि यास्क ने 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र का अर्थ भौतिक-

अग्निपरक ही किया है और कोई सूर्य को बताते हैं यह महेश प्रसाद का संकेत सायणाचार्य की ओर है।

(निरुक्त का पूर्वापर प्रकरण)

एक महामहोपाध्याय निरुक्त और ऋग्वेद पढ़ाते हुए एक दिन कहने लगे कि 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र निरुक्त में भौतिक अग्नि के प्रकरण में उद्धृत है क्योंकि वहां आरम्भ में प्रकरण है कि—

अग्निः पृथिवीस्थानस्तं प्रथमं व्याख्यास्यामः। (निरुक्त ७।१४ ॥)

अर्थात्, अग्नि जो पृथिवी स्थानीय भौतिक अग्नि है उसकी प्रथम व्याख्या करेंगे। इसी प्रकरण में (इन्द्रं मित्रं) मन्त्र उद्धृत है। समस्त प्रकरण के अन्त में भी यास्क ने यही लिखा है कि—

यस्तु सूक्तं भजते यस्मै हविर्निरूप्यतेऽयमेव सोऽग्निः। निपातमेवोत्तरे ज्योतिषी एतेन नामधेयेन भजेते। (निरुक्त ७।१८॥)

अर्थात् सूक्तभाक् और हविर्भाक भौतिक ही अग्नि है गौणरूप से विद्युत् और सूर्य का वर्णन अग्नि शब्द से होता है। महामहोपाध्याय जी ने यह भी कहा कि यहां कहीं भी पूर्वापर में परमात्मा का वर्णन नहीं है पर न जाने कहाँ से परमात्मा का वर्णन इस मन्त्र में स्वा० दयानन्द जी ने देख लिया।

निरुक्त के प्रायः सब टीकाकार निरुक्त के पूर्वापर प्रकरण को भौतिकाग्नि विषयक देखकर (इन्द्रं मित्रं) ऋचा की यास्ककृत व्याख्या में परमात्मविषयक शब्दों को देखते हुए भी नहीं देख पाते।

(हमारा आश्चर्य)

यास्क ने भौतिक अग्नि के प्रकरण में इस ऋचा को उद्धृत किया है और महर्षि दयानन्द ने परमात्मा परक इस ऋचा को लगाया। यदि यह बात इतनी ही होती तो कोई आश्चर्य नहीं था। एक ऋषि ने एक अर्थ किया और दूसरे ऋषि ने दूसरा। ऐसा भाष्यकारों में होता ही है। परन्तु स्वा० दयानन्द सरस्वती जी ने तो यह लिखा है कि (इन्द्रं मित्रं) ऋचा का परमात्मपरक अर्थ यास्क ने इसी प्रकरण में किया है। हमारे लिये ढूंढ़ने की यही बात हो गई। दुर्ग और स्कन्द के अतिरिक्त वर्तमान काल में निम्न लिखित महानुभावों ने समस्त निरुक्त पर संस्कृत या आर्य भाषा में टीका लिखने का यत्न किया है—

१—महामहोपाध्याय पं० मुकन्द झा बख्शी बनारस।

२—महामहोपाध्याय पं० सीताराम शास्त्री भिवानी (पंजाब)।

३—पं० राजाराम जी प्रोफेसर डी० ए० वी० कालेज लाहौर।

४—पं० चन्द्रमणि जी विद्यालंकार गुरुकुल कांगड़ी (हरिद्वार)।

उपर्युक्त सर्व महानुभावों की पूरी पोथी का पारायण हमने किया। तथा च जिन विद्वानों ने निरुक्त के अंशों पर लिखा है वह भी पढ़ा। सब टीकाकार आंख मूंद कर दुर्ग का अनुसरण करने में ही अपने को कृतकृत्य समझते हैं, परन्तु विद्वद्वर पं० चन्द्रमणि ने निरुक्त का भाष्य अपनी बुद्धि से

किया है। पर इस स्थान पर आकर वे भी चूक गये। यद्यपि उन्हें यह स्मरण था कि ऋषि दयानन्द ने इस मन्त्र का अर्थ परमात्मा परक किया है जैसा कि उन्होंने वेदार्थदीपकभाष्य में लिखा है पर इस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया कि यास्क की पंक्तियों में ऋषिवर दयानन्द ब्रह्मविषयक व्याख्या देख रहे हैं। पं० चन्द्रमणि जी ने लिखा कि यास्क ने ईश्वरपरक अर्थ नहीं किया पर स्वामी दयानन्द जी ने स्वतन्त्र रूप से ईश्वरपरक अर्थ किया है। वास्तव में पं० चन्द्रमणि जी ने ऋषि दयानन्द जी को समझने का यत्न नहीं किया। मेरी तो यह दृढ़ धारणा है कि कोई आर्य विद्वान् जब कभी किसी भी आर्ष ग्रन्थ पर टीका लिखने बैठे तब उसका यह कर्तव्य होना चाहिए वह यह पहले देख ले कि इस आर्ष ग्रन्थ के किस किस स्थल का मेरे ऋषि ने क्या अर्थ किया है अन्यथा वह पीछे से पछतायेगा।

इसी भय से हमने सब कार्य छोड़कर महर्षि दयानन्द कृत वेद भाष्य, तथा सत्यार्थप्रकाशादि समस्त छोटे बड़े ग्रन्थ, स्वामी जी के जीवन चरित्र, पत्र व्यवहार, विज्ञापन स्वामी जी के पूना के १५ व्याख्यान, शास्त्रार्थ आदि जहां नहीं स्वामी जी ने जो प्रमाण दिये सब के संग्रह पर एक महान् ग्रन्थ तैयार करना प्रारम्भ किया जो लगभग तैयार हो गया है। यह ग्रन्थ ऋषि के भक्त सब विद्वानों को किसी भी आर्ष ग्रन्थ की टीका लिखने में आंख का काम देगा। और इस बात पर बिना विचार किये जिसने टीकाएं लिखी होंगी उनके लिये यह ग्रन्थ पश्चात्तापरूप शल्य होगा।

हमने अपने संग्रह में देखा कि स्वामी दयानन्द जी ने इस प्रस्तुत मन्त्र और निरुक्त के सम्बन्ध में निम्न लिखित ग्रन्थों में अपने विचार लिखे हैं—

१—सत्यार्थ प्रकाश। २—ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका।

३—ऋग्वेद भाष्य का पदार्थ और भावार्थ। ४—आर्याभिविनय की भूमिका।

५—भ्रान्ति निवारण।

इत्यादि कई स्थानों पर इस सम्बन्ध में अपने विचार लिखते हुए स्वामी जी ने कोई बात कहीं लिखी है और कोई बात कहीं सब को एकत्र करके एक आश्चर्यजनक परिणाम निकलता है। ग्रन्थनिर्देश-पूर्वक हम उसका चार्ट देते हैं कि कौन सी बात किस ग्रन्थ में लिखी है जिससे यह स्पष्ट हो जायगा कि ऋषि के एक विषय पर लिखे हुए सब जगह के विचारों को एकत्र करके समझने में कितनी सहायता मिलती है। यह स्पष्ट सत्य है कि ऋषि दयानन्द ही ने इस ऋचा को और इस ऋचा की निरुक्तगत यास्क की व्याख्या को समझा।

देखो ऋषि के यत्र तत्र बिखरे हुए विचार—

१—'इन्द्रं मित्रं' ऋचा के समस्त शब्दों का अध्यात्मपरक अर्थ भी होता है (वाक्ययोजनया न तु सार्वात्म्येन) "देखो सत्यार्थप्रकाश"

२—इस मन्त्र में तीन वाक्यों में तीन अर्थ हैं। "देखो भ्रान्तिनिवारण"

३—इस मन्त्र का अर्थ अमुक प्रकरण में यास्क ने भी ईश्वरपरक किया है।

"देखो ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका"

४—यास्क की किस पंक्ति से यह समझा गया कि निरुक्त में इस ऋचा का ईश्वरपरक भी अर्थ विद्यमान है। "देखो आर्याभिविनय"

५—इस मन्त्र के किस शब्द की व्याख्या यास्क ने ईश्वर विषय की है। देखो ऋग्वेदभाष्य १।१।१।

६—वे तीन अर्थ कौन कौन हैं। "देखो ऋग्वेदभाष्य भावार्थ" ऋ० १।१६४।४६

(निरुक्त में ब्रह्मपरक वर्णन)

स्वा० दयानन्द का यह स्पष्ट कथन है कि यास्क ने निरुक्त में 'इन्द्रं मित्रं' ऋचा को लिख कर परमात्म परक अर्थ किया है स्वामी जी के शब्द निम्न प्रकार हैं—

तथैवात्र मंत्रे परमेश्वरेणाग्निशब्दो द्विरुच्चारितो विशेषणाभिप्रायात्। इदं सायणाचार्येण नैव बुद्धमतस्तस्य भ्रान्तिरेव जातेति वेद्यम्।

निरुक्तकारेणाप्यग्निशब्दो विशेष्यविशेषणत्वेनैव वर्णितः। तद्यथा—इममेवाग्निंमहान्तमात्मानमेकमात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति—इद्रं मित्र वरुण मित्यादि निरुक्त ७।१८॥

(ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ६६०)

अर्थात् 'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र में अग्नि शब्द का दो बार उच्चारण है। एक बार विशेष्य रूप में और दूसरी बार विशेषण रूप में। सायणाचार्य ने इस बात को नहीं समझा। अतः उसकी भ्रान्ति है। निरुक्तकार ने भी इस मन्त्र में दो बार उच्चारण हुए अग्नि शब्द को विशेष्य और विशेषण दोनों प्रकार का माना है।

('इद्रं मित्रं' मन्त्र में तीन विषयों का वर्णन)

इस प्रस्तुत मन्त्र में एक ही बात का वर्णन नहीं है प्रत्युत तीन विषयों का वर्णन इस अकेले ही मन्त्र में है। इस बात को स्वामी जी भ्रान्तिनिवारण में लिखते हैं कि—

"तथा उसमें तीन आख्यात पद होने से तीन अन्वय होते हैं"

(भ्रान्तिनिवारण शताब्दीसंस्करण पृष्ठ ८६१)

स्वामी दयानन्द जी इस बात की ओर ध्यान दिलाते हैं कि इस मन्त्र में तीन क्रिया हैं अर्थात्—

१—आहुः। २—वदन्ति। ३—आहुः।

अतः इस मन्त्र के तीन अन्वय करने चाहियें। आचार्य स्कन्द स्वामी ने अपने निरुक्तभाष्य में तीन अन्वय इस प्रकार किये हैं—

१—इन्द्र मित्र वरुणम्————अग्निमाहुः। अथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्॥

२—एक सद् विप्रा बहुधा वदन्ति॥

३—अग्निम्————यमं मातरिश्वानमाहुः॥

स्कन्द का अभिप्राय यह है कि—

१—इन्द्र मित्र और वरुण को अग्नि नाम से पुकारते हैं और जो यह सूर्य है उसे भी अग्नि नाम से पुकारते हैं।

२—एक महान् सत्ता परब्रह्म को भी मेधावी लोग बहुत नामों से पुकारते हैं।

३—भौतिक अग्नि को भी यम मातरिश्वा आदि अनेकों नामों से पुकारते हैं।

अर्थात् इस मन्त्र में तीन बातें बताई गई हैं—

क. प्रथम वाक्य नानार्थ के अभिप्राय में है अर्थात् अग्नि शब्द के कई अर्थ हैं—इन्द्र, मित्र, वरुण सूर्य आदि।

(ख) द्वितीय वाक्य में बताया है कि परमात्मा को अनेकों नामों से पुकारते हैं अर्थात् अग्नि आदि नाम परमात्मा के हैं।

(ग) तीसरे वाक्य से बताया है कि भौतिक अग्नि के भी कई नाम है यम मातरिश्वा आदि। यह नैघण्टुक संग्रह परक वाक्य है।

प्रथम वाक्य में अग्नि शब्द विशेषण परक तथा विधेयपरक है और इन्द्र आदि विशेष्यपरक तथा उद्देश्यपरक हैं। तृतीय वाक्य में अग्नि शब्द विशेष्यपरक तथा उद्देश्यपरक है। द्वितीय वाक्य में चतुर्थ पाद की आवृत्ति करके अग्नि शब्द को 'एकं' के साथ जोड़ा जाय तो अग्नि विशेष्य परक है और आवृत्ति तो की जाय 'एकं' के साथ अभेदान्वय न किया जाय तो अग्नि शब्द द्वितीय वाक्य में भी विशेषणपरक है अर्थात्—

I एकमग्निं परमात्मानं विप्रा बहुधा वदन्ति।

II एकं विप्रा बहुधा वदन्ति-अग्निं यमं मातरिश्वानम् इत्यादि॥

निरुक्त का शुद्ध पाठ

तथा

(निरुक्त के पाठ की वाक्य योजना)

मन्त्र के पूर्वार्द्ध भाग के दो पादों में प्रथम वाक्य है और मन्त्र के उत्तरार्द्ध के दोनों पादों में द्वितीय वाक्य और तृतीय वाक्य हैं। निरुक्त का पाठ सब जगह अशुद्ध मुद्रित है। डाक्टर लक्ष्मण स्वरूप जी एम. ए. डी. लिट् (आक्सफ़ोर्ड), आफ़िसर डी एकेडेमी फ्रांस, प्रिंसिपल ओरियन्टल कालेज लाहौर का संपादित निरुक्त का संस्करण उपलब्ध सब मुद्रित निरुक्तों में उत्तम है पर इस स्थान के पाठ में [च] को ब्रेकट में देकर उन्होंने मुद्रित किया है। श्री डाक्टर जी ने हस्त लेखों के जो पाठान्तर दिये है उनमें 'च' मूल और शुद्ध पाठ है जिसके आधार पर और प्रधानतया संगति के आधार पर इस स्थल का निरुक्त का शुद्ध पाठ निम्न प्रकार का होना चाहिए। आशा है निरुक्त के संपादक स्कालर इस पाठ को आगे से निरुक्त का मूल पाठ मानेंगे। वह पाठ इस प्रकार चाहिये—

(निरुक्त का शुद्ध पाठ)

इममेवाग्निं महान्तं चात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निं दिव्यं च गरुत्मन्तम्।

निरुक्त के इस पाठ में वाक्य कल्पना निम्न प्रकार से करनी चाहिये।

१. इममेवाग्निम्— २. महान्तं चात्मानं बहुधा मेधाविनो वदन्ति।

३. इन्द्रं मित्रं वरुणम्—अग्निम् दिव्यं च गरुत्मन्तम्—अग्निम्।

यास्क ने मन्त्र के उत्तरार्ध भाग के दो वाक्यों का भाष्य पहले किया है और पूर्वार्द्ध के दोनों पादों का अन्वय जो प्रथम वाक्य है उसकी व्याख्या अन्त में की है। ऐसा ही स्कन्द मानता है। वह लिखता है कि—

इममेवाग्निमित्यादि वदन्तीत्यन्तं भाष्यं परार्द्धर्चस्योदाहरणप्रकारेण विवरणम्.......इन्द्रं मित्रमित्यादि तु पूर्वार्द्धर्चविवरणमेव द्रष्टव्यम्। (स्कन्दभाष्य, ३ भाग, ८२ पृष्ठ)

अर्थात् निरुक्त में 'इमनेवाग्निम्' यहां से लेकर 'वदन्ति' तक मन्त्र के उत्तरार्द्ध का भाष्य है और 'इन्द्रं मित्रं' से लेकर मन्त्र के पूर्वार्द्ध का भाष्य है।

(निरुक्त की किस पङ्क्ति में अध्यात्म अर्थ है)

अब प्रश्न यह है कि ऋषि दयानन्द ने निरुक्त की किस पङ्क्ति से यह समझा कि यास्क ने इस मन्त्र की व्याख्या में परमात्म परक भी अर्थ किया है क्योंकि वहां तीन वाक्यों द्वारा तीन बातें बताई गई हैं। इस सम्बन्ध में स्वामी जी स्वयं आर्याभिविनय में लिखते हैं कि—

'महान्तमेवात्मानम्' इत्यादि निरुक्तादि प्रमाणों से परब्रह्म ही अर्थ लिया जाता है। (आर्याभिविनय शताब्दी संस्करण पृष्ठ ३)

अर्थात् 'महान्तमेवात्मानं' इन शब्दों से यह समझा गया कि यास्क की व्याख्या में ब्रह्म विषय में है। जो व्याख्याकार समस्त ऋचा को या निरुक्त के समस्त प्रकरण को ब्रह्मपरक ही लगाते हैं, जैसा प्राय: आर्यसमाज के विद्वान् किया करते हैं वे निरुक्त के अभिप्राय को नहीं समझते जैसा कि स्कन्द लिखता है कि—

एवं तु परार्द्धशेषतया सर्वस्मिन् भाष्ये योज्यमाने 'अग्निः सर्वाः देवताः' इति प्रकृतोदाहरणविषयत्वं भाष्ये न प्रदर्शितं स्यात्। (स्कन्द भाष्य, ३ भाग, ८२ पृष्ठ)

अर्थात् निरुक्त के समग्र पाठ को मन्त्र के उत्तरार्द्ध व्याख्यापरक मान लिया जावे तो जिस बात के लिये यह मन्त्र उद्धृत किया गया है वह प्रकरण ही असम्बद्ध हो जाता है क्योंकि—

अग्निशब्दस्य देवतान्तरेष्वपि प्रवृत्तिप्रदर्शनार्थमस्या ऋच इहोपादानम्। (स्कन्द-भाष्य, ३ भाग, ८१ पृष्ठ)

अर्थात् अग्नि शब्द की प्रवृत्ति दूसरे देवताओं में भी है इस बात की पुष्टि में 'इन्द्र मित्रं' ऋचा उद्धृत की है। अभिप्राय यह है कि एक ईश्वर के अनेक नाम होते हैं इस बात का निरुक्त के उस स्थल में यद्यपि कोई प्रकरण नहीं परन्तु जो मन्त्र यास्क ने अपने प्रकरण में उद्धृत किया है उसमें यह भी बताया गया है कि एक ब्रह्म के अनेक नाम होते हैं। यास्क ने समस्त मन्त्र की व्याख्या वहाँ की है अत: यह विषय भी यास्क ने दिखाया है। या यों कहो कि यास्क को दिखाना पड़ा है।

मन्त्र में ब्रह्मविषयक कौन सा वाक्य है

'इन्द्रं मित्रं' मन्त्र में तीन वाक्य हैं तब कौन से वाक्य की व्याख्या 'महान्तं चात्मानम्' निरुक्त में है। जिससे एक ब्रह्म के अनेक नाम निकाले। इस सम्बन्ध में ऋषि दयानन्द ऋग्वेद के प्रथम मन्त्र के भाष्य दिखाते हैं कि—

अनेनैकस्य सतः परब्रह्मण इन्द्रादीनि बहुधा नामानि सन्तीति वेद्यम्। (ऋग्वेद-भाष्य पृष्ठ १०)

अर्थात् उस ऋचा में जो 'एकं सत् विप्रा बहुधा वदन्ति' वाक्य है उसकी व्याख्या निरुक्त में 'महान्तं चात्मानं' इत्यादि है।

इस अवसर पर विचार करने से यह निष्कर्ष निकलता है कि इस ऋचा में तीन बातें बताई गई हैं।

१—भौतिक अग्नि के इन्द्र मित्र आदि अनेक नाम हैं।

२—इन्द्र मित्र वरुण सूर्य आदि के अर्थ में अग्नि शब्द आता है।

३—एक परमात्मा के अग्नि आदि अनेक नाम हैं।

ऋषि के शब्दों में तीनों अर्थों का निर्देश

ऋषि दयानन्द ने जब इसी ऋचा का भाष्य ऋग्वेद १।१६४।४६ में किया है वहां तीनों अर्थों को दृष्टि में रखते हुए भावार्थ में लिखा है कि—

यथाग्न्यादेरिन्द्रादीनि नामानि सन्ति तथैकस्य परमात्मनोऽग्न्यादीनि सहस्रशो नामानि वर्तन्ते। (ऋग्वेदभाष्य १।१६४।४६ का भावार्थ)।

अर्थात्—

१—अग्नि के इन्द्र आदि नाम हैं।

२—इन्द्र आदि के अग्नि आदि नाम हैं।

३—एक ब्रह्म के अग्नि आदि नाम हैं।

ऐसी स्थिति में 'इन्द्रं मित्रं' ऋचा का अन्वय निम्न प्रकार करना चाहिये।

१—इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं दिव्यं सुपर्णं गरुत्मन्तं यमं मातरिश्वानम्—अग्निमाहुः।

२—अग्निम्—इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निम् दिव्यं सुपर्णं गरुत्मन्तं यमं मातरिश्वानमाहुः।

३—एकं सत्—इन्द्रं मित्रं वरुणं अग्निं दिव्यं सुपर्णं गरुत्मन्तं यमं मातरिश्वानं विप्रा बहुधा वदन्ति।

इस तृतीय वाक्य का अर्थ सत्यार्थ प्रकाश प्रथम समुल्लास में है।

इस प्रकार ऋषि दयानन्द ने 'इन्द्रं मित्रं' ऋचा तथा उसकी व्याख्यापरक निरुक्त के 'इममेवाग्निं' की भिन्न भिन्न स्थानों पर व्याख्या की है। सब को देखने से उपर्युक्त परिणाम निकलता है। इसके अतिरिक्त कई विचारणीय विषय हैं। जैसे—

(क) परमात्मा के अनेक नामों के सम्बन्ध में निरुक्त परिशिष्ट तथा महाभारत की संमति।

(ख) निरुक्त के उस समस्त प्रकरण की संगति क्या है ?

(ग) 'उत्तरे ज्योतिषी' से यास्क का क्या क्या अभिप्राय ऋषि दयानन्द समझते हैं।

(घ) क्या सूक्तभाक् भौतिक अग्नि ही होती है। इत्यादि। इन विषयों पर हम पृथक् निबन्ध लिखेंगे। यहां केवल इतना ही बताना इष्ट था कि 'इन्द्र मित्रं' न अग्निपरक ही है न सूर्यपरक ही और न केवल ब्रह्मपरक ही। वास्तव में सच्ची बात यह है कि—

(क) आर्षसाहित्य के विद्यमान होने पर भी मध्यकालीन वेदभाष्यकार वेदार्थ न समझ सके।

(ख) वे भाष्यकार अपने वेदभाष्यों में आर्ष ग्रन्थों के उद्धरण भी देते हैं पर उन उद्धरणों के भी अर्थ नहीं जानते।

(ग) किसी भी ग्रन्थ पर किसी ने टीका लिख दी अब उसके आगे कोई भी विचार करने को प्रवृत्त नहीं होता। मनुस्मृति वह है जो कुल्लूक ने समझी और निरुक्त वह है जो दुर्गाचार्य ने समझा इत्यादि।

(घ) यदि ऋषि दयानन्द मनुस्मृति के किसी श्लोक का ऐसा अर्थ लिख दें जो अर्थ कुल्लूक ने न किया हो तो तथाकथित पण्डित कहने लगते हैं कि 'स्वामी जी ने जल्दी में यह अर्थ लिख दिया है; सब ग्रन्थ स्वामी जी ने ध्यान पूर्वक पढ़े नहीं थे।' यदि निरुक्त के किसी स्थल का अर्थ स्वामी जी ऐसा कर दें जो दुर्गाचार्य ने न किया हो तो अर्धदग्ध विद्वान् कहते हैं कि स्वामी जी ने विरजानन्द जी से केवल व्याकरण पढ़ा था अन्य ग्रन्थ गुरुमुख से नहीं पढ़े थे।

(ङ) महर्षि स्वामी दयानन्द जी से किसी ने कहा कि आप सब ग्रन्थों के अर्थ पलट देते हैं। स्वामी जी ने उत्तर दिया कि 'लोगों ने सब आर्षग्रन्थों के अर्थ पहले ही से पलटे हुए थे। पलटे हुए को मैंने पलट दिया अब सीधे हो गये।'

(च) स्वामी दयानन्द जी स्वयं ऋषि थे। आर्षग्रन्थों का वास्तविक क्या अर्थ है इसको समझने वाला व्यक्ति सदियों से कोई पैदा नहीं हुआ। स्कन्द की समीक्षा फिर करेंगे।

'ऋषियो को ऋषि ने समझा'। महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती विजयतेतमाम्।

वेद में विद्याएं

(श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, आचार्य, दयानन्दोपदेशक विद्यालय, गुरुदत्त भवन, लाहौर)

महर्षि कणाद ने समस्त संसार के पदार्थों के—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, एवं समवाय नामक छः वर्ग बनाकर उनके तत्वज्ञान से मोक्ष का होना बताया है। वह तत्त्वज्ञान एक विशेष प्रकार के धर्म्म से उत्पन्न होता है, और वह धर्म्म वेद में कथित है जैसा कि कणाद जी कहते हैं—

'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' (वै. द. १।१।३)

धर्म्म का कथन करने से आम्नाय=वेद की प्रमाणता है। तनिक गंभीरता से विचारिये तो कणाद जी का अभिप्राय ऐसा प्रतीत होता है कि वे वेद में सब प्रकार की विद्याओं की सत्ता स्वीकार करते हैं। अन्यथा वे ऐसा सूत्र न बनाते। भारत-इतिहास के मध्यकाल से पण्डित समाज ने वेदों से

यह आसन छीन लिया। वेद को वे केवल कर्म्मकाण्ड की ही पुस्तक मानने और मनवाने लगे। उनके इस असार विचार का प्रसार तथा प्रचार आज भी विद्यमान हैं।

किन्तु किसी भाष्य टीकादि का आश्रय न लेकर यदि वेद का स्वाध्याय किया जाए तो वेद का स्वरूप कुछ और प्रतीत होता है। प्रसंग से इतना कहने में कोई क्षति नहीं कि वेद कर्म्मकाण्ड की पुस्तक नहीं है। क्योंकि कर्मकाण्ड का क्रमपूर्व वर्णन वहां नहीं है। जिन मन्त्रों या मन्त्रसमुदायों, सूक्तों, अध्यायों, दशतियों तथा वर्गों में किसी कर्म [दर्श, पौर्णमास आदि] विशेष का विधान बताया जाता है उनमें भी क्रमपूर्वक प्रतिपादन का न होना कर्म्मकाण्डाग्रहियों को स्वीकार है।

प्रत्येक यज्ञ के आरम्भ में दीक्षा ली जाती है, शतपथ ब्राह्मण का आरंभ इन शब्दों से होता है।

व्रतमुपैष्यन्....व्रतमुपैति—'अग्ने व्रतपते व्रतं चरिष्यामि तच्छकेयं तन्मे राध्यताम्' इति

अर्थात् दीक्षा लेने वाला यजमान 'अग्ने व्रतपते—(य. १।५) मन्त्र का पाठ करता है। दीक्षा के विना यज्ञ का आरंभ हो नहीं सकता। किन्तु इस सर्वप्रथम आवश्यक कर्म्माङ्ग को सर्वप्रथम स्थान नहीं मिला। इससे पूर्व चार मन्त्रों [याज्ञिकों के कथनानुसार कण्डिकाओं] में किन्हीं अन्य कर्म्माङ्गों का निरूपण वा विधान है। अत: यह सुतरां सिद्ध है कि कर्म्मकाण्ड का क्रमबद्ध वर्णन न होने से वेद कर्म्मकाण्ड का पुस्तक नहीं हो सकते, कणाद जी के अतिरिक्त 'यन्त्रसर्वस्व' के निर्माता महर्षि भरद्वाज अपने ग्रन्थ का मूल वेद को बतलाते हैं। चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थ भी अपना मूल वेदको ही मानते हैं। गौतम से उग्रतार्किक, कणाद से बाल की खाल उतारने वाले, कपिल-से प्रकृति को नग्न कर देने वाले, पतञ्जलि से मन की गहराई पर जाकर उसके व्यापार विस्तार का सार निकाल संहार का भी उपाय बतलाने वाले, जैमिनि—से कर्म्म का मर्म बतलाने वाले एवं न्याय नियमों, तथा वाक्यार्थ विधियों के विश्लेषक और शरीर और ब्रह्माण्ड में हो रही क्रियाओं एवं प्रतिक्रियाओं का विश्लेषण कर जगत् के निमित्त एवं उपादान कारणों का यथार्थ स्वरूप बतलाने वाले व्यास जैसे मुनि सभी वेद को प्रमाण एवं अपने अपने प्रतिपाद्य सिद्धान्त का प्राण एवं अधिष्ठान मानते हैं। मनु तो वेद को अपना सर्वस्व मानते हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि वेद अनेक विद्याओं का मूल है। इस युग में स्वामी दयानन्द सरस्वती ने सबसे पहले असन्दिग्ध एवं स्पष्ट शब्दों में वेद को सर्वज्ञाननिधान उद्घोषित किया। यथा—

१. वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है। (आर्य्यसमाज का तीसरा नियम)

स्वयं वेद में वेदों को 'यस्मिन् वेदा निहिता: विश्वरूपा:' (अथर्व० ४।३५।६) [सब का निरूपण करने वाले वेद जिस में निहित हैं] कहा है। किन्तु यह आत्मश्लाघा भी समझी जा सकती है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने अपनी जगत्प्रसिद्ध पुस्तक [जिसे मैक्समूलर ने आश्चर्य्यजनक पुस्तक माना है] में वेदों में, विमानादि अनेक विद्याओं का वर्णन किया है। यह सभी जानते है कि विमान के दर्शन योरुपीय प्रथम महायुद्ध में हुए थे और ऋषि का शरीरान्त उस से लगभग ३१ वर्ष पूर्व हो चुका था। अत: उनका यह वर्णन पश्चिमी विज्ञान को देखकर किया गया नहीं कहा जा सकता। हम पाठकों से अनुरोध करेंगे कि वे ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका के उन स्थलों को पढ़ें। वहां उन्हें कई ऐसे तत्त्व भी मिलेंगे जो क्रान्तिकारिणी पाश्चात्य पदार्थविद्या के वश में अभी तक नहीं आए। यथा ऐसा यान=गाड़ी बनाना जो आकाश, जल तथा स्थल में समानरूप से चल सके। अभी तक ऐसे यान का निर्माण नहीं हो पाया है। इसी प्रकार वायुयान=विमान के संबन्ध में एक बात लिखी है जो अभी तक वैज्ञानिक

शिल्पियों से सिद्ध नहीं हो सकी। वेद में ऐसे विमान के निर्माण का विधान है जो एक दिन रात में सारी पृथिवी की परिक्रमा तीन बार करे। अर्थात् केवल आठ घंटे में समूची सजला मही के चारों ओर घूम जाए। इस प्रकार अन्य अनेक तत्त्व हैं जिन्हें पश्चिमी पदार्थविद्या अभी तक प्राप्त नहीं कर सकी है। अस्तु।

हम आप के सामने थोड़े से ऐसे मन्त्र प्रस्तुत करते हैं जिन में किसी न किसी विद्या या शिल्प का स्पष्ट विधान है।

१. टूटी टांग के बदले लोहे की टांग बनाना—

चरित्रं हि वेरिवाच्छेदि पर्णमाजा खेलस्य परितक्म्यायाम्।

सद्यो जंघामायसीं विश्पलायै धने हिते सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्॥ (ऋ० १।११६।१५)

युद्ध में अथवा किसी अत्यन्त पीडादायक रोग में पक्षी के पंख की भांति खिलाड़ी का चरित्र=चलने का साधन टूट जाता है तत्काल प्रजापालन के, चलने फिरने के लिए लोहे की टांग उस के बदले लगा देते हैं।

'आयसी जंघां सर्त्तवे प्रत्यधत्तम्' पद ध्यान देने योग्य हैं।

२. अंतरिक्ष में धातु के बने यानों का चलाना—

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने आज से लगभग ७१ वर्ष पूर्व जब लोहे आदि धातुओं से वायुयान निर्माण कर वायु या अन्तरिक्ष में चलाने की बात कही तब कई विज्ञान विशारदों ने उनका उपहास उड़ाया था। आज वे उपहास उड़ाने वाले स्वयं उपहासास्पद बन रहे हैं। वेद में अन्तरिक्ष में ऐसे यानों के चलने का स्पष्ट वर्णन है। देखिए—

यास्ते पूषन्नावो अन्तः समुद्रे हिरण्ययीरन्तरिक्षे चरन्ति।

ताभिर्यासि दूत्यां सूर्यस्य कामेन कृतश्रव इच्छमानः॥ (ऋ. ६।५८।३)

हे पूषन्! जो तेरी लोहादि की बनी नौकाएं समुद्र के भीतर अर्थात् समुद्र तल के नीचे और अन्तरिक्ष में चलती हैं, मानों तू उन के द्वारा इच्छापूर्वक अर्जित यश को चाहता हुआ सूर्य के दूतत्व को प्राप्त कर रहा है।

इस मन्त्र में 'नावः' का विशेषण 'हिरण्ययी'=हिरण्य का विकार, वा हिरण्य से बनी हुई' विचारने एवं ध्यान देने योग्य है। हिरण्य का अर्थ जहां सुवर्ण है,वहां वेद में लोह और धातु मात्रके लिए भी प्रयुक्त होता है। इस मन्त्र में नौकाओं के विचरने के लिए 'अन्तरिक्षे' पद के साथ केवल 'समुद्रे' न रख कर 'अन्तः समुद्रे' रखना विशेष अर्थ की सूचना दे रहा है। 'अन्तःसमुद्रे' का अर्थ केवल 'समुद्र में' नहीं है; इस अर्थ को तो केवल 'समुद्रे' कह सकता है। इस के साथ 'अन्तः' पद लगाने से 'समुद्र के भीतर' अर्थ बनता है। अर्थात् इस मन्त्र में वायुयानों=विमानों के साथ पनडुब्बियों (sub-marines) का भी वर्णन है।

३. बादलों से बिजली लेना—

इन्द्रसोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्।

उत्तक्षतं स्वर्यं पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः॥ 'ऋ० ७।१०४।४'

इन्द्र और सोम आकाश से वध [रोगकृशिनाशक साधन] का व्यवहार करते हैं, जो पृथिवी पर कष्ट प्रसारक के लिए मारक है। वे दोनों पर्वतों=बादलों से स्वर्य=विद्युत् का निर्माण करते हैं जिससे बढ़ते हुए राक्षस (महामारी आदि) का नाश करते हैं।

निघण्टु में 'पर्वत' शब्द मेघनामों में पठित है। स्वर्य का अर्थ बिजली सभी जानते मानते हैं। विद्युत् और विशेष कर आकाशीय विद्युत् का प्रयोग रोग निवारण के लिए विशेष महत्त्व रखता है।

(४) रथ में वायु का जोड़ना—

प्र वो वायुं रथयुजं कृणुध्वम् (५।४१।६)

वायु को तुम अपने रथ में जुड़ने वाला बनाओ। अर्थात् ऐसा प्रबन्ध करो कि जिससे वायु तुम्हारे रथ का संचालन करे।

जहां तक हमारा ज्ञान है, अभी तक ऐसा रथ नहीं बन पाया है।

(५) त्रितला Threestoreyd रथ —

तं त्रिपृष्ठे त्रिबन्धुरे रथे युञ्जन्ति यातवे। ऋषीणां सप्त धीतिभिः॥ ऋ० ९।६२।१७

सात ऋषि अपनी बुद्धियों द्वारा उस [पवमान] को चलने चलाने के लिए तीन बन्धुरों वाले एवं तीन पृष्ठों तलों वाले रथ में जोड़ते हैं।

दो तलों वाली बसें एवं नौकाएं हैं। तीन तलों वाली भी असम्भव नहीं हैं।

(६) समुद्र की तरङ्गों पर कार (Car) का चलाना—

परि प्रासिष्यदत्कविः सिन्धोरूर्मावधि श्रितः। कारं बिभ्रत्पुरुस्पृहम्। ऋ० ९।१४।१

समुद्र की लहरों पर रहने वाले क्रान्तदर्शी ज्ञानी शिल्पी अत्यन्त स्पृहणीय कार को समुद्र की लहरों पर धारण करता हुआ सब ओर चलाता है।

अत्यन्त स्पष्ट शब्द है। आजकल का कार शब्द वैदिक है।

(७) विद्युद्रथ [बिजली से चलने वाले रथ]

स होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः सवेधाः।

विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥ ऋ० ३।१४।१

वह मस्त करने वाला होता सभी ज्ञानों का अधिष्ठान है वह सच्चा याज्ञिक है, वह सर्वाधिक क्रान्तदर्शी वेधा=शिल्पी है जो अतिशय बल सम्पन्न होकर, प्रकाशमय अग्नि की भांति, पालक बन कर, विद्युद्रथवाला होकर पृथिवी में रहता है।

यहां विद्युद्रथ निर्माण करने की प्रशंसा की गई है। प्रतीत होता है कि इस प्रकार का शिल्प अतिशय चातुरी की अपेक्षा करता है।

(८) अनश्व रथ [ऐसा रथ जिसमें घोड़े आदि का उपयोग न होता हो।]

अश्विनोरसनं रथमनश्वं वाजिनीवतोः। तेनाहं भूरि चाकन॥ ऋ० १।१२०।१०

शक्तिशालियों को इधर उधर ले जाने वाला रथ अनश्व [घोड़े आदि से रहित] है। उससे मैं बहुत चमकता हूँ।

रथ का विशेषण अनश्व स्पष्ट है।

(९) त्रिचक्र रथ (Tri-cycle)

त्रिवन्धुरेण त्रिवृता रथेन त्रिचक्रेण सुवृता यातमर्वाक्।

पिन्वतं गा जिन्वतमर्वतो नो वर्धयतमश्वना वीरमस्मे ॥ ऋ० १।११८।२

तीन बन्धुरों वाले, तीन घेरों वाले, उत्तम रचना वाले, तीन चक्रों वाले रथ से सीधे जाओ। गौओं को प्रसन्न करो, हम घोड़ों को हर्षित करो, हमारे वीरों को बढ़ाओ।

रथ के साथ 'त्रिचक्र' विशेषण स्पष्ट तीन चक्रों वाले ट्राइसिकल अथवा किसी अन्य अभी तक अनाविष्कृत यान का संकेत कर रहा है।

(१०) सूर्य से दर्पण आदि पर किरणें लेकर आग जलाना—

अभूदु भा अंशवे हिरण्यं प्रति सूर्यः। व्यख्यज्जिह्वया सितः॥ ऋ० १।४६।१०

लोहे आदि के प्रति सूर्य्य किरण के लिए अग्नि हो जाता है और वह किरणरूपी जिह्वा से प्रकाश करता है।

लोहे आदि को खूब रगड़ कर, चमका कर उसको सूर्य्य के सामने करके, उसके पास उपले या काला कपड़ा रख देते हैं। सूर्य्य की किरणें उस दर्पण समान चमचमाते धातुखण्ड पर प्रतिफलित होकर पास रखे पदार्थ में आग लगा देती हैं। इस तत्त्व का वर्णन इस मन्त्र में कितनी स्पष्टता से किया है।

मुलतानी बोली में, जो समस्त भारतीय भाषाओं की अपेक्षा संस्कृत की निकटतम है, अग्नि को भा कहते हैं। उसी आधार पर हमने 'भाः' का अर्थ आग किया है।

(११) पृथिवी के गर्भ में अग्नि—

मातेव पुत्रं पृथिवी पुरीष्यमग्निꣳ स्वे योनावभारुखा।

तां विश्वैर्देवैर्ऋतुभिः संविदानः प्रजापतिर्विश्वकर्मा विमुञ्चतु॥ य० १२।६१

उखा=गतिशील पृथिवी, जिस प्रकार मां पुत्र को अपनी कोख में रखती है, उसी प्रकार, पुरीष्य अग्नि को अपनी कोख में रखती है। उसे सब देवों और ऋतुओं से संगत करने वाला सर्वकार्य्यसाधक प्रजापति भगवान् ही मुक्त कर सकता है।

कितनी सुन्दर उपमा है। उखा का अर्थ हंडिया भी होता है। हंडिया अर्थ मान कर भी अर्थ में कोई दोष नहीं आता। अग्नि को सुरक्षित रखनेके लिए आज भी उस उपाय का अवलम्बन किया जाता है।

(१२) सूर्य पृथिवी की उत्पत्ति—

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त। ऋ० १०।७२।४

उत्तानपत्=सूर्य्य से पृथिवी उत्पन्न हुई तथा पृथिवी से दिशाएं पैदा हुईं।

पृथिवीस्थ ही सूर्य्य को देखकर दिशाओं का निर्णय और व्यवहार करते हैं, अतः पृथिवी से दिशाओं की उत्पत्ति कही गई है। सूर्य्य से पृथिवी की उत्पत्ति अत्यन्त स्पष्ट है।

विदुः पृथिव्या दिवो जनित्रं शृण्वन्त्यापो अधः क्षरन्तीः॥ (ऋ० ७।३४।२)

पृथिवी की उत्पत्ति सूर्य्य से जानते हैं, नीचे गिरते हुए जल मानों सुनते हैं।

द्यौ का अर्थ सूर्य सभी को विदित है।

(१३) जल सृष्टि का आरंभ—

यद् देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।

अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत ॥ (ऋ. १०।७२।६)

देवी शक्तियां सृष्टिनिर्माण में वेग से संलग्न होकर जल में प्रतिष्ठित रहीं। मानों इन नाचने वालों का तीव्र रेणु यहां रक्षित हैं।

अब तो सभी सृष्टि का आरंभ जल में मानने लगे हैं।

(१४) चन्द्र के दिन [तिथियां] छोटे होते हैं—

अयं स यो दिवस्परि रघुयामा पवित्र आ।

सिन्धोरूर्मा व्यक्षरत् ॥ (ऋ. ६।३६।४)

यह वह चन्द्र है जो छोटे दिनों वाला है और द्यौ से सिन्धु=समुद्र की लहरों को गतिमान् करता है।

चन्द्रमा पृथिवी के चारों ओर लगभग २६३ दिन में गति करता है। ज्योतिषी लोग चन्द्र की पृथिवी के चारों ओर की परिक्रमा के काल को तीस में विभक्त करते है। इस कारण २४ घंटे की अपेक्षा तिथि छोटी हो जाती है। इस बात को कहने के लिए मन्त्र में 'रघुयामा' पद आया है।

(१५) पृथिवी के चारों ओर वायु—

अयं चिद्वातो रमते परिज्मन् ॥ (ऋ. २।३८।२)

यह वायु भी [सूर्य्य के नियन्त्रण से] पृथिवी के सब ओर रमण करता है।

'परिज्मन्' पृथिवी के सब ओर शब्द विशेष ध्यान देने योग्य है।

इस प्रकार सहस्रों मन्त्र प्रस्तुत किये जा सकते हैं जो अनेक विद्याओं का निर्देश है। विस्तारभय से यहां दिग्दर्शनमात्र, वह भी अपर्याप्त सा, कराया है। इस आधार पर हम सर्वथा निर्भ्रान्त होकर कह सकते हैं कि वेद में सब सत्य विद्याएं है। स्वामी दयानन्द सरस्वती जी का यह कथन सर्वथा सप्रमाण एवं युक्तिसंगत है—

वेदेषु सर्वा विद्याः सन्त्याहोस्विन्नेति ?

अत्रोच्यते—सर्वाः सन्ति मूलोद्देशतः ॥ (ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ब्रह्मविद्याविषय)

यथा सूर्य्यः स्वप्रकाशकः सन् संसारस्थान् महतो ऽल्पांश्च पर्वतादीन् त्रसरेण्वन्तान् पदार्थान् प्रकाशयति तथा वेदोपि स्वयं स्वप्रकाशः सन् सर्वा विद्याः प्रकाशयतीत्यवधेयम् ॥

वेदों में सब विद्याएं हैं अथवा नहीं ? इसका उत्तर यह है कि सब विद्याएं हैं किन्तु मूल रूप से नाम निर्देशमात्र रूप से।

जैसे सूर्य्य स्वप्रकाश होता हुआ संसार के पर्वत से त्रसरेणु पर्य्यन्त छोटे बड़े सभी पदार्थों को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार वेद भी स्वयं स्वप्रकाश होता हुआ सब विद्याओं को प्रकाशित करता है, ऐसा समझना चाहिए।

प्रमाण-संख्या

(लेखक—श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ, अध्यक्ष विरजानन्द वैदिक संस्थान, लाहौर)

जब एक मनुष्य अपनी कोई बात दूसरे को कहता है तो उसकी सिद्धि के लिए, अथवा उसकी साधुता की पुष्टि के लिए किन्हीं एक या अधिक साधनों का प्रयोग करता है। जैसे कोई कोई मनुष्य किसी आदरणीय मनुष्य अथवा किसी माननीय ग्रन्थ का कोई वचन प्रस्तुत करके अपनी बात की पुष्टि करते हैं। विचारशील किसी के कथन पर अन्धाधुन्ध विश्वास करने को तत्पर नहीं होते। वरन् वे कथित बात के लिए किसी साधक, बाधक, उपोद्बलक साधन की चाह किया करते हैं। उस साधक, बाधक, उपोद्-बलक साधन को तत्त्वज्ञानी लोग प्रमाण कहते हैं। अथवा सीधे साधे शब्दों में कहना हो तो ज्ञान-[=प्रमा] मात्र के साधन [=करण] को प्रमाण कहते हैं।

प्रमाण की उपयोगिता के विषय में किसी को भी कोई संशय नहीं है। सभी प्रमाण की उपयोगिता तथा आवश्यकता को स्वीकार करते हैं। प्रत्येक मनुष्य का—चाहे वह किसी मत, देश वा जाति का हो—प्रतिदिन का व्यवहार प्रमाण के ऊपर निर्भर रखता है। यह और बात है कि वह प्रमाण का व्यवहार करता हुआ भी उस प्रमाण का नाम या लक्षण न बता सके। किन्तु यह नहीं कि वह प्रमाण का व्यवहार नहीं करता। न्यायदर्शन के भाष्यकार वात्स्यायन का यह कथन कि प्रमाण-व्यवहार में मनुष्यों की तो क्या पशुपक्षियों तक की समानता है*। इसी कारण प्रसिद्ध है—कि "लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिर्न प्रतिज्ञामात्रेण" अर्थात् लक्षण और प्रमाण के द्वारा वस्तु की सिद्धि हो सकती है। इसी से मिलता-जुलता और वाक्य है—'मेयसिद्धिर्मानाद्धि' प्रमेय सिद्धि प्रमाण से ही होती है।

चिरकाल से पण्डित समाज में प्रमाण के लक्षण पर विवाद चला आ रहा है। इस छोटे से लेख में हम उसका निर्देश नहीं करना चाहते।

ऊपर बताया जा चुका है कि प्रमाण की उपयोगिता एवं आवश्यकता में सभी एकमत हैं। किसी को उसमें विवाद या विसंवाद नहीं है। किन्तु प्रमाण हैं कितने ? एक है अथवा अनेक हैं ? इस विषय को लेकर सुधीसमाज में सदा से मतभेद चला आया है। उस उस मत के अत्यन्त आग्रहग्रहीत परवर्त्ती अनुयायियों ने उस मतभेद को मतविरोध में परिणत कर डाला है। इसमें कोई संदेह नहीं कि कहीं-

---

* 'आप्तोपदेशः शब्दः' (न्याय १।१।७) पर भाष्य में लिखा है—'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः, तया प्रवर्त्तत इत्याप्तः। ऋष्यार्यम्लेच्छानां समानं लक्षणम्। तया च सर्वेषां व्यवहाराः कल्पन्त इति। एवमेभिः प्रमाणैर्देवमनुष्यतिरश्चां व्यवहाराः प्रकल्पन्ते नातोऽन्यथेति ॥ अर्थात् पदार्थ का साक्षात्कार आप्ति [आप्तपन] है। आप्ति से जो व्यवहार करे वह आप्त। यह लक्षण ऋषियों, आर्यों और म्लेच्छों में एक सा है। इसीसे सब के व्यवहार चलते है। इन प्रमाणों [प्रत्यक्ष आदि] के द्वारा निष्काम विद्वानों, साधारण मनुष्यों तथा पशु-पक्षियों के व्यवहार चलते है, और कोई प्रकार हो ही नहीं सकता।

पूर्वमीमांसादर्शन के भाष्यकार शबर जी और उनके अनुयायियों ने तो विशेष अवस्थाओं में म्लेच्छों को अधिक प्रमाण माना है। अर्थात् जो पदार्थ आर्य देशों में नहीं होते और म्लेच्छ देशों में होते हैं, उनके विषय में म्लेच्छों को ही प्रमाण मानना युक्त है।

कहीं वह विरोध अनिवार्य्य है। उस विरोध का प्रकाश किये बिना कदाचित् निर्वाह होना संभव अथवा शक्य प्रतीत नहीं होता। किन्तु अधितर प्रौढिवाद या खींचातानी है। अस्तु ! अब हम क्रम से आपके सामने प्रमाण की संख्या के विषय में विभिन्न आचार्य्यों के मतों का उल्लेख करते हैं। विद्वान् जन इसे अबोध या नौसिखिया बालक के द्वारा अपने पढ़े पाठ का आम्रेडन [दोहराना] समझें। अकृतविद्य इससे, यदि यह उनकी ज्ञानवृद्धि में सहायक न हों तो अपना मनोविनोद करें।

प्रकृत विषय को आरम्भ करने से पूर्व एक चेतावनी देना अत्यन्त आवश्यक है। जिस क्रम से नीचे प्रमाणों की संख्या का निरूपण किया जाएगा, उससे यह न समझ लिया जाए कि उस उस मत के प्रवर्त्तक इसी क्रम से हुए। वरन् तथ्य उसके विपरीत है। कणाद और गौतम अति प्राचीन हैं। दो प्रमाणों का लापन करने वाले जैनों तथा बौद्धों के अति प्राचीन ग्रन्थों में महावीर स्वामी तथा बुद्धदेव द्वारा कापिलदर्शन [सांख्यदर्शन] के पढ़े जाने का उल्लेख है। गौतम के न्यायदर्शन, कणाद के वैशेषिक दर्शन आदि में एक प्रमाण मानने वाले चारवाक या बृहस्पति का उल्लेख नहीं है। अति प्राचीन वेद में [जो सर्वसम्मति से चारवाक से बहुत पहले का है] प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाण का वर्णन है और यह तो सभी मानते हैं कि चारवाक मत प्रवर्त्तक अपने समय में प्रचलित वैदिक धर्म के विकृत स्वरूप के विद्वेष के कारण ही नूतन मत चलाने में प्रवृत्त हुआ था। उसने वेदों की तथा वेद प्रतिपादित सिद्धान्तों की भरपेट निन्दा की। यदि प्रमाण संख्या के अनुरोध से उनके मानने वालों का ऐतिहासिक क्रम माना जाए तो बृहस्पति [या जो भी कोई चारवाक मत प्रवर्त्तक हुआ] को सर्व प्राचीन मानना पड़ेगा। किन्तु यह युक्तियुक्त नहीं है। यदि चारवाक मत प्रवर्त्तक सब से प्राचीन है तो उसने अपने से अति प्राचीन वेदों का नाम लेकर वेदों की निन्दा क्योंकर कर की। अतः प्रमाण संख्या-क्रम के अनुसार उनके प्रवर्त्तकों का कालक्रम मानना उचित नहीं है।

यह हम बतला आए हैं कि प्रमाण या प्रमाणों की सत्ता में किसी का विरोध नहीं। यदि कोई महामनुष्य ऐसा निकल आए जो यह कहने का साहस करे कि मैं प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं करता, मेरे मत में कोई वस्तु प्रमाण नहीं है तो उसे सुझाना चाहिए, समझाना चाहिए कि महामनुष्य ! सोचिए, आप क्या कह रहे हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि आपको अपने कथन में व्याघात [=परस्पर विरोध] का आघात प्रतीत नहीं हो रहा। कृपा करके कहिए—"मैं प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं करता" इत्यादि वाक्य से आप कुछ हमें जताना चाहते हैं, समझाना चाहते हैं ना ? यदि आपका उत्तर 'हां' में है, तो किसी अर्थ का बोधक=ज्ञापक=प्रमापक होने से यह प्रमाण हो गया। कहिए आपको अपने कथन में परस्पर विरोध का बोध हुआ या नहीं ? अच्छा ! महानुभाव और प्रकार से विचार कीजिए। 'मेरे मत में कोई वस्तु प्रमाण नहीं है।' इस वाक्य को आप मानते हैं या नहीं। यदि मानते हैं तो यह प्रमाण हो जाएगा। इसके प्रमाण होने से 'मेरे मत में कोई वस्तु प्रमाण नहीं है' अथवा 'मैं प्रमाण की सत्ता स्वीकार नहीं करता' ये वाक्य निरर्थक हो जाएंगे। निरर्थक कथन करने वाले को लोग क्या नाम देते हैं ? वह नाम हम आपको देना पसन्द नहीं करते।

इस रीति से प्रमाण की सत्ता समझाई जा सकती है। जब प्रमाण की सत्ता सिद्ध हो गई तो न्यून से न्यून एक प्रमाण तो अवश्य ही होना चाहिए। वह है प्रत्यक्ष* चारवाक, जिसका सिद्धान्त

---

* चारवाकों=लोकायतों=बार्हस्पत्यों में कुछ ऐसे पण्डित भी हैं जो किसी प्रमाण की सत्ता

है 'खाओ पियो करो आनन्द ।'† इसका पृष्ठपोषक है। उसका कहना है कि संसार में जो कुछ प्रतीति होती है और जिन विषयों की प्रतीति होती है, वह आंख, नाक, कान आदि इन्द्रियों से होती है। ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो इन इन्द्रियों से न होता हो। इन इन्द्रियों से प्रतीत न होने वाले या गृहीत न होने वाले पदार्थ की सत्ता ही नहीं हो सकती। जैसा—

'एतावानेवलोको यावानिन्द्रियगोचरः ।८०। [हरिभद्र सूरिकृतषड्दर्शन समुच्चय, लोकायदर्शन] =संसार इतना ही है जितना इन्द्रियों के गोचर हैं।

प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार के पदार्थों के होने के कारण प्रमाण भी दो प्रकार के होने चाहिएं।

एक और प्रकार से सोचिए। प्रत्यक्ष का साधन आंख-नाक-कान आदि इन्द्रियां हैं। किन्तु इन्द्रियां तो स्वयं ही प्रत्यक्ष नहीं हैं। आंख तो दिखाई नहीं देती; हां आंख का गोलक, अधिष्ठान [रहने का स्थान] दिखाई देता है। वह भी दूसरे को। स्वयं देखना हो तो जल, दर्पण या प्रतिबिम्बग्राही किसी पदार्थ की सहायता लेना पड़ती है। इस में बहुत विवाद है कि इस प्रकार के दर्शन को विशुद्ध प्रत्यक्ष कहा भी जाए या न। कान तो न दिखाई देता है न सुनाई देता है। जिसको साधारण जन कान कहते

स्वीकार नहीं करते। उनमें 'तत्त्वोपप्लवसिंह' ग्रन्थ का कर्त्ता 'जयराशिभट्ट' प्रमुख है। यह प्रौढ पण्डित अपने ग्रन्थ में सभी प्रमाणों तथा प्रमेयों का खण्डन करके कहता है—

'तदेवमुपप्लुतेष्वेव तत्त्वेषु अविचारितरमणीयाः सर्वे व्यवहारा घटन्ते' (पृ० १२५)

[इस प्रकार सब तत्त्वों के अस्तव्यस्त होने पर बिना सोचे समझे सारे व्यवहार होते रहते हैं।] ग्रन्थ के आरम्भ में यह शंका उठाई है कि "यदि सभी तत्त्व अस्तव्यस्त है तो 'अथातस्तत्त्वं व्याख्यास्यामः' [अब तत्त्व की व्याख्या करेंगे] और 'पृथिव्यापस्तेजो वायुरिति तत्त्वानि तत्समुदाये शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञा ।' [पृथिवी, जल, अग्नि और वायु तत्त्व हैं, उनके समुदाय की शरीर, इन्द्रिय और विषय संज्ञाएं होती हैं] सूत्रों की संगति कैसे करोगे।' इसका समाधान इस प्रकार किया है—

'अन्यार्थत्वात्' किमर्थम् ? प्रतिबिम्बनार्थम्। किं पुनरत्र प्रतिबिम्ब्यते ? पृथिव्यादीनि तत्त्वानि लोके प्रसिद्धानि, तान्यपि विचार्यमाणानि न व्यवतिष्ठन्ते किं पुनरन्यानि ? अथ कथं तानि न सन्ति ? तदुच्यते—सल्लक्षणनिबन्धनं मानव्यवस्थानम्। माननिबन्धना च मेयस्थितिः। तदभावे तयोः सद्व्यवहारविषयत्वं कथं ....."

[इसका प्रयोजन अन्य है। क्या प्रयोजन है ? झलकाना। यहां क्या झलकाना है ? यह कि पृथिवी आदि तत्त्व जो लोक में प्रसिद्ध हैं, विचारने से वही जब नहीं ठहरते, सिद्ध होते, तब दूसरों का क्या कहना। उनकी सिद्धि कैसे नहीं होती ? सुनिये—ठीक ठीक लक्षण से प्रमाण की व्यवस्था होती है। और प्रमेय की सिद्धि प्रमाण के अधीन है। ठीक ठीक लक्षण के न मिलने से प्रमाण प्रमेय का व्यवहार ठीक कैसे हो सकता है।] जयन्तभट्ट ने न्याय मञ्जरी में चारवाकों के मत का उल्लेख करते हुए ऐसी ही बात कही है—अशक्य एव प्रमाणसंख्यानियम इति सुशिक्षित चारवाकाः।

इस भांति जयराशिभट्ट ने प्रमाणों की सत्ता का अपलाप किया है। इसका भी उत्तर वही है कि आपका यह वचन प्रमाण=जतलाने वाला है या नहीं ? इत्यादि

† १. यावज्जीवेत्सुखं जीवेद्दृणं कृत्वा घृतं पिबेत्। (सर्वदर्शन संग्रह में चारवाक दर्शन)। २. पिबखाद च जातशोभने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते। (हरिभद्रसूरिकृत षड्दर्शन समुच्चय, लोकायदर्शन)।

हैं। वास्तव में वह कान का अधिष्ठान है। कान उससे सर्वथा भिन्न है। यदि वही कान हो, तो जगत् में बहिरा कोई भी न हो, क्योंकि यह तो सभी के होता है। किन्तु बधिर हैं और पुष्कल संख्या में हैं। अतः कान भी प्रत्यक्ष न हुआ। इसी प्रकार रसना=जिह्वा, त्वचा=स्पर्शन, एवं घ्राण=नाक के विषय में जान लेना चाहिए।

इससे सिद्ध हुआ कि प्रत्यक्ष ज्ञान का साधनभूत प्रत्यक्ष प्रमाण—इन्द्रियां—स्वयं प्रत्यक्ष नहीं हैं। प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य प्रमाण को स्वीकार न करने वाला इनकी सिद्धि कैसे करेगा? जब ये ही असिद्ध ठहरी तो इनके द्वारा होने वाला ज्ञान कैसे सिद्ध एवं प्रमाण होगा? और भी एक बात। 'प्रत्यक्ष के अतिरिक्त अन्य कोई प्रमाण नहीं है, इस वाद का मानने वाला अपने पूर्वजों तक की सिद्धि प्रमाणित न कर सकेगा। इत्यादि अनेक दोष केवल प्रत्यक्ष को प्रमाण मानने और उससे अतिरिक्त अन्य को न मानने से आते हैं।

इस कारण वैशेषिक दर्शनकार कणादमुनि के अनुयायी एवं शाक्यवंशतिलक बुद्ध के अनुगामी एवं अन्य दार्शनिक कहते हैं कि प्रमाण एक नहीं दो हैं—एक प्रत्यक्ष तथा दूसरा अनुमान*। प्रत्यक्ष के साथ अनुमान के मान लेने से बहुत सी आपत्तियां दूर हो जाती हैं। अनुमान के मानने से प्रत्यक्ष के साधनभूत इन्द्रियों की सिद्धि भी सहज से हो जाती है। यह सर्वजनविदित नियम है कि [या या क्रिया सा सा सकरणिका] जो भी कोई क्रिया होती है उसका कोई न कोई करण=करने का साधन=हथियार होता है। देखने, सुनने, चखने, छूने, सूंघने की क्रियाएं हो रही हैं। इन क्रियाओं के करण भी अवश्य होने चाहिएं। इस व्याप्तिबल पर आश्रित अनुमान से देखने के साधन चक्षुः=आंख, सुनने के करण श्रोत्र=कान, चखने के साधन रसना=जिह्वा, छूने के साधन स्पर्शन=त्वक् एवं सूंघने के करण घ्राण=नाक की सिद्धि हो जाती है।

इसी प्रकार अनुमान से अन्य अनेक पदार्थों की सिद्धि होती है।

विशेष महत्त्व की बात यह है कि प्रत्यक्ष तो वर्त्तमानकालविषयक ही हो सकता है। जो पदार्थ इन्द्रियों के संबन्ध=सम्पर्क=संनिकर्ष में आता है, उसी का प्रत्यक्ष होता है; अन्य का नहीं। किन्तु अनुमान से तीनों कालों से संबद्ध पदार्थों का ज्ञान संभव है। उदाहरण के लिए—बादलों को एक विशेष प्रकार से तथा एक विशेष ऊंचाई पर देख कर सभी को भान=ज्ञान=अनुमान होता है कि वृष्टि होगी। भावी काल में होने वाली वृष्टि इस समय प्रत्यक्ष नहीं है। किन्तु ज्ञान हो रहा है। ज्ञान साधन=प्रमाण के बिना नहीं हो सकता। अतः अनुमान भविष्य के ज्ञान कराने में भी साधन होता है। इसी प्रकार भूमि को जल से आप्लावित एवं वृक्षों को जल से तर देखकर अनुमान करते हैं कि यहां वृष्टि हुई थी। वृष्टि इस समय हो नहीं रही अतः प्रत्यक्ष तो नहीं, किन्तु वृष्टि हो चुकने का अबाध ज्ञान हो रहा है। इस ज्ञान का साधन अनुमान के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसी प्रकार धूम देखकर आग का अनुमान करना वर्त्तमान काल से संबन्ध रखता है। धूम तो प्रत्यक्ष है किन्तु आग प्रत्यक्ष नहीं है। हां, "जहां जहां धुँआ होता है, वहां वहां आग अवश्य होती है, जैसे कि रसोई घर में," इस प्रकार के अव्यभिचारी=खण्डित न होने वाले नियम [व्याप्ति] के सहारे धुआं देखने से अनुमान होता है कि यहां भी आग है।

---

* प्रत्यक्षमनुमानं च प्रमाणं हि द्विलक्षणम्। प्रमेयं तत्प्रयोगार्थं न प्रमाणान्तरं भवेत्॥ (दिङ्नागकृत, प्रमाणसमुच्चय, प्रत्यक्षपरिच्छेद श्लोक २)

इस प्रकार विवेचन करने से सिद्ध होता है कि प्रत्यक्ष का विषय केवल वर्त्तमान काल है और अनुमान का तीनों काल। अतएव अनुमान का माहात्म्य बहुत अधिक है। हां, इसमें कोई सन्देह नहीं कि अनुमान का आधार प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्ष न हो तो अनुमान बेजान है। यदि धूम प्रत्यक्ष दिखाई न दे अथवा धूमज्ञान प्रत्यक्ष न हो तो आग का अनुमान किसी भांति भी न हो सके। इसी वास्ते प्रत्यक्ष की श्रेष्ठता में किसी को विप्रतिपत्ति नहीं है। इसी भाव को लेकर न्यायदर्शन १।१।३ के भाष्य में वात्स्यायन ने कहा है—

'सेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा। जिज्ञासितमर्थमाप्तोपदेशात्प्रतिपद्यमानो लिङ्गदर्शनेनापि बुभुत्सते। लिङ्गदर्शनानुमितं च प्रत्यक्षतो दिदृक्षते। प्रत्यक्षत उपलब्धेऽर्थे जिज्ञासा निवर्तते॥'

अर्थात् इस प्रमिति [प्रमाणद्वारा होने वाले ज्ञान] में प्रत्यक्ष प्रधान है। जिज्ञासित पदार्थ को आप्त के उपदेश से समझकर भी मनुष्य लिंगदर्शन [अनुमान] के द्वारा जानना चाहता है। और अनुमान के द्वारा ज्ञात पदार्थ को प्रत्यक्ष के द्वारा जानना चाहता है। प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात पदार्थ के विषय में जिज्ञासा मिट जाती है। इस प्रकार बौद्धादिकों के द्वारा अनुमान की सिद्धि की जाती है।❀

❀यद्यपि जैन दार्शनिक भी प्रत्यक्ष (=अपरोक्ष) और परोक्ष नामक दो प्रमाण स्वीकार करते हैं; यथा—

१. तद्द्वेधा ॥१॥ प्रत्यक्षेतर भेदात् ॥२॥ [परीक्षामुखसूत्र २य समुद्देश]

अर्थात् प्रमाण दो प्रकार का है, प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष भेद से।

२. तद् द्विभेदं प्रत्यक्षं च परोक्षं च [प्रमाणनयतत्त्वालोक २।१]

प्रमाण के दो भेद हैं प्रत्यक्ष और परोक्ष।

३. प्रत्यक्षं च परोक्षं च द्वे प्रमाणे तथा मते॥ [हरिभद्रसूरिकृत प्रमाण समुच्चये जैन दर्शन ५५]

प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रमाण माने जाते हैं।

४. प्रमाणं........। प्रत्यक्षं च परोक्षं द्विधैव च विनिश्चितम् [जैनतर्कवार्तिक, प्रत्यक्ष परिच्छेद २

प्रमाण प्रत्यक्ष और परोक्ष दो प्रकार का ही निश्चय किया गया है।

तथापि ये पण्डित अनुमान और आगम का अपलाप नहीं करते। वरन् इन दोनों प्रमाणों की साटोप सिद्धि करते हैं। और प्रत्यक्ष और परोक्ष के कई भेद मानते हैं। यथा

तद् द्वि प्रकारम्—सांव्यवहारिकं पारमार्थिकं च। [प्रमाणनयतत्वालोक २।४]

स्मरणप्रत्यभिज्ञानतर्कानुमानागमभेदतस्तत्पंचप्रकारम् [प्रमाण नयतत्त्वालोक ३।२]

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है—सांव्यवहारिक तथा पारमार्थिक। परोक्ष पांच प्रकार का होता है—स्मरण, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान और आगम। पुनः सांव्यवहारिक के दो भेद हैं, फिर उन दोनों के चार चार भेद हैं।

इस तरह विचार करने से जैन सात प्रमाण मानने वाले सिद्ध होते हैं। अनुमान और आगम [शब्द] प्रमाणों की प्रमाणता को वे अस्वीकार नहीं करते, वरन् परोक्ष के भेद मानते हैं। वैदिक दर्शन तर्क को पृथक् प्रमाण न मान कर प्रमाणों का उपकारक मानते हैं। 'स्वपरव्यवसायिज्ञानं प्रमाणम् [प्रमाणनयतत्त्वालोक १।२] (=ज्ञान और ज्ञान से भिन्न का निश्चय कराने वाला ज्ञान प्रमाण है।) इस लक्षण पर 'स्मरण' पूरा नहीं उतरता। यही अवस्था प्रत्यभिज्ञान की है। अतः वैदिक दर्शन इनको प्रमाण नहीं मानते।

प्रसङ्ग से यह बता देना आवश्यक है कि कणाद मुनि प्रत्यक्ष और अनुमान के साथ 'शब्द' या 'आगम' प्रमाण भी मानते हैं जैसा कि उनके सर्वथा समानाक्षरों वाले दो सूत्रों में प्रतिपादित है— 'तद्वचनादाम्नायस्य प्रामाण्यम्' [वै० १।१।३, १०।२।१०] पहले सूत्र का अर्थ है—"पदार्थों [द्रव्य-गुण-कर्म-सामान्य-विशेष-समवाय] का कथन करने से आम्नाय [वेदशास्त्र] का प्रामाण्य है।" और दूसरे स्थान के सूत्र का अर्थ है—"ईश्वर का वचन होने से आम्नाय का प्रामाण्य है।" शब्दप्रमाण का इतना स्पष्ट प्रतिपादन होने पर कणाद को दो प्रमाण मानने वाला कहना जहाँ उसके साथ अन्याय करना है, वहाँ अपना भी अज्ञान बखान करना है।

जो आग्रहवश केवल दो प्रमाण मानते हैं। उनसे वैशेषिक, जैन, सांख्य, योग आदि दार्शनिक पूछते हैं कि श्रीमान् जी! 'सामने ठहरे पशु को गौ कहते हैं?' यह आपने कैसे जाना? विवश हो उत्तर मिलेगा—'हमारे बड़े इसे गौ कहते हैं, उनसे सुन कर हम भी इसे गौ कहते हैं।' अर्थात् इस पशु के 'गौ' नाम होने में न तो प्रत्यक्ष प्रमाण है और न ही अनुमान। अनुमान के लिए व्याप्ति चाहिए, वह यहाँ है नहीं। धूम देख कर सभी को आग का अनुमान हो सकता है, चाहे वे किसी देश के ही क्यों न हों। किन्तु गोपिण्ड देखकर विभिन्न भाषा भाषियों को विभिन्न नामों—गौ, काऊ (Cow) बक् आदि की स्फूर्ति होती है। अतः 'गौ' नाम होने में कोई व्याप्ति न होने से अनुमान भी नहीं हो सकता। किन्तु ज्ञान हो रहा है। ज्ञान प्रमाण के बिना नहीं हो सकता! अतः कोई न कोई प्रमाण इस में अवश्य होना चाहिये। जो प्रमाण यहाँ ज्ञान कराता है, ज्ञानी जन उसे शब्द प्रमाण कहते हैं। इसी कारण सांख्य दर्शन तथा योग दर्शन में तीन प्रमाण मान कर कहा है—

प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि [यो० १।६] अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान तथा आगम अथवा शब्द प्रमाण हैं।

शब्द प्रमाण के मान लेने से लोक व्यवहार में बहुत सुविधा होती है। बालक अपने माता-पिता भाई बहिन तथा अड़ोसियों पड़ोसियों से सुन-सुन कर सीखता है। यदि शब्द को प्रमाण न माना जाए, तो यह सारा व्यवहार ही न चल सके। तनिक विचार कीजिये इस व्यवहार के विलोप से प्रत्यक्ष तथा अनुमान भी नहीं ठहर पाएंगे। अतः शब्द प्रमाण अत्यन्त आवश्यक है। मनुष्यजाति का तो सबसे निर्भर है ही शब्द प्रमाण। इसकी पाठशालाएं, कलाशालाएं, विद्यालय, महाविद्यालय, गुरुकुल, विश्वविद्यालय आदि पुकार पुकार कर शब्द-प्रमाण की महिमा बखान रहे हैं। शब्द प्रमाण का अपलाप करने वाला अपने गुरु के वचनों को कैसे मानेगा, यदि उन्हें प्रमाण कोटि में न गिनेगा? यदि प्रमाण-कोटि में गिनेगा, तो प्रत्यक्ष तथा अनुमान से पृथक् ही मानेगा। पृथक् मानने से दो प्रमाण मानने का हठ न रख सकेगा। गुरु-वचनों को प्रमाण या प्रत्यक्ष-अनुमान से पृथक् प्रमाण न मानने से दूसरों को उनके मानने, अनुगमन करने की प्रेरणा कैसे करेगा? अनेक अनुपपत्तियों के कारण शब्द प्रमाण भी प्रत्यक्ष और अनुमान की भांति पृथक् प्रमाण है।

इसी कारण बौद्धादि शब्द प्रमाण का सर्वथा अपलाप न करके उसे अनुमान के अन्तर्गत मान

जो भी हो। जैन केवल प्रमाणद्वितयवादी नहीं हैं। पदार्थलापन की उनकी अभिमत प्रक्रिया के कारण वे दो प्रमाण कहते हैं। व्यवहार=वस्तुस्थिति=यथार्थता का सांमुख्य होने पर वे दो से अधिक प्रमाण मानते हैं।

लेते हैं। इस प्रकार प्रकारान्तर से वे भी शब्द की प्रमाणता को अङ्गीकार कर ही लेते हैं।

जिनको 'तीन ही प्रमाण हैं' का आग्रह है, उन्हें एक बहुत बड़ी कठिनता का सामना करना पड़ता है। नैयायिकों के यहां प्रसिद्ध उदाहरण के द्वारा ही हम अपना अभिप्राय स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं। किसी ने किसी से पूछा—'कहो भइया! गवय [नील गाय] किस प्रकार का होता है।' नील गाय [गवय] से परिचित मनुष्य 'जैसे गौ होती है, वैसे ही नील गाय होती है' कह कर जिज्ञासु का शमन करता है। अब जिज्ञासु कहीं देखता है कि एक ऐसा पशु है जो गौ तो नहीं है किन्तु गौ के समान अवश्य है। उसे देखकर वह समझता है 'इस पशु का नाम गवय है।'

अब विचारने की बात यह है कि 'इस पशु का नाम गवय है' इस ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कह सकते। क्योंकि जिस मनुष्य को 'गवय' पद के अर्थ का ज्ञान नहीं है, गवय देख कर भी 'इस पशु का नाम गवय है' यह ज्ञान उसे कदापि नहीं हो सकता। अतः 'इस पशु का नाम गवय है' यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है। यह अनुमान भी नहीं हो सकता क्योंकि अनुमान के लिये व्याप्ति का होना अनिवार्य्य और व्याप्ति की प्राप्ति यहां दुर्वार। शब्द प्रमाण यह तब होता जब गवय को सामने दिखाकर कहा जाता—'यह गवय है।' तनिक गम्भीर विचार कीजिए यह ज्ञान उन साधनों से नहीं हो रहा है। जो प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द में काम आते हैं। नैयायिक उसे उपमान कहते हैं। अर्थात् उपमान को मिला कर नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं, जैसा कि गौतम कहते हैं—'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' [न्यायदर्शन १।१।४]

नव्यमीमांसकों में प्रभाकर मिश्र कहते हैं "चार प्रमाण मानने से निर्वाह नहीं होता। 'देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता. किन्तु हृष्ट पुष्ट है, अतः रात्रि को भोजन करता है।' अथवा 'मेघ न होने पर वृष्टि नहीं होती है। अर्थात् मेघ होने पर वृष्टि होती है।'" देवदत्त का रात्रि भोजन अथवा मेघ के होने पर वृष्टि का होना प्रत्यक्ष नहीं है। यदि प्रत्यक्ष हो तो जिज्ञासा ही न उठे। अनुमान भी नहीं प्रतीत होता है। शब्द प्रमाण का तो यहां स्थान ही नहीं है। ऐसी दशा में इसे एक पृथक् प्रमाण मानना चाहिये। चूंकि इस प्रमाण से सिद्ध होने वाली बात को कहने के लिये 'अर्थात्' पद का प्रयोग करना पड़ता है, अतः इसका नाम 'अर्थापत्ति'[अर्थात् से आने वाला] देना ठीक है।

इस पर नवीन वेदान्ती [विशेषतः शाङ्करमतानुयायी] तथा नव्यमीमांसकों में कुमारिल जी के अनुगामी [जिन्हें कौमारिल या भाट्ट भी कहते हैं] कहते हैं कि यहीं पर क्यों ठहरते हो? प्रतीतिवैलक्षण्य के कारण प्रमाण भेद मानते हो तो एक आवश्यक किन्तु अत्यन्त विलक्षण प्रमाण और मानो। देखो किसी ने किसी से कहा—"जा, बिना चिह्न के वस्त्र ले आ।" वह गया वहां अनेक वस्त्र थे। कइयों पर चिह्न थे, कइयों पर चिह्नों का अभाव था। जिन पर चिह्नों का अभाव देखता है उनको ले आता है। चिह्न के अभाव को देख कर वह उन वस्त्रों को ला सका। अतः अभाव नामक षष्ठ प्रमाण मानो ❀। अन्यथा बताओ वह चिह्न रहित वस्त्रों को कैसे ला सका? कुमारिल भट्टा-

---

(क) प्रमाण पञ्चकं यत्र वस्तु स्वरूपे न जायते। वस्तुसत्तावबोधार्थं तत्राभावप्रमाणता ॥ १
वस्त्वसङ्करसिद्धिश्च तत्प्रामाण्यसमाश्रया। २ पू. मेयो यद्वदभावोहि मानमप्येवमिष्यताम् ॥ ४५
भावात्मके यथा मेये नाभावस्य प्रमाणता। तथाऽभावप्रमेयेपि न भावस्य प्रमाणता ॥ ४६
भावात्मकस्य मानत्वं न च राजाज्ञया स्थितम्। परिच्छेदफलत्वाद्धि प्रामाण्यं स्याद् द्वयोरपि ॥४७

चार्य्य ने इसका साटोप उपपादन किया है। कुमारिल भट्टाचार्य्य की युक्ति प्रबल तथा प्रशंसनीय है। शाङ्कर-मतानुया.ी तो उसी के तर्कों पर निर्वाह करते हैं।

प्रमाणों की संख्या बढ़ते देखकर दिन रात इतिहास-परिशीलन में संलग्न विद्वान् कहता है—'यह सब ठीक है। इसे तो मानना ही चाहिए। इसमें कोई विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए। किन्तु इतने से तो कार्य्य न चलेगा। 'त्रेता में सूर्य्यवंशी महाराज दशरथ के यहां रामचन्द्र जी पुत्ररत्न उत्पन्न हुए' इसको किससे सिद्ध करोगे। त्रेता में हुई बात आज कलि में कैसे प्रत्यक्ष? अनुमान का आधार ही यहाँ नहीं है। उपमान, शब्द, अर्थापत्ति कोई भी यहां लागू नहीं हो सकते। भाव पदार्थ को अभाव से कैसे जानोगे। अतः ऐतिह्य प्रमाण इनसे अतिरिक्त मानो। नहीं मानोगे तो राम, कृष्ण, गौतम, वसिष्ठ, कपिल, कणाद, जैमिनि, पैल, सुमन्तु, शङ्कर, कुमारिल, शबर प्रभृति अपने पूर्वजों की सत्ता की सिद्धि कैसे करोगे? अतः विवश होकर 'ऐतिह्य' नामक सातवां प्रमाण मानो। ज्योतिषियों की संगति में बैठने वाले तथा नाप तौल का काम करने वाले बोल पड़े—यदि अनुमान तथा शब्द प्रमाण के अन्तर्गत न हो सकने से ऐतिह्य, अर्थापत्ति तथा अभाव की पृथक्प्रमाणता थोड़े से धर्म भेद के कारण मानते हो तो 'संभव' नाम का प्रमाण भी मानो। देखो किसी के पास एक मन चावल हैं तो उसके पास दस सेर चावल भी संभव हैं। जिसके पास एक खरब धन है उसके पास अरब धन संभव है। इस ज्ञान में प्रत्यक्षादि कोई भी साधन नहीं है। इस ज्ञान का प्रमाण 'संभव' है। अतः उसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करो।

अभावशब्दवाच्यत्वात्प्रत्यक्षादेश्च भिद्यते। प्रमाणानामभावोहि प्रमेयाणामभाववत्॥५४
अभावोपि प्रमाणेन स्वानुरूपेण मीयते। प्रमेयत्वाद्यथा भावस्तस्मादभावात्मकता पृथक्॥ ५५
(कुमारिलभट्टकृत श्लोकवार्त्तिक, औपपत्तिकसूत्र, अभावपरिच्छेद)

जिस वस्तु के स्वरूप में प्रत्यक्षादि पांचों प्रमाण नहीं लगते, वहां वस्तुस्वरूप का ज्ञान करने के लिए 'अभाव' को प्रमाण माना जाता है॥१॥ अभाव प्रमाण के सहारे ही वस्तुओं का असांकर्य्य सिद्ध हो सकता है॥२॥ जिस प्रकार अभाव प्रमेय है उसी प्रकार अभाव प्रमाण भी मानना चाहिये॥४५॥ जैसे भावात्मक प्रमेय की सिद्धि के लिए अभाव समर्थ नहीं हो सकता, वैसे ही अभावात्मक प्रमेय के विषय में भावात्मक प्रमाण उपयुक्त नहीं हो सकता॥४६॥ यह कोई राजाज्ञा (कानून) तो है नहीं कि 'भावात्मक ही प्रमाण हो सकता है।' ज्ञान करा सकने के कारण दोनों की प्रमाणता माननी चाहिए [क्योंकि प्रमेय का ज्ञान करना प्रमाण का काम है]॥४७॥ अभाव शब्द का कोई न कोई वाच्य= अभेद होना चाहिए वह प्रत्यक्षादि नहीं हो सकते। अतः जिस प्रकार प्रमेयों का अभाव मानते हो उसी प्रकार [प्रमेयाभाव का साधक] प्रमाणों का अभाव [अभाव नामक प्रमाण] भी मानना चाहिए॥५४॥ अभाव [पदार्थ का अभाव] भी अपने अनुरूप प्रमाण से ही जाना जा सकता है। जिस प्रकार प्रमेय होने से भाव जाना जाता है अभाव स्वरूप उससे पृथक है॥५५॥

(ख) तानि प्रमाणानि षट्—प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दार्थानुपलब्धिभेदात् (वेदान्त परिभाषा)
वे प्रमाण छः है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि। अनुपलब्धि का अर्थ अभाव है।

यहां यह बात ध्यान देने योग्य है कि मीमांसादर्शन और वेदान्तदर्शन में प्रमाणों की संख्या का वर्णन है। यह टीकाकारों की उट्टंकना है।

इस प्रकार की चर्चा सुनकर तान्त्रिक के मन में आठों से पृथक् 'चेष्टा' नामक नवम प्रमाण प्रतिपादन करने की आई। किन्तु उसकी चेष्टा पर सबको घृणा हो गई। नैयायिक कहता है मैंने यह कभी नहीं कहा कि अर्थापत्ति, अभाव, संभव और ऐतिह्य प्रमाण नहीं है। प्रमाणता मैं इनकी मानता हूँ किन्तु अनुमानादि के अन्तर्गत इनको स्वीकार करता हूँ। इस विषय में महर्षि गौतम का सूत्र भी है—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावानर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः। (न्याय०२।२।२)

ऐतिह्य शब्दप्रमाण से अभिन्न है और अर्थापत्ति, संभव तथा अभाव अनुमान से अभिन्न हैं।

ऐतिह्य के कथन करने वाला यदि आप्त है तो उसका कथन स्वीकृत होगा, अन्यथा नहीं। आप्त का वचन शब्दप्रमाण है। अतः ऐतिह्य पृथक् प्रमाण न होकर शब्द के अन्तर्गत है। अर्थापत्ति, संभव, तथा अभाव को अनुमान के अन्तर्गत मानते हैं *।

इस प्रकार अन्तर्भाव मानकर प्रमाण चार सिद्ध होते हैं। स्वतन्त्र सत्ता मानकर आठ प्रमाण बनते हैं। इसी भाव को सामने रख कर स्वामी दयानन्द सरस्वती ने कहा है—"ये आठ प्रमाण [हैं]। इनमें से जो शब्द में ऐतिह्य, और अनुमान में अर्थापत्ति सम्भव और अभाव की गणना करें तो चार प्रमाण रह जाते हैं।"

प्रमाण विचार मुख्यतया न्याय दर्शन का विषय है, उसमें ही इसका समीचीन विवेचन है। अतः इस विषय में सभी उसका अनुगमन करते हैं और यही करना भी चाहिए।

ईश्वर का अस्तित्व

(श्री पं० उदयवीर जी शास्त्री विरजानन्द वैदिक संस्थान, लाहौर)

'ईश्वर' शब्द का उच्चारण श्रवण या मनन करने पर किसी के मस्तिष्क में कैसी भी भावना व्यक्त होती हो, पर आज तक के संसार में ऐसे व्यक्ति उँगली पर गिने जा सकते हैं, जिन्होंने वास्तविक रूप में ईश्वर की सत्ता के लिये सन्देह प्रकट किया हो। संसार में जितने भी छोटे बड़े समुदाय अथवा व्यक्ति हो चुके हैं, और हैं, उन सबने ही किसी न किसी रूप में ईश्वर की सत्ता को माना ही है, परन्तु हम यहाँ न उसके लिये मत गणना करने की आवश्यकता को पूरा करते हैं, और न महान् विद्वानों के संगृहीत तत्सम्बन्धी प्रमाणों से ही हमें प्रयोजन है। हम केवल विचार करना चाहते हैं, कि ईश्वर की सत्ता क्यों मानी जाती है, क्या जगद्रचना के लिये? क्या ज्ञान की पूर्णता के लिये? अथवा ब्राह्मणों ने केवल अपनी जीविका के लिये यह एक अघट कल्पना कर डाली है, और सारे संसार को सदा के लिये मूर्ख बनाये रखने का एक कल्पनातीत अनोखा खिलौना उसके सम्मुख फेंक दिया है?

१) जहां तक जगद्रचना से ईश्वर का सम्बन्ध है, हम इस तरह का विवेचन करने वाले दुनिया के विद्वानों को चार भागों में रख सकते हैं—

---

* लेखक ने इसका युक्तियुक्त उपपादन 'प्रमाण प्रकाश' में किया है जो अभी अप्रकाशित है। प्रस्तुत लेख भी उस पुस्तक के एक अंश का भाव है।

(क) जो इस अनन्त नक्षत्रतारागणों से पूरित विविध संसार को केवल एक वस्तु का ही विकार कहते हैं। धरती, आग और जल, वायु, आकाश और इनके अनन्तानन्त रूप सब वहीं से निकले हैं और वही एक जड़ पदार्थ है। जो कुछ संसार में चेतना का विकास हम देखते हैं, वह भी सब उस जड़ की ही एक विशेष अवस्था है, उसका स्वभाव ही ऐसा है, कि वह सदा इसी प्रकार बना और बिगड़ा करती है। बस एक जड़ सत्ता के अतिरिक्त और किसी सत्ता की संसार के बनने सँवरने और बिगड़ने के लिये कोई आवश्यकता नहीं, फिर ईश्वर का अवसर ही कहां? जो रूप ईश्वर का बयान किया जाता है, जगद्रचना में उसका अवकाश ही कहां?

(ख) इस विचार के प्रतिक्रिया रूप दूसरा विचार यह प्रस्तुत किया जाता है, कि यह दृश्य अदृश्य अनन्त ब्रह्माण्ड है तो सब एक ही वस्तु का रूप, परन्तु वह मूल सत्ता केवल एक चेतन है, वही सत्य है। जड़ का कोई वजूद नहीं। जो मूल सत्य एक चेतन है, वही ईश्वर ब्रह्म परमात्मा आदि अनेक नामों से पुकारा जाता है।

(ग) उक्त दोनों ही विचारों में कुछ न्यूनता रह जाती है। वस्तुतः जड़ और चेतन दोनों ही मौलिक सत्ता हैं। किसी भी केवल एक वस्तु के आधार पर जगद्रचना का सामञ्जस्य हो नहीं पाता। जड़ से चेतन अथवा चेतन से जड़ का बन जाना, ये दोनों ही स्थितियां दोष पूर्ण हैं। वस्तुतः इन दोनों प्रकार की सत्ताओं का जो रूप वर्णन किया जाता है और जिसके तथ्य माने जाने में कोई रुकावट नहीं है, वह परस्पर इतना विरुद्ध है, कि एक वस्तु को दूसरे का परिणाम या विकार या रूपान्तर या स्थित्यन्तर मानना, दोषों से रहित नहीं कहा जा सकता। इसलिये मूलरूप में ही इन दोनों सत्ताओं को मानना ही तथ्य पूर्ण है।

(घ) यदि यह सब समस्या जगद्रचना के कारण ही है, तो क्या आवश्यक है, कि जगद्रचना को माना ही जाय। वस्तुतः जगत् की रचना होती नहीं। यह इसी तरह विविध ब्रह्माण्ड अनादि काल से स्थित चला आ रहा है और अनन्त काल तक इसी प्रकार चला जाएगा। इसके बनने बिगड़ने का सवाल ही नहीं, फिर ईश्वर क्या करेगा?

इन सब ही विचारों में हम चेतन और जड़ इन दो सत्ताओं की धारा को बराबर पाते हैं, चाहे कोई एक को सच्चा और दूसरी को झूठा कहे, चाहे दोनों को सच्चा और दोनों झूठा कहे, कहना मात्र अलग बात है, परन्तु इन दोनों सत्ताओं के किसी भी रूप में वर्णन के बिना, कोई भी विचार-धारा आगे पग उठा नहीं सकती। इन पर विवेचन करने से पूर्व यह समझ लेना और भी अधिक उपयुक्त होगा, कि वस्तुतः जगत् की रचना होती भी है, या नहीं? यदि यह बात निश्चित हो जाय कि जगत् की रचना ही नहीं होती, तब फिर ईश्वर के अस्तित्व के लिये कुछ भी अवकाश नहीं रह जाता।

इस जगत् को बनते हुए किसी ने देखा होता, तो उसकी गवाही अवश्य ही इसके लिये कारगर हो सकती थी, पर इसके देखने का सवाल ही नहीं उठ सकता। जिस वस्तु को हम नहीं देख पाते, उसके जानने के लिये अनुमान किया जा सकता है। किसी भी वस्तु के बनने का अनुमान, हम उसकी स्थिति को देखकर कर सकते हैं। हम कागज़ पर अपनी क़लम से कुछ लिख रहे हैं। हमारा ध्यान कागज़ की ओर गया, हमने देखा, कि कागज के अनेक रूप हैं। हम इस पर लिख रहे हैं, यह हमारे सन्मुख कैसे आ गया? कहां से आ गया? क्या यह सदा से ऐसा ही चला आता है? जब हमने

अधिक जानने का यत्न किया तो हमने समझा, कि खास तरह की सूखी घासों और रद्दी गूदड़ों को यह कागज़ का रूप प्राप्त हुआ है। हम इस पर लिखते हैं, इसे फाड़ते हैं, गलाते हैं, जला देते हैं, यह फिर कागज़ नहीं रहता, कागज़ का रूप नहीं रहता दूसरा कुछ और रूप हो जाता है कागज़ बनने से पहले घास का रूप था, हमने समझा, इसमें अनेक परिवर्त्तन हो रहे हैं, हम नहीं कह सकते, कि नष्ट हुआ कागज़ फिर घास बन जायगा, हमने उसे नहीं देखा, हमने यह भी नहीं देखा, घास से कागज़ का रूप कैसे हुआ, पर हमने उसके परिवर्त्तन को देखा है। हम यात्रा करते हैं, ट्रेन में, जहाज़ में, बैलगाड़ी अथवा घोड़ा गाड़ी में। फिर कभी हमें मालूम होता है, कि ट्रेन भिड़ जाती है, जहाज़ डूब जाता है, गाड़ी उलट जाती है और बना बनाया खेल बिगड़ जाता है। हम विशाल भवनों में निवास करते हैं, स्कूल कालिजों में विद्याध्ययन करते हैं, दुकानों में माल बेचते हैं, कारखानों में काम करते हैं, एक दिन अचानक ही कुछ क्षणों को ज़मीन हिल जाती है, सब विशाल भवनों का ढेर हो जाता है। हम संसार में छोटी २ वस्तुओं में उनके परिवर्त्तन के साथ उनके बनने बिगड़ने को देख रहे हैं। इस प्रकार अनेक वस्तुओं को हमने उत्पन्न होते देखा, परिवर्तन देखे, और उन्हें नष्ट होते देखा। हम इस सुविस्तृत पृथिवी के परिवर्तनों को निरन्तर देखते हैं, इससे सब संसार के परिवर्त्तन को पहिचान कर उसके बनने और बिगने का अनुमान कर लेते हैं। फलतः जिस संसार को हम परिवर्त्तन-शील देख रहे हैं, हम समझते हैं, वह कभी अवश्य बना है, भले ही हमने उसके बनने को न देखा हो।

जब यह स्थिर हो जाता है, कि जगत् की रचना अवश्य हुई है। तब हमारे सन्मुख एक समस्या नये रूप में उपस्थित होती है। हम अपने चारों ओर इस स्थिति को अच्छी तरह देखते हैं, कि जो वस्तु बनती हैं, वह जिन चीज़ों को व्यवस्थित करके बनाई जाती है। उनकी सत्ता अलग होती है, और उनको बनाने वाला अथवा उनको व्यवस्थित करने वाला कोई एक चेतन अलग होता है। अर्थात् इस नियम को हम निश्चित रूप में देखते हैं, कि जड़ वस्तुओं की कोई भी क्रिया अथवा उनकी व्यवस्था बिना किसी चेतन सत्ता की सहायता के हो नहीं सकती। पुस्तक, मकान, मेज, कुर्सी, मोटर, ट्रेन, कल, कारखाने, घड़ी और छड़ी यह सब हमारे चारों ओर का संसार इस नियम से बंधा हुआ है, स्वयंचालित यन्त्रों में भी किसी चतुर चेतन शिल्पी ने ही उस व्यवस्था को बांध कर रक्खा है। इसी आधार पर अखिल विश्व की सुव्यवस्था को देखकर हम इसको व्यवस्थित करने वाले किसी अनन्त शक्तिशाली सुचतुर शिल्पी की सत्ता को स्वीकार करने के लिये बाध्य हो जाते हैं। सुविस्तृत पृथिवी की रचना और व्यवस्था ही हमें आश्चर्य में डाल देती है, फिर जब हम ऊपर को दृष्टि उठाते हैं, अनन्त आकाश विशाल नक्षत्र मण्डल से परिपूर्ण दीखता है। सूर्य चन्द्र आदि का व्यवस्थित रूप से दीखना छिपना और इन सब सुविशाल गोलों का घूमना और टिकना, बिना किसी व्यवस्थाता के कल्पना नहीं किया जा सकता। इस सब के नियन्त्रण में कोई अनन्तशक्ति चेतन ही सामर्थ्य रख सकता है।

दार्शनिक जगत् में इस धारणा की एक प्रतिक्रिया भी है, कुछ विद्वानों ने इस प्रकार विचार किया है, कि चेतन की प्रेरणा के बिना ही अचेतन अर्थात् जड़ वस्तुओं में प्रवृत्ति होती रहती है। वस्तुतः यदि यह बात निर्धारित हो जाती है, तो सचमुच ही जगद्रचना में ईश्वर जैसी वस्तु की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। दार्शनिक दुनिया में इसके लिये एक दृष्टान्त बहुत ही प्रसिद्ध है, और वह है, नवजात

शिशु के लिये मातृस्तनों में दुग्ध का संचार। इस दृष्टान्त को इस प्रकार उपस्थित किया जाता है, कि स्त्री और पुरुष दोनों की आहार व्यवस्था के समान होने पर भी शिशु उत्पत्ति के अनन्तर मातृस्तनों में ही दुग्ध का अवरण होता है, अन्यत्र नहीं। यद्यपि चेतन सत्ता दोनों स्थलों पर समान है। इस कारण प्रतीत यह होता है, कि मातृ स्तनों में दुग्ध संचार के लिये चेतन की आवश्यकता नहीं होती, वत्स अथवा शिशु के लिये दुग्ध की प्रवृत्ति चेतन निरपेक्ष ही हो जाती है। इसी प्रकार पुरुषों के लिये अर्थात् संसार निर्माण में मूल जड़ की प्रवृत्ति बिना ही किसी चेतन की प्रेरणा के हुआ करती है।

वस्तुत: इस दृष्टान्त के आधार पर भी, चेतन की प्रेरणा के बिना ही मूल जड़ की प्रवृत्ति होते रहना, स्पष्ट नहीं हो पाता। हम देखते हैं, कि मातृस्तन में दुग्ध संचार भी बहुत ही व्यवस्था पूर्ण है, माता और उससे अतिरिक्त स्थलों में जैसे चेतन सत्ता की समानता है, वैसे ही सर्वत्र अचेतन सत्ता की भी समानता है। फिर अन्यत्र भी दुग्ध संचार क्यों नहीं? और फिर मातृस्तनों में भी शिशु की स्तनन्धय अवस्था में ही दुग्ध संचार क्यों होता है? अन्य अवस्थाओं में भी क्यों नहीं होता? उस समय माता के आहार और स्थिति में क्या अन्तर हो जाता है? सदा ही दुग्ध-संचार क्यों नहीं होता रहता? इन सब ही विशेषताओं पर जब हम गम्भीरता पूर्वक विचार करते हैं, तो यहां भी हमें एक पूर्ण व्यवस्था का दर्शन होता है। और इस व्यवस्था का नियन्त्रण, किसी सर्वान्तर्यामी सर्वज्ञ और सर्वशक्ति चेतन-सत्ता के बिना होना असंभव है। अभिप्राय यह है कि यह दुग्ध प्रवृत्ति सर्वथा स्वतन्त्र अथवा चेतन निरपेक्ष नहीं है, प्रत्युत किसी नियमित व्यवस्था के ही अनुसार है। विश्वब्रह्माण्ड की अन्य व्यवस्थाओं के समान इसका भी नियन्त्रण एक ही केन्द्र से होता है। और सचमुच ही यह विश्वव्यापी व्यवस्था हमें एक नियन्ता का अनुमान कराने में समर्थ होती हैं।

एक सर्वोच्च चेतनसत्ता के स्वीकार करने पर भी यह मानना सर्वथा निरापद नहीं है, कि उस एक सत्ता के बिना और कुछ है ही नहीं। जिन विद्वानों ने ये विचार देने के महान् प्रयत्न किये हैं, वे अपने यत्नों में पूर्ण सफलता को प्राप्त नहीं कर सके। कहने को हम कह लेते हैं, कि यह विश्वब्रह्माण्ड ही मिथ्या अथवा तुच्छ है, परन्तु इसकी अनुभूति की तथ्यता से नकार करना अपने ही अस्तित्व को सन्देह में डालना है, अपने ही साथ धोखा है। सर्वोच्च चेतन सत्ता ही स्वयं विकृत या परिणत होकर विश्व ब्रह्माण्ड का रूप धारण नहीं करती, अन्यथा उन्हीं विद्वानों ने उस चेतन का जो स्वरूप वर्णन किया है, वह सब असत्य होगा। यह भी कथन सन्देह रहित न होगा, कि उस एक ही चेतन सत्ता में यह सब जगत् झूठा ही भास रहा है। कहीं पर पड़ी हुई रस्सी को सांप समझ लेने के समान ही संसार की स्थिति को समझना, संसार के मिथ्यात्व का नियामक नहीं है। हम रस्सी को सांप उसी समय समझ सकते हैं, जबकि सांप की सत्यता को हमने जाना हुआ है, एक जगह रस्सी को सांप समझ लेने से सांप की सत्यता नष्ट नहीं होती। इस रीति पर संसार को मिथ्या नहीं कहा जा सकता, यह सिर्फ बयान करने की खूबी ही है। इस वाणी के मायाजाल में उलझ कर हम वास्तविकता से दूर हट गये हैं। वस्तुत: इस अनन्तानन्त विशाल विश्व ब्रह्माण्ड और उसमें बर्त्त रही व्यवस्थाओं के आधार पर ही हम उस सर्वोच्च चेतन नियामक शक्ति का अनुमान करते हैं।

उसकी उपासना क्यों करनी चाहिये? या उपासना के लिये उसकी क्या आवश्यकता है? यह आज के लेख का प्रस्तुत विषय नहीं है। पर इतना लिख देना अप्रासंगिक न होगा, कि हम उस शक्ति

को केवल अनुमान से ही जान सकते हैं- ऐसा नहीं है। विशेष अवस्थाओं में पहुँच कर हम उसकी अनुभूति भी कर पाते हैं, और इसी अनुभूति के मार्ग पर होने वाली प्रवृत्तियां ही उपासना का रूप धारण करती है। ज्ञान की पूर्णता भी साक्षात् दर्शन में ही होती है, और वह एक ऐसी स्थिति बयान की जाती है, जहां पुरुष को और कुछ जानना शेष नहीं रह जाता। इसलिये ज्ञान की पूर्णता में भी उसका उपयोग है ही। परन्तु ये सब पीछे की बातें हैं। केवल ईश्वर के अस्तित्व को समझने के लिये दूर जाने की आवश्यकता नहीं।

अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं, और पहिले भी थे, जिन्होंने ईश्वर के उस प्रकार के अस्तित्व को स्वीकार करने में सन्देह प्रकट किया है। उनका कहना है, कि ब्राह्मणों ने अपने निर्वाह के साधन, सम्पन्न करने के लिये ही इस प्रकार के ईश्वर के ढकोसले को खड़ा किया है, वस्तुतः यह कुछ नहीं, संसार अपने आप चलता रहता है।

संभव है, ब्राह्मणों अथवा उनके साथियों ने कोई ऐसे आडम्बर रच डाले हों, जिनसे उनकी जीविका के साधनों में कुछ सुविधा उत्पन्न की जा सकें। परन्तु ईश्वर के सम्बन्ध में ऐसी बात नहीं है। उसके सम्बन्ध की कोई घटना ब्राह्मणों को अथवा किसी को भी कोई विशेष सुविधा नहीं देती। वह तो सब के लिये समान वितरण है। इतिहास भी इस बात का साक्षी है, कि जिन व्यक्तियों को उस अनन्त-शक्ति की अनुभूति हुई है, वे सब ब्राह्मण ही नहीं थे। फिर कहने को कुछ भी कहा जा सकता है, हरड़ भी दस हाथ की देखी जा सकती है। परन्तु वास्तविक कथन वही है, जो परख पर पूरा उतरे। विश्व जगत की स्थिति को समझते हुए भी, यह कहना केवल कहना ही है, कि संसार स्वयं ऐसे ही चलता रहता है। वस्तुतः इस समस्या को सुलझाने का उन व्यक्तियों ने कभी सच्चा यत्न नहीं किया। और अपनी दुर्बलताओं को ही ईश्वर के अस्वीकार की दीवार का सहारा दिया है। आधिभौतिक जगत् के चकाचौंध में में दबे हुए, आपातरमणीय वासनाओं के दास, तत्त्वानुसन्धान के कष्टों की कल्पना से ही भीत व्यक्ति यदि ऐसा कहें, तो कुछ आश्चर्य नहीं। जीवन निर्वाह की सुविधाओं के लिये ईश्वर के नकार का बहुत ही सीधा मार्ग है, पर इन उक्तियों में कुछ सार नहीं। हम इतना ही कहना चाहते हैं, कि तत्त्व के खोजियों ने जगत् की स्थिति और व्यवस्थाओं को इतना स्पष्ट देख पाया है, कि ईश्वर के अस्तित्व के बिना यह सब सम्भव नहीं कहा कहा जा सकता। हम यत्न करने पर उसकी अनुभूति भी कर सकते हैं।

जीवात्मा का स्वरूप

(लेखक—आयुर्वेदाचार्य्य पं० शेरसिंह जी काश्यप)

जगत् में जितने पदार्थ दिखाई देते हैं, उनमें दो प्रकार के पदार्थ हैं; एक जड़, दूसरे चेतन। चेतन को ही जीवधारी अथवा मुदरिक भी कहते हैं। शरीरस्थ चेतन शक्ति से तो कोई मनुष्य इनकार नहीं करता; परन्तु विवाद केवल इस बात पर है कि यह सत्ता शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है या शरीर के साथ, पंच भूतों के मिलाप से ही बन जाती है? यदि शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है तो वह अनादि है अथवा किसी समय विशेष में बनी है?

क्या चेतनशक्ति तत्वों के मिलाप से आती है?

यदि तत्वों के मिलाप से चेतनशक्ति की उत्पत्ति मानें, तो तत्वों में चेतनता माननी पड़ेगी, क्योंकि

कारण के ही गुण कार्य में आते हैं। परमाणुओं में चेतनता हो तो सारा जगत् चेतन होना चाहिये, और कोई भी जड़ पदार्थ नहीं होना चाहिये; न सुषुप्ति और मृत्यु हो सकती है,—क्योंकि भूतों में चेतनता होने से प्रत्येक अवस्था में चेतनता बनी ही रहेगी।

यदि कहा जावे कि पाँच भूतों का तो यह गुण नहीं परन्तु उनके संयोग से चेतन शक्ति उत्पन्न हो जाती है,—तो अभाव से भाव मानना पड़ेगा जो कि सब बुद्धिमानों के स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध है। कोई भी वस्तु नास्ति से अस्ति में नहीं आती; जो शक्ति मूलभूत में नहीं है वह उस के संयोग में होती हुई किसी ने नहीं देखी। इसीलिये महाराज कपिल मुनि जी कहते हैं:—

"न भूतचैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः सांहत्येऽपिच" सांख्य० ५।१२६।

अर्थः—"अलग २ भूतों में चेतनता नहीं देखते, उनके मिलाप से भी उत्पन्न नहीं हो सकती।"

"नासदुत्पादो नृशृङ्गवत्।" सां० १।११४॥

अर्थः—"अभाव से भाव नहीं होता मनुष्य के सींग की तरह।"

"उपादाननियमात्"। सां० १।११५॥

अर्थः—"प्रत्येक वस्तु का उपादान नियत होने से" बिना उपादान के कोई वस्तु नहीं होती।

इन प्रमाणों से सिद्ध है कि न चेतन शक्ति अभाव से उत्पन्न हो सकती है और न भूतों का गुण है। फिर क्या स्वतन्त्र सत्ता है जो शरीर से भिन्न है?

इस के उत्तर में कपिल मुनि महाराज कहते हैं:—

"षष्ठीव्यपदेशादपि"। सां० ६।३॥

यह शरीर मेरा है, हाथ मेरा है इत्यादि व्यवहार से सिद्ध होता है कि, जीवात्मा शरीर से बिलकुल अलग है, जो शरीर के प्रत्येक अङ्ग को "मेरा" कह रहा है।

इसी प्रकार न्याय दर्शन में भी एक युक्ति दी गई है:—

"दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थ ग्रहणात्" न्याय ३।१।१॥

जिस वस्तु को आँखों ने देखा हो उस को छूकर कहते हैं कि जिसको मैंने देखा था उसी को त्वचा से स्पर्श किया है। इस से पता चलता है कि सब इन्द्रियों के विषयों को जानने वाला उनसे भिन्न एक जीवात्मा है, नहीं तो एक इन्द्रिय का ज्ञान दूसरी को न होने से मनुष्य को इस प्रकार ज्ञान नहीं हो सकता था।

इन कारणों से यह स्पष्ट सिद्ध हो गया कि जीवात्मा है और वह शरीर से भिन्न अपनी स्वतन्त्र सत्ता रखता है।

क्या वह ईश्वर का अंश है?

अब यह देखना है कि क्या जीवात्मा ईश्वर का अंश है अथवा क्या जीवात्मा का उपादान कारण परमात्मा है?। यह भी नहीं हो सकता; यदि ऐसा मान लिया जाय, तो ईश्वर के समस्त गुण जीवात्मा में होने चाहियें; परन्तु ईश्वर सर्वज्ञ; जीव अल्पज्ञ; ईश्वर आनन्दमय, जीवात्मा दुःख भोगता है; इत्यादि भेद स्पष्ट है। यदि कहें कि ब्रह्म ही अविद्या से बन्धन में आकर जीव बन जाता है तो यह बात भी युक्ति से शून्य है; सर्वज्ञ ब्रह्म में अविद्या का मानना अत्यन्त भ्रममूलक है। इस से जितने भी पाप कर्म

जीवात्मा करता है वे सब परमात्मा पर ही आरोपित होते हैं। इसलिये जीव ब्रह्म का अंश नहीं, और न ही ब्रह्म उसका उपादान कारण है।

जीवात्मा स्वतन्त्र अनादि सत्ता है।

जब कि जीवात्मा न परमाणुओं से बना सिद्ध होता है, न ईश्वर ही उसका उपादान कारण है; ईश्वर व प्रकृति के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु नहीं रह जाती जिस से जीवात्मा का बनना स्वीकार किया जा सके; सत्ता से कोई इनकार हो नहीं सकता; तब स्वत: सिद्ध हो गया कि वह अनादि सत्ता है।

जीव ईश्वर की आज्ञा नहीं है।

मुसलमान भाई यह भी कहते हैं कि जीवात्मा यदि किसी वस्तु से बना हुआ सिद्ध नहीं होता तो यह क्यों न मानलें कि वह "खुदा के हुक्म से है" यथा— (क़ुलिरूहमिन् अम्रे रब्बी)।

यदि इसका अभिप्राय यह लिया जाय कि खुदा के हुक्म से जीवात्मा शरीरों में जाता है,—तो कोई हानि नहीं, परन्तु (अदम में वजूद) अभाव से भाव यदि इसका अभिप्राय निकाला जाय तो ठीक नहीं है। क्यों अभाव से भाव असम्भव है। किसी दार्शनिक ने कहा—

"What ever is, shall be in future; and what ever is not, can never be."

जो वस्तु है वह भविष्य में अवश्य रहेगी और जो नहीं है वह कभी नहीं हो सकती अर्थात् जो वस्तु नहीं है—जिसका अभाव है उसका भाव कभी नहीं हो सकता।

पूर्व जन्म की याद क्यों नहीं रहती ?

कुछ भाइयों का कहना है कि यदि जीवात्मा अनादि है और वह सदा से शरीरों में जाता आता है,—तो उसे पूर्व जन्म की बात याद क्यों नहीं रहती ? याद नहीं रहती तो—यही क्यों न समझ लें कि इस जन्म से पूर्व नहीं था ?

इस के उत्तर में इतना ही कहना है कि पूर्वजन्म की स्मृति (याद) न रहने का कारण जीवात्मा की अल्पज्ञता है; जब हम इसी जन्म की अनेक बातें भूल जाते हैं; एक दिन की भी पूरी बातें जीवात्मा याद रखने में समर्थ नहीं, फिर पूर्वजन्म की स्मृति न रहने में क्या आश्चर्य हो सकता है ? परन्तु याद न रहने से यह समझना भूल है कि जीवात्मा था ही नहीं। मुझे दश वर्ष पूर्व की घटना याद नहीं रही तो इस का अर्थ यह नहीं हो सकता कि मैं दश वर्ष पूर्व था ही नहीं। स्मृति का होना तो सत्ता को सिद्ध करता है; परन्तु स्मृति का न रहना सत्ता के न होने का प्रमाण नहीं हो सकता है; हाँ अल्पज्ञता या स्मरणशक्ति की निर्बलता का ही द्योतक है।

पूर्व जन्म के संस्कार रहते हैं।

पूर्व जन्म की सब याद नहीं रहती,—फिर भी पूर्व जन्म के अभ्यास और संस्कार अवश्य रहते हैं। न्याय दर्शन में आया है:—

"पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात् जातस्य हर्षभयशोक सम्प्रतिपत्तेः"

पहले अभ्यास की स्मृति के सम्बन्ध से उत्पन्न हुए (बच्चे) को हर्ष, भय और शोक की प्राप्ति से (आत्मा नित्य) है।

तत्काल जन्मा बालक, जिसने इस जन्म में हर्ष, भय और शोक आदि हेतुओं का अनुभव नहीं किया है,—हँसता, डरता और रोता देखा जाता है, जोकि पूर्व जन्म के अभ्यास की स्मृति से ही हो सकता है। मौत के डर से प्रत्येक मनुष्य का काँपना बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य पहले मौत का दुःख भोग चुका है। उत्पन्न होते ही बालक का माता के कुचों से दूध पीने लगना पूर्वाभ्यास के सिवा क्या है? पूर्व स्मृति का बोध होने से आशा है कि अब हमारे भाई पूर्व जन्म और पूर्व से जीवात्मा की सत्ता से इनकार नहीं करेंगे।

जीवात्मा द्रव्य है वा गुण ?

ज्ञान और प्रयत्न ये दो गुण जीवात्मा में सर्वत्र पाये जाते हैं, इसी से ये उसके स्वाभाविक गुण हैं; जिसमें गुण हों वह "द्रव्य" कहाता है। इस लिये जीवात्मा द्रव्य है।

इच्छा, द्वेष, सुख दुःख इत्यादि गुण शरीर के निमित्त से जीव में होते हैं। जन्म से ही किसी का अन्धा, किसी का लँगड़ा और किसी का अच्छा उत्पन्न होना,—यह भेद बताता है कि परमात्मा ने किसी कारण वश किया है क्योंकि परमात्मा अकारण किसी को दुःख नहीं देता; इसलिये यह भेद जीवात्मा के पूर्वकृत कर्मों के कारण से है। सब आर्य शास्त्र इसका समर्थन करते हैं। मुसलमानों के प्रसिद्ध पुस्तक कुरान में भी लिखा है:—

"वले कुल्ले दरजातुम्मिम्मा अमिलु" कुरान पारा ८ सू० इनआम

"हर किसी को दर्जे हैं अमल के"।

इस प्रकार जीवात्मा द्रव्य है; कर्मों का कर्त्ता और भोक्ता है; और अमर प्रभु क अमर जा है।

वेदों के प्रमाण

अब अपने पक्ष की पुष्टि में कुछ वैदिक प्रमाण भी लीजिये—

(१) वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्त ँ शरीरम्।

ओ३म् क्रतोस्मर क्लिवेस्मर कृत ँ स्मर ॥ यजु० ४०।१७॥

भावार्थ—शरीरों में आने जाने वाला जीव अमर, और यह शरीर भस्म पर्यन्त है। इसलिये हे जीव! ओम् का स्मरण कर।

(२) अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।

जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः॥ ऋग्वेद म० १ सू० १६४ मं० ३०

अर्थ—(अनत्) श्वास लेता हुआ (एजत्) गतिमान् (तुरगातु) शीघ्रगामी (जीवम्) जीवन चेतना युक्त (आ पस्त्यानाम्) शरीरों के (मध्ये) बीच में (ध्रुव) स्थिरता से (शये) निवास करता है, (मृतस्य) मृत प्राणी का (अमर्त्यो जीवो) वह अमर जीव (मर्त्येन स्वधाभिः) अनित्य प्रकृतिभाव कर्म-वासना के साथ (सयोनिः चरति) अन्य शरीरों के साथ विचरता है।

(३) यजुर्वेद अ० ४० मं० ८ में जीवों को प्रभु की "शाश्वती प्रजा" कहा है; जोकि परमात्मा की महत्ता के कारण सदा प्रेमी प्रजा बनी रही है।

(४) ऋग्वेद म०. १ सूक्त १६४ मं० २० में "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" इत्यादि मन्त्र में जीव और परमात्मा "सयुजा सखाया" सदा साथ रहने वाले प्रेमी बताते हुए जीव को संसार की वस्तुओं का भोक्ता और परमात्मा को अलग रहने वाला बताया गया है।

इन प्रमाणों से भी सिद्ध है कि जीवात्मा अनादि, अमर और अजर है, आवागमन में आता जाता है, चेतन है, दुःख सुख का भोक्ता है और यह परमात्मा की प्रजास्वरूप है।

बाइबिल और कुर्आन से भी इस की ही पुष्टि होती है

(१) बाइबिल उत्पत्ति की पुस्तक पर्व २ आयत ७—८:—

"तब परमेश्वर ने भूमि की धूलि से आदम को बनाया और उसके नथनों में जीवन का श्वास फूँका और आदम जीवता प्राण हुवा।"

(२) उत्पत्ति की पुस्तक पर्व १ आयत २६,२७:—

"तब ईश्वर ने आदम को अपने स्वरूप पर बनाया।"

इन वचनों में जीवात्मा के बनने का ज़िक्र नहीं और न धूलि में यह शक्ति बताई गई, किन्तु जीवन के डालने या फूँकने का चर्चा सिद्ध करता है कि जीव पहले से था। अपने स्वरूप पर बनाने का भी यही अभिप्राय प्रतीत होता है कि जैसे ईश्वर चेतन अनादि और न नष्ट होने वाला है, ऐसा ही आदम के शरीर में प्रविष्ट होने वाला जीव था।

(१) कुर्आन पारा १४ सूरत हज़र में लिखा है:—

"इज़ क़ाल रब्बुक लिल् मलायिकते इन्नी खालिक़ुम्बशरन् मिन्त्वीन। फ़इज़ा सवा-यतुं व नफ़ख्तो फ़ीहे मिरूही।"

अर्थ—"जब कहा तेरे रब ने फ़िरिश्तों को—मैं बनाने वाला हूँ एक आदमी खनखनाते गारे से,—फिर जब करूँ ठीक उसको, और फूँक दूँ उसमें अपनी रूह से, (रूहों में से) तो गिर पड़ियो सिजदे में।"

ख़ुदा का अपनी "रूह" या "जान" डालना बताता है कि वह नष्ट होने वाली जान न थी; ख़ुदा की जान नष्ट नहीं हो सकती। और न उत्पन्न हो सकती है; यहाँ भी जीव का उत्पन्न होना नहीं बताया; उसकी रूहें मौजूद थीं उनमें से कोई रूह डाली यही तात्पर्य हो सकता है। 'अपनी' से अभिप्राय अपनी मिलकीयत अथवा चैतन्यादि गुणों की समानता है।

उपर्युक्त अभिप्राय हम खींचातानी से नहीं लेते किन्तु बहुत से मुस्लिम विद्वान हमारे साथ हैं।

मुसलमान विद्वानों की साक्षी

(१) मौलाना मिर्ज़ा हैरत साहब देहलवी अपनी "तफ़सीरुलकुर्आन्" की भूमिका के पृष्ठ २३४ पर "बाबुलरूह" (जीवात्मा के बयान) में लिखते हैं:—

"ठीक बना चुकूँ और फूँकूँ उसमें अपनी रूह तो गिर पड़ो उस के आगे सिजदे में"—(यहाँ) "रूही" का शब्द स्पष्ट साक्षी देता है कि ख़ुद अल्लाह ताला ने अपनी रूह इन्सान में फूँकी, फिर क्योंकर ख़याल हो सकता है कि हम ख़ुदा की रूह को फ़ानी और हादिस (उत्पन्न होने और मरने वाली) कहें। इसलाम का हरगिज यह मन्शा (अभिप्राय) नहीं है। बल्कि रूह को क़दीम (अनादि और अनन्त) न कहने पर कुफ़्र लाज़िम आता है। आम मुफ़स्सिर इस ग़लती में से नहीं निकले ...... 'रूह' को फ़ानी (नष्ट होने वाली) या हादिस (बनने वाली) मानना ख़ुदा को फ़ानी या हादिस मानना है।"

(२) हज़रत इमाम ग़िज़ाली की सम्मति "रिसालये अल नज़र," में दर्ज है कि—

"रूह कोई जिस्म नहीं कि बदन में इस तरह चली जावे—जैसे पानी बर्त्तन में और न अर्ज़ (गुण) है, यानी ऐसी चीज़ नहीं जो कि दूसरे के साथ क़ायम (आश्रित) हो, और दिल व दिमाग़ में ऐसी घुस गई हो जैसे काली चीज़ में कालापन, या आलिम (विद्वान्) में इल्म (ज्ञान),—बल्कि वह जौहर है (द्रव्य है) यानी आप अपने आप में कायम है।"

इसी प्रकार शमसुल उलमा शिबली नैमानी, मौलाना अब्दुलहक़ साहब हक्कानी इत्यादि अनेक विद्वान् इस सचाई को खुले शब्दों में स्वीकार करते हैं।

सारांश

सारांश यह है कि—जीवात्मा शरीर से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता है; वह अमर प्रभु की अमर प्रजा है; द्रव्य है, अणु है, चेतन है, कर्मों का कर्त्ता तथा भोक्ता है, वह नित्य है परन्तु अल्पज्ञ और अल्प शक्ति होने से प्रभु की कृपा का मोहताज रहता है, उसी के सहारे से शुभ कर्म और उच्च ज्ञान द्वारा मुक्ति आदि सद्गति प्राप्त करता है और उससे विमुख होकर दुष्ट कर्म वा अज्ञान वश नीच योनियों में दुःख भोगता है। यही वेद आदि शास्त्रों की सम्मति है और यही अन्य मतों की भी साक्षी है। इति

"जो इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख और ज्ञानादि गुणयुक्त, अल्पज्ञ, नित्य है उसी को 'जीव' मानता हूँ।"—महर्षि दयानन्द।

जीव का परिमाण

एक कहानी

[आचार्य स्वामी आत्मानन्द जी महाराज]

विश्वानिदेव सवितर्दुरितानि परासुव यद्भद्रन्तन्न आसुव।

एक दिन मित्रमण्डल में बैठे हुए ज्ञानानन्द सोचने लगा कि बहुत दिन हुए तत्व ज्ञानी विद्वानों का उपदेश नहीं सुना। संसार के धन्धे तो समाप्त न होंगे, कुछ अपने उद्धार का भी यत्न करना चाहिये। उसने साथियों में अपना प्रस्ताव रक्खा और स्वीकृत हो गया। जहां ज्ञानानन्द जाना चाहता था वह स्थान लगभग ५० मील दूर था। दूसरे दिन सब वहां जा पहुंचे।

ज्ञानानन्द—मित्रगण, देखिये—यह सामने ही घना वन है। यहां स्थान २ पर कैसी सुन्दर प्राकृतिक पुष्प वाटिकाएं लगी हुई हैं। इनमें खिले हुए फलों की सुगन्धि, मन्द और शीतल वायु के साथ मिलकर, मस्तिष्क के सूक्ष्म नाड़ी तन्तुओं को तृप्त करती हुई कैसा विश्राम दे रही है। स्थान २ पर झरनों से गिरता हुआ मधुर शीतल जल, अपनी मधुर ध्वनि से मार्ग से जाते हुए प्यासे यात्रियों को निमन्त्रण दे देकर बुला रहा है। एक ओर मयूर आदि पक्षियों के मनोहर कलरव अपना माधुर्य आस्वादित करने के लिये लालायित कर रहे हैं, और दूसरी ओर हाथियों की चिंघाड़ें तथा सिंहों की गर्जनाएं अपनी भयङ्करता का अभिनय कर हृदयों को कांप उठने के लिये विवश कर रही हैं। इस वन का नाम नैमिष है। आप चारों ओर दृष्टिपात कर देखिये इसमें स्थान २ पर तत्ववेत्ता महर्षियों की कुटियाएं हैं। ये लोग सब ही बड़े सदाचारी, तपस्वी, योगी और भिन्न २ विषयों के महाविद्वान् हैं।

इस वन में, वेद, वेदाङ्ग, धर्मशास्त्र, राजनीति, आयुर्वेद, धनुर्वेद आदि भिन्न २ विषयों के अनेक

विद्यालय हैं। ये सब विद्यालय इन्हीं पूज्य महर्षियों की छत्रच्छाया में चल रहे हैं। इन लोगों को इन विद्यालयों को चलाने के लिये धन सम्बन्धी किसी प्रकार की चिन्ता नहीं करनी पड़ती। राजा और धनिक लोग स्वयं ही इनके लिये इतना धन दे जाते हैं कि कई बार इन्हें, अधिक हो जाने कारण कितनी ही धन राशियें लौटानी पड़ती हैं। और फिर अनुचित कमाई का धन तो ये कभी ग्रहण करते ही नहीं।

भारतवर्ष के लोग शिक्षा दीक्षा के लिये अपनी सन्तान को ऐसे ही विरक्त महापुरुषों के पवित्र हाथों में सौंपते हैं और ऐसे ही विशुद्ध वायुमण्डल में उनके ब्रह्मचर्यकाल का निवास उचित समझते हैं।

यहां धनिक और निर्धन सब के लिये, भोजन आच्छादन, अध्ययन, रहन सहन आदि का समान ही प्रबन्ध है। यहां के विद्यार्थियों को घूंटी में ही व्यवहार के रूप में साम्यवाद का मनोरञ्जक पाठ पढ़ाया जा रहा है। ये लोग शिक्षण व्यवस्था के लिये अपने पास से व्यय नहीं कर सकते। ऐसी बात नहीं है। इनके पितृवर्ग इनके व्यय से भी कहीं अधिक धन स्वयं ही विद्यालयों के अर्पण कर जाते हैं। परन्तु इन्हें जाति के धन पर शिक्षित करने की भावना इसलिये दी जा रही है, कि ये साम्यवाद के रंग में रंगे जावें और अपने आपको जाति की विभूति समझें।

यह देखिये सामने एक विशाल सभाभूमि है। इसका यह कोमल हरा घास मखमल के भी दांत खट्टे कर रहा है। पूर्णिमा, अमावस, और अष्टमी को प्रति सप्ताह यहां इन लोगों की सभा लगती है। इसमें ऋषियों के प्रवचन तथा विभिन्न विषयों पर विचार होते हैं। इन सब ही विद्यालयों के अध्यापक तथा छात्र इस दिन यहां उपस्थित होते हैं। नगरों के भी बहुत से सज्जन इस दिन यहां इनके विचार सुनने के लिये आजाया करते हैं। आज सभा के अधिवेशन का दिन है। आइये, आज हम भी इस मनोहर दृश्य को देखें और महर्षियों के पवित्र विचारों से अपने आत्मा को तृप्त करें।

देखिये यह सभामण्डल है। सभा के आह्वान के लिये घण्टी बज गई। कुटियाओं तथा विद्यालयों से निकल २ कर वनवासी सभा में पधार रहे हैं बस हम भी आज इस सारे ही कार्यक्रम को देखेंगे। देखिये नगरों के महानुभाव भी पहुँच गए। सब लोग बैठ रहे हैं, आइये हम भी बैठ जावें। सभा के प्रधान मन्त्री महात्मा आत्मबोध जी सभा की कार्यवाही को आरम्भ करने के लिये आरम्भिक भाषण करने लगे हैं।

आत्मबोध—मान्य महर्षिगण! विद्वन्मण्डल! ब्रह्मचारीगण! तथा आगन्तुक महोदयवर्ग! आप सब का प्रेमपूर्व स्वागत करता हुआ मैं श्री प्रधान जी की आज्ञा से आज के कार्यक्रम को आरम्भ करता हूँ। तथा आप सब के परिचय के लिये निवेदन किये देता हूँ कि आज के विचार का विषय है— "जीवात्मा का परिमाण"।

यह मान लिया गया है कि, शरीर, इन्द्रिय, प्राण और अन्तःकरण इस सारे ही अध्यात्म जगत् से चैतन्य तत्व आत्मा भिन्न है। अब विचार यह प्रस्तुत है कि वह आत्मा, इस शरीर के किसी एक भाग में रहता है, इस सम्पूर्ण में ही फैला हुआ है, अथवा इसके अन्दर व्यापक होता हुआ बाहर के आकाश में भी विस्तृत होता हुआ व्यापक है।

आज हम सब लोग इस विचार में भाग ले रहे हैं। यह वाद-कथा है। इस कथा में विजय पराजय के विचार को दूर कर किसी पर किसी प्रकार का आक्षेप न करते हुए प्रेमपूर्वक अपने २ विषय को उपस्थित करना चाहिये। सब से पहिले मैं श्री महात्मा विभुबोध जी से प्रेमपूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विषय पर अपने विचार प्रकट करने की कृपा करें।

वि० बो०—उपस्थित भद्र पुरुषो ! क्या आप जानते हैं कि आप कौन हैं ? मैं समझता हूँ कि आप में से कुछ सज्जन यह जानते होंगे। परन्तु बहुत से महानुभाव तो छाती पर हाथ रख कर और अपना नाम लेकर यह उठेंगे कि मैं अमुक हूं। आपको यह समझ रखना चाहिये कि आपने अपने शरीर को हाथ लगाया है और आप शरीर नहीं हैं। यदि आप शरीर होते तो यह कभी न कहा करते कि यह मेरा शरीर है। निश्चय ही आप वह शक्ति हैं कि जो शरीर को मेरा कहा करती है और इसी का नाम चैतन्य शक्ति, आत्मा अथवा जीव है।

आप हाथ उठाते हैं, पैर चलाते हैं, पलक झबकते हैं और शिर हिलाते हैं। यदि आप इन सारे अङ्गों में व्यापक न होते तो क्या इनका सञ्चालन कर सकते ? आपने बहुत सी घटनाएं ऐसी सुनी होंगी जो दूर देशों में घटी हैं। और उनके सम्बन्धियों को सैंकड़ों कोसों पर यहां ही बैठे हुए बिना बाहर के साधन के उनका अनुभव हो गया। मैं ऐसी बहुत सी घटनाओं को जानता हू।

किसी का पिता विदेश में संकट में पड़ा है अथवा मृत्यु का ग्रास बन गया है। और पुत्र को यहां बैठे २ ही उसके उस सङ्कट अथवा मृत्यु की चिन्ता सताने लगी है। क्या आप यह मान सकते हैं कि पुत्र का आत्मा यदि इस शरीर तक ही सीमित होता, तो यहां बैठा २ ही वह सैंकड़ों कोस दूर की इस घटना का अनुभव कर लेता ? मैं कहूंगा कि कदापि नहीं। क्योंकि पिता की वेदना की झलक पुत्र की आत्मा में पड़ने के लिये कोई वैज्ञानिक सम्बन्ध चाहिये। उन दोनों के आत्माओं का संसर्ग परस्पर होना चाहिये। और उन दोनों के सम्बन्ध का इसके अतिरिक्त और कोई साधन नहीं कि उन्हें शरीर के बाहर आकाश में भी व्यापक माना जावे।

मध्यमबोध—महात्मा जी कण्ट्रोल का समय है। इन छोटी २ आत्माओं को खाने को मिलता नहीं; आपकी इन इतनी बड़ी आत्माओं को कहां से मिलेगा।

वि० बो०—मित्रवर ! खाने वाले तो शरीर हैं। और मैं इन्हें व्यापक बतला नहीं रहा। मैं तो उन आत्माओं को व्यापक कह रहा हूं जिनको खाने पीने की कोई आवश्यकता नहीं।

म० बो०—अच्छा सुनिये, आप प्रत्येक शरीर के आत्मा को व्यापक कह रहे हैं न ?

वि० बो०—हां अवश्य।

म० बो०—तो कृपया यह बतलाने का कष्ट कीजिये कि यदि प्रत्येक आत्मा व्यापक है, तो जिस प्रकार पिता के आत्मा को पहुंचे आघात की वेदना पुत्र के आत्मा को सुन पड़ी, इस प्रकार व्यापक होने के कारण एक साथ मिले हुए सब आत्माओं की वेदनाओं का अनुभव सब को क्यों नहीं होता।

वि० बो०—जो जिसका निकट सम्बन्धी है अथवा जिसका जिसके साथ अधिक स्नेह है उसकी वेदना का अनुभव उसे होता है दूसरे की वेदना का दूसरे को नहीं।

म० बो०—क्यों ? इसके लिये कोई वैज्ञानिक कारण बतलाइये। संसर्ग तो सब का सब कालों में समान है।

और पुत्र आदि की आत्माओं को भी कभी, और किन्हीं ही घटनाओं का अनुभव होता है, सदा सब का क्यों नहीं।

और सुनिये, अपने २ शरीर में सीमित रहने की दशा में तो एक दूसरे की भावनाएं एक दूसरे से छिपी रह सकती हैं, परन्तु व्यापक होने की अवस्था में एक दूसरे के भेद एक दूसरे पर क्यों

नहीं खुले जाते, जब कि सारे ही आत्मा सूक्ष्म हैं, और व्यापक होने के कारण एक दूसरे में ओतप्रोत हैं।

कृपया इस शङ्का का भी समाधान कीजिये कि व्यापक आत्मा का ज्ञान अल्प क्यों? क्योंकि गुणी का गुण भी उसके सारे आधार में व्यापक होने के कारण व्यापक ही होना चाहिये। और यदि हां, तो कहिये परमात्मा और जीवात्मा में अब क्या भेद रहा?

वि० बो०—महात्मन्! संयोग सम्बन्ध की यह शक्ति नहीं कि एक दूसरे के गुणों को एक दूसरे में प्रविष्ट कर सके। देखिये आकाश, वायु, अग्नि आदि का परस्पर संयोग है, परन्तु उनमें से एक दूसरे के गुण किसी दूसरे में प्रविष्ट नहीं होते।

म० बो०—मान्यवर! देखने में तो इसके विपरीत आता है, देखिये अग्नि की गर्मी से वायु गरम और जल की ठण्डक से ठण्डा हो जाता है।

वि० बो०—महात्मन्, प्रत्यक्ष में ऐसा ही प्रतीत होता है। परन्तु वस्तुतः अग्नि की गर्मी और जल की ठण्डक वायु में नहीं गई। वायु में थोड़ी मात्रा में जल और अग्नि तत्व भी हैं। परन्तु यहां वायु तत्व की प्रधानता होने से इसके स्पर्श के प्रभाव में उन दोनों के स्पर्श दबे रहते हैं। वायु के साथ अग्नि और जल का संयोग हो जाने से उनके स्पर्श का उत्कृष्ट प्रभाव वायु के स्पर्श को निर्बल कर देता है और वायु के स्पर्श से दबे हुए उनके स्पर्श वायु में से ही प्रकट हो जाते हैं। अग्नि अथवा जल तत्व का संयोग हट जाने पर वे फिर उसी प्रकार वायु के स्पर्श से दबा दिये जाते हैं।

म० बो०—मान्यवर! वायु के स्पर्श पर अग्नि और जल के स्पर्श का प्रभाव भी तो उन दोनों के अधिक निकट होने पर ही पड़ेगा। और इसे ही एक दूसरे के अन्दर एक दूसरे के गुण का प्रवेश कहते हैं। यह दूसरी बात है कि वायु अग्नि आदि सावयव पदार्थों के अवयव एक दूसरे में प्रविष्ट होकर उनके गुणों को अपने गुणों से प्रभावित कर देते हैं और सूक्ष्म पदार्थों में अवयव न होने से उनका प्रवेश इस प्रकार का न होगा जैसा कि इनका। निरवयव पदार्थों के लिये तो हमें यही नियम मानना पड़ेगा कि सूक्ष्म वस्तुएं भी एक दूसरे में इसलिये प्रविष्ट होजाती हैं कि वे स्थान नहीं घेरतीं। अन्यथा सर्वसम्मत ईश्वर का जीव में प्रवेश असम्भव हो जावेगा।

वि० बो०—महात्मन्, ईश्वर जीव से भी सूक्ष्म है, और सूक्ष्म का प्रवेश स्थूल में हो जाया करता है, अतः ईश्वर का प्रवेश जीव में सम्भव है।

म० बो०—कैसे भगवन्! कोई युक्ति बतलाइये। मैं फिर कहता हूं कि इस व्यवस्था के लिये आप को यह मानना पड़ेगा कि सूक्ष्म वस्तुएं स्थान नहीं घेरतीं। और यह मान लेने पर अब ईश्वर का जीव में और प्रलय में जीव का ईश्वर में प्रवेश सम्भव हो सकेगा। और यदि बातऐसी है तो सूक्ष्म होने और स्थान न घेरने के कारण व्यापक आत्मा भी एक दूसरे में प्रविष्ट हुए २ ही व्यापक कहे जासकेंगे। और यदि यह ठीक है तो "सब आत्माओं पर सब आत्माओं के भेद प्रकट हो जाने चाहियें" यह हमारी शङ्का अब भी आप से उत्तर मांगने के लिये खड़ी है।

वि० बो०—महात्मन्। शरीर से बाहर आकाश मण्डल में फैले हुए आत्मा एक दूसरे के गुणों का अनुभव नहीं कर सकते, क्योंकि वहां साधन नहीं हैं। आत्मा के गुणों का अनुभव करने के लिये आत्मा के साधन अन्तःकरण का होना आवश्यक है, और वह शरीर से बाहर काम नहीं

कर सकता, अतः बाहर के आकाश में फैले हुए भी आत्मा एक दूसरे का भेद नहीं जान सकते।

म० बो०—और पुत्र की आत्मा ने सैकड़ों कोसों पर बैठे हुए पिता के संकट का अनुभव कैसे कर लिया ? वहां भी तो अनुभव करने वाली आत्मा और है और संकट में पड़ी हुई आत्मा और।

वि० बो०—पुत्र को पिता सङ्कट का अनुभव बाहर के आकाश में नहीं हुआ। उसके अपने शरीर में भी तो पिता का आत्मा व्यापक होने से वर्तमान ही है और यहां अन्तःकरण है, ही अतः अनुभव होजाता है।

म० बो०—अपने ठीक कहा। बस इसी प्रकार भी अन्य आत्माओं को अपने शरीर के अन्दर के आकाश में ही होजाना चाहिये, क्योंकि वहां भी वे आत्मा व्यापक ही हैं, और अन्तःकरण भी वहां है ही। और जब अनुभव की सब सामग्री विद्यमान हैं तो एक दूसरे के भेद एक दूसरे पर प्रकट होजाने चाहियें।

आत्मबोध—महात्मन् ! प्रधान जी की घण्टी बजगई। महात्मा विभुबोध जी के साथ वार्तालाप का समय समाप्त हो गया। अब महात्मा मध्यमबोध जी के साथ महात्मा अणुबोध जी का विचार विनिमय होगा। मैं महात्मा अणुबोध जी से प्रार्थना करता हूं कि वे अपने विचार प्रस्तुत करें।

अ० बो०—(मन में) आश्चर्य की बात है कुछ समझ में नहीं आता; वेदों में कहीं भी जीव के विभुपरिमाण का नाम तक नहीं मिलता, और इसके विपरीत इस के अणु परिमाण वर्णन करने वाले अनेक मन्त्र मिलते हैं। वेद ही भारतीय धर्मशास्त्र, ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा दर्शनों के प्राण हैं। और सब के परतःप्रमाण होते हुए वेद ही स्वतःप्रमाण सब शास्त्रों में माने गये हैं, फिर भी न जाने जीव का विभुवाद किस समय किस प्रकार चल पड़ा। इस के सिवाय समझ में कुछ नहीं आता कि वेद भूल जाने का यह परिणाम हो। उपनिषदों में भी जीव के परिमाण को अनेकों स्थलों पर अणु ही कहा गया है। जो लोग उपनिषदों से विभुवाद को सिद्ध करते हैं, वे भी केवल प्रतीयमान अभेदवाद की झलक से ऐसा करने लगे प्रतीत होते हैं। अन्यथा जीव के साक्षात् विभु परिमाण को इस प्रकार प्रकार प्रकट करने वाला उपनिषदों में भी कोई वाक्य नहीं, जिस प्रकार कि अणु परिमाण को प्रकट करने वाले अनेकों वाक्य हैं।

सूत्रकार ऋषियों के सूत्रों में भी जब उन्हें गम्भीर दृष्टि से विचारा जाता है तो जीव के विभु परिमाण की सिद्धि होती दिखाई नहीं देती। हाँ इसमें कोई संदेह नहीं कि भाष्यकारों ने बहुधा जीव के विभु परिमाण को ही प्रकट करने की चेष्टा की है। ऐसा प्रतीत होता है कि बीच में ऐसा कोई युग आया होगा, जब कि भाष्यकारों ने किसी विशेष परिस्थिति के वश इस परिमाण का प्रदर्शन करना आरम्भ किया होगा। एक सांख्य दर्शन को ही जब देखता हूँ तो इसी में इस परिमाण के विषय में कालभेद से दो प्रकार की व्यवस्थाएँ पाता हूँ। महर्षि पञ्चशिखाचार्य के समय में सांख्यशास्त्र में जीव के अणु परिमाण का ही वर्णन मिलता है, उनके लिखे हुए इक्कीस सूत्रों में से चौदहवाँ सूत्र "तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्सम्प्रजानीते" (उस अणु परिमाण वाले अपने आप को जानकर मैं हूं ऐसा बोध करता है) जीव के अणु परिमाण का ही बोधक हैं। परन्तु वाचस्पति मिश्र तथा विज्ञानभिक्षु आदि टीकाकारों के समय में उसी सांख्य शास्त्र में जीव के विभु परिमाण का उल्लेख किया गया दृष्टिगोचर होता है। और पञ्चशिखाचार्य के इस सूत्र में आए हुए अणु शब्द को भी(जो कि मात्रा शब्द के सहयोग

के कारण परिमाण के अतिरिक्त और किसी अर्थ का प्रतिपादक हो ही नहीं सकता) खींच तान कर, और मात्रा शब्द की महत्ता को सर्वथा भुला कर, सूक्ष्म अर्थ में लेते हुए विभु परिमाण की ही पुष्टि का यत्न दृष्टिगोचर होता है।

भगवान् बुद्ध के काल में भी सांख्यशास्त्र में जीव का अणु परिमाण ही माना जाता रहा है ऐसा प्रतीत होता है। क्योंकि अश्वघोष ने अपने लिखे हुए बुद्ध चरित के बारहवें सर्ग में लिखा है कि, अराड कलाम ने भगवान् बुद्ध को सांख्य मत का उपदेश देते हुए कहा—

क्षेत्रज्ञ इति चात्मानं कथयन्त्यात्मचिन्तकाः" १२ । २०

ततो मुञ्जादिषीकेव शकुनिः पञ्जरादिव । क्षेत्रज्ञो निःसृतो देहान्मुक्त इत्यभिधीयते"१२।६४

(आत्मचिंतक लोग आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहते हैं। जिस प्रकार मुञ्ज से सींक और पिंजरे से पक्षी निकलने पर मुक्त कहलाता है, इसी प्रकार शरीर से निकला हुआ "क्षेत्रज्ञ" अर्थात् आत्मा मुक्त कहलाता है) *। इन श्लोकों के दृष्टान्तों के अनुसार जीव का देह से निकल अलग हो जाना, जीव के अणु परिमाण को स्पष्ट सिद्ध कर रहा है। इस प्रकार भगवान् बुद्ध के समय में भी सांख्यमत में जीव के अणु परिमाण का ही उल्लेख पाते हैं।

इस प्रकार इस सारी ऐतिहासिक दृष्टि को भी हम अपने उस विचार को पुष्ट करने का साधन देख रहे हैं कि भाष्यकारों के काल में जीव के परिमाण को किसी कारण से विभु मानने की कुछ प्रथा सी चल गई होगी। जिससे कि उन्होंने सूत्रों के भावों को उसी ओर ले जाने की चेष्टा की होगी। इसमें कारण वेदों का अज्ञान और उपनिषदों का अन्यथाज्ञान हो या कोई और, यह भगवान् जानें। अस्तु जो कुछ भी हो, आज के विचार विनिमय में हमारे लिये केवल अपने कथन को युक्तिवाद तक ही सीमित रखने का आदेश दिया गया है। अन्यथा परिमाणवाद का आश्रय ले हम इस विषय का भली भांति स्पष्टीकरण कर सकते हैं।

(प्रकट) भगवन् ! मध्यम बोध महोदय ! मैं अपने किसी कथन से पहले आपके विचारों से भली-भांति परिचित हो जाना चाहता हूँ। आप जीवात्मा का परिमाण अणु अथवा विभु न मानकर मध्यम मानते हैं। क्या आप यह बतलाने की कृपा करेंगे कि आपके इस मध्यम शब्द का क्या तात्पर्य है ? क्योंकि अणु और विभु के बीच के सब परिमाणों को मध्यम कहते हैं। अतः मध्यम का अर्थ सहस्रों कोस लम्बा चौड़ा भी किया जा सकता है और एक द्व्यणुक जितना छोटा सा भी।

म० बो०—शरीर जितना बड़ा।

अ० बो०—कौन से शरीर जितना ? मनुष्य के शरीर जितना !

म० बो०—जी हां।

अ० बो०—ठीक है। परन्तु आप पुनर्जन्म के मानने वाले हैं। अतः कृपया यह भी बतलाइये कि जब यह चींटी के शरीर में जावेगा, तब इसका परिमाण कितना होगा ?

म० बो०—चींटी के शरीर जितना।

---

* अश्वघोष के इस वचन की सूचना 'विरजानन्द वैदिकसंस्थान' लाहौर के विद्वान् पं०

अ० बो०—और जब हाथी के शरीर में जावेगा तब ?

म० बो०—तब हाथी के शरीर जितना होगा।

अ० बो०—महात्मन् ! आप के इन उत्तरों से तो यह सिद्ध होता है कि आत्मा सिकुड़ने और फैलने वाला है।

म० बो०—जी हां, शरीर के प्रतिबन्ध के कारण ऐसा हुआ करता है। जैसे कि छोटी कोठड़ी के अन्दर जलते हुए दीपक का प्रकाश उस कोठड़ी तक ही सीमित होता है और बड़े कमरे में रख देने पर उसी दीपक का प्रकाश सारे कमरे में फैल जाता है।

अणु बो०—महात्मन् ! मैंने आप का सिद्धान्त समझ लिया। अब मैं विनम्र निवेदन करता हूँ कि मैं आप के इस विचार से सहमत नहीं हो सका। क्योंकि जिस प्रकार दीपक के भौतिक प्रकाश को मकान की भौतिक दीवारें रोक कर संकुचित कर देती है, उसी प्रकार शरीर रूपी मकान की दीवारें आत्मा के स्वरूप को रोक कर संकुचित नहीं कर सकती। भेद यह ही है कि वहां दीपक का प्रकाश भी भौतिक था और दीवारें भी। भौतिक से भौतिक का प्रतिबन्ध सम्भव था। परन्तु यहां दार्ष्टान्त में तो शरीर भौतिक है और और आत्मा अभौतिक। अतः अभौतिक सूक्ष्म आत्मा शरीर की दीवार को पार कर बाहर निकल जावेगा उससे रोका नहीं जा सकता। दृष्टान्त की दूसरी विषमता यह है कि यहां आप दीपक के प्रकाश का विस्तार मकान में मानते हैं दीपक का नहीं और वहां आत्मा के प्रकाश को नहीं आत्मा को ही शरीर में व्यापक मानते हैं। वहां प्रकाश के सिकुड़ने से प्रकाश सिकुड़ता है दीपक नहीं और यहां आत्मा के स्वयं ही शरीर में व्यापक होने से आत्मा को ही शरीर में फैलने और सिकुड़ने वाला मानना पड़ेगा।

अस्तु अब हम आप के इस सिकुड़ने और फैलने को भी विस्तार से समझना चाहते हैं। सिकुड़ने तथा फैलने वाली रबड़ आदि वस्तुओं में ऐसा देखा गया है कि उनके अवयव सिकुड़ने के समय आपस में सट जाते हैं और फैलने के समय अपने बीच में कुछ अवकाश देकर खुल जाते हैं। जीव को भी यदि सावयव पदार्थ मान लें तो उसमें भी इसी प्रकार सिकुड़ने और फैलने की व्यवस्था मानी जा सकती है। परन्तु आपत्ति यह होगी कि सावयव मानने पर उसे विनाशी मानना पड़ जावेगा। परन्तु मानते आप भी उसे नित्य ही हैं। अतः यह सङ्गति यहां बैठती नहीं।

इसी सम्बन्ध में मैं आप से यह भी जानता जाहता हूँ कि आप के मत में आत्मा का स्वाभाविक परिमाण क्या है ? क्योंकि इन शरीरों में तो वह निमित्त से सिकुड़ता तथा फैलता रहता अतः ये सब परिमाण तो नैमित्तिक हैं, स्वाभाविक नहीं।

म० बो०—जो परिमाण इसका अन्तिम शरीर में मुक्ति के समय होगा वही इसका स्वाभाविक परिमाण है।

अ० बो०—वह परिमाण इसमें आज तक कभी रहा है या नहीं।

म० बो०—नहीं।

अ० बो०—महात्मन् ! तब तो इसके उस अन्तिम परिणाम को स्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

म० बो०—क्यों ?

अ० बो०—इस लिये कि जिस वस्तु का जो स्वभाव होता है वह पहिले और पीछे सदा उसके साथ होता है। बीच में किसी निमित्त के आ जाने से वह छिप जाया करता है और उस निमित्त हट जाने पर फिर उसी प्रकार प्रकाश में आ जाया करता है। जैसे कि जल का स्वभाव शीतल है। कभी उसके साथ अग्नि का संयोग हो जाने पर अग्नि की गर्मी से शीतलता छिप जाया करती है, परन्तु उसके दूर होते ही फिर जल अपने शीतल स्वभाव में ही आ जाया करता है। अत: किसी वस्तु के स्वभाव को उसके साथ निमित्त का सम्बन्ध होने से पहिले और पीछे उस वस्तु में होना चाहिये। परन्तु जीव में आप ऐसा मानते नहीं। अत: परिमाण की दृष्टि से उनका कोई भी स्वभाव निश्चित नहीं किया जा सकता।

म० बो०—अच्छा महात्मन्! थोड़ी देर के लिये इस विषय को यहां ही छोड़ कर मैं आप से पूछता हूँ कि आत्मा का परिमाण अणु मानते हुए आप मेरी इन शङ्काओं का क्या समाधान करेंगे।

१—आत्मा अणु होने के कारण शरीर के किसी एक ही भाग में रह सकेगा, तब तो उसे उसी भाग की घटनाओं का अनुभव होना चाहिये। गंगा में गोता लगाने पर सारे शरीर में पहुँची हुई शीतलता का उसे एक साथ ही अनुभव उसे कैसे हुआ?

२—योग समाधि से आत्मा का ज्ञान बढ़ जाता है और उस अवस्था में यह शरीर के सारे नाड़ी तन्तु जाल का हर समय प्रत्यक्ष करता है। एक भाग में होने से उसी भाग की नाड़ियों का प्रत्यक्ष होना चाहिए सब का कैसे हुआ।

अ० बो०—भगवन्! आपके प्रश्नों का एक ही उत्तर और वह यह कि आत्मा यद्यपि अणु है और शरीर के एक भाग हृदय में रहता है परन्तु उसका ज्ञान रूपी प्रकाश दूर तक फैला रहता है और उस प्रकाश के ही द्वारा इसे वे प्रत्यक्ष हुआ करते हैं जिनके विषय में आप ने शङ्काएँ की हैं।

म० बो०—आप आत्मा का परिमाण अणु मानते हैं। और आत्मा तथा उसके परिमाण को भी नित्य मानते हैं। आत्मा का एक गुण आप ज्ञान भी मानते हैं, जब कि आत्मा नित्य है तो उसके परिमाण की तरह उसका यह गुण ज्ञान भी नित्य ही होना चाहिये। परन्तु इसके विपरीत योग-समाधि, तथा ईश्वरप्रणिधान से उसके उस ज्ञान में आप वृद्धि भी मानते हैं। यदि आत्मा का गुण ज्ञान बढ़ता घटता है तो उसके गुणी आत्मा में भी परिवर्तन मानना आवश्यक हो जावेगा। क्योंकि उसका ज्ञान ही तो उसका स्वभाव है, और स्वभाव में परिवर्तन आने से उस स्वभाव वाली वस्तु में परिवर्तन का आना आवश्यक ठहरा। और यदि ऐसा मानना पड़ गया तो आत्मा विकारवान् सिद्ध हो जावेगा नित्य नहीं। कहिये इसका क्या समाधान है।

अ० बो०—आप की इस शङ्का का समाधान भी हमारे पहिले उत्तर से ही हो गया। हम पहिले कह आये हैं कि आत्मा यद्यपि अणु है, परन्तु उसके ज्ञान का प्रकाश दूर तक फैला हुआ है, आत्मा के ज्ञान में कमी ज्ञान में कई प्रकार के दोषों के आ जाने से होती है। और उन दोषों का दूर किया जाना ही ज्ञान की वृद्धि कहलाता है। परन्तु इन दोनों के आने और जाने का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं है। जैसे कि घरों में आते हुए सूर्य के प्रकाश में, रोशन दानों में लगे हुए भिन्न प्रकार के सीसों के सहयोग से, कहीं नीलापन, कहीं पीलापन और कहीं धुँधलापन कई प्रकार के दोष आ जाते हैं। और उन सीसों के हटा देने पर दोष दूर होते जाने पर वह प्रकाश फिर वैसा ही निर्मल चमकने

लगता है। परन्तु प्रकाश में इन दोषों के आने और हट जाने का सूर्य के बिम्ब पर कोई प्रभाव नहीं। ठीक इसी प्रकार ज्ञान के परिवर्तनों का आत्मा पर कोई प्रभाव नहीं।

आ० बो०—माननीय महात्माओ! आप के विचार विनिमय के लिये नियत किया हुआ समय समाप्त हो गया। आप तीनों महानुभावों ने अपने इस हेतुवाद को जिस उत्तमता और प्रेम के साथ निभाया है इसके लिये हम लोग कृतज्ञ हैं और आप सब का धन्यवाद करते हैं। अब वेदों के प्रकाण्ड पण्डित और उपनिषदों के तत्ववेत्ता, पूज्यपाद महर्षि व्यासदेव जी का इसी विषय पर प्रवचन होगा। आप सब उनके गम्भीर भाषण को ध्यान से सुनियेगा। मैं पूज्यपाद महर्षि जी से प्रार्थना करता हूँ कि वे अपने प्रवचन को आरम्भ कर हमें अनुगृहीत करें।

म० व्या०—सभ्य समुदाय! मन्त्री महोदय ने "जीवात्मा के परिमाण" विषय पर कुछ कहने की प्रेरणा की है। जीव के परिमाण का निर्धारण हमने वेदान्त सूत्रों में भली भांति कर दिया है। अतः इस सम्बन्ध में कोई नया भाषण देने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। परन्तु आप सब कुछ सुनना चाहते हैं, अतः हम वेदान्त का वह ही प्रसंग आप के परिचय के लिये आपके सामने उपस्थित किये देते हैं। इस प्रसङ्ग में आपको जहां २ शङ्काएं हों निःशङ्क पूछते चलें बिना सङ्कोच उत्तर दिया जावेगा। वेदान्त दर्शन में एक स्वतन्त्र अधिकरण ही हमने इस विषय के अर्पण किया है। उसी अधिकरण का व्याख्यान आज हम इस सभा में करेंगे। विषय गम्भीर है अतः ध्यान से सुनियेगा।

संसार में तीन प्रकार के परिमाण ही व्यवहार में आते हैं, अणु, मध्यम और विभु। इनमें से जीव का परिमाण यदि मध्यम माना जावे तो मध्यम परिमाण वाली कोई भी वस्तु नित्य नहीं होती, अतः जीवात्मा के भी उत्पत्ति और विनाश मानने पड़ जावेंगे। अब शेष रह जाते हैं अणु और विभु दो परिमाण। जीव के परिमाण के सम्बन्ध में विवेचन करने से पहिले उपनिषदों के वाक्यों में कहीं २ विभु परिमाण की भी झलक प्रतीत हुआ करती है। और अणु परिमाण का भी बहुत से स्थलों में स्पष्ट आभास मिलता है। अतः इन दोनों परिस्थितियों को देखकर यह संशय होने लगता है कि—

"जीवात्मा का परिमाण अणु है या विभु" इस संशय के प्रकाश में आने पर हम पूर्व पक्षी की ओर से यह कहना चाहते हैं कि आत्मा का परिमाण विभु है। और इस पक्ष की पुष्टि में उपनिषद् के कुछ वचन उपस्थित करते हैं।

स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४-४-४२)

(जीवात्मा महान्—अर्थात् विभु और अजन्मा है। वह ही आत्मा जो कि प्राणों के बीच में विज्ञानमय है।)

इस वचन में स्पष्ट ही आत्मा को विज्ञानमय और महान् कहा गया है। विज्ञानमय ब्रह्म ही हो सकता है और कोई नहीं। और महान् शब्द भी व्यापक ब्रह्म के लिये ही आया है। प्राणों के मध्य में कहा जाने से यह जीव है। और जीव और ईश्वर का अभेद है अतः उसे विज्ञानमय शब्द से कहा गया है। और इसी हेतु से उसके परिमाण को भी विभु कहा गया है। इसी प्रकार—

आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः, सत्यं विज्ञानमनन्तं ब्रह्म, (तै० २-१-१)

(आत्मा आकाश की तरह सर्वव्यापक और नित्य है, वह सत्य स्वरूप, विज्ञान स्वरूप और अनन्त—अर्थात् व्यापक है।)

इन वाक्यों में तो स्पष्ट ही आत्मा को आकाश की तरह व्यापक और अनन्त—अर्थात् अपार कहते हुए विभु माना गया है। तथा—

स चानन्त्याय कल्पते (श्वे० ५–९)

(वह आत्मा अनन्त-रूपता को प्राप्त है अर्थात् विभु।)

इस श्वेताश्वतर के वचन से भी आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध होता है। इस प्रकार अनेक श्रुतियों से आत्मा का प्रमाण विभु ही सिद्ध होता है। अतः आत्मा विभु इस पूर्व पक्ष के उत्तर अब सुनिये—

उत्क्रान्ति गत्यागतीनाम् (ब्र० सू० २–३–१९)

जीव अणु है, क्योंकि उसकी उत्क्रान्ति (शरीर से बाहर निकलना) गति (अन्य योनियों के लिये जाना) और आगति (अन्य शरीर में प्रवेश होना) ये तीन क्रियाएं सुनी जाती हैं। जैसे कि—

तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते, तेन प्रद्योतेनैष आत्मा निष्क्रामति, चक्षुषो वा, मूर्ध्नो वा, अन्येभ्यो वा शरीरदेशेभ्यः (बृ० ४–४–२)

(उस आत्मा के हृदय का अग्र भाग उसके प्रकाश से चमकता है। उस प्रकाश के साथ ही यह आत्मा, आंखों से, मूर्द्धा से अथवा शरीर के किसी और भाग से निकल जाता है।)

इस प्रकार जीव के इस शरीर से निकल जाने का इस वाक्य में वर्णन है। शरीर से निकलना व्यापक आत्मा का हो नहीं सकता, अतः इस उत्क्रान्ति का श्रवण आत्मा के अणु परिमाण को सिद्ध कर रहा है।

तदेव सक्तः सह कर्मणैति लिङ्गं मनो यत्र निषिक्तमस्य (बृ० ४–४–६)

(जिस फल में आसक्त होकर इस आत्मा ने कर्म किया है, और इसीलिये जहां जाने के लिये इसका साधनरूप उत्सुक है, अपने उस कर्म के साथ; व्यवस्थानुसार उसे भोगने के लिये, यथोचित भोग योनि में चला जाता है) इस वाक्य में आत्मा के कर्म भोग के लिये कहीं अन्यत्र चले जाने का वर्णन है। यह ही गति का श्रवण है। व्यापक आत्मा में गति हो नहीं सकती, अतः इस गति के श्रवण के अनुसार भी आत्मा का परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा।

तस्माल्लोकात्पुनरैत्यस्मै लोकाय कर्मणे (बृ० ४।४।६)

उस भोग योनि से अथवा उभययोनि से फिर इस उभययोनि (जहां कर्म और भोग दोनों कर सकता है) मनुष्य योनि में कर्म करने के लिये आता है।

इस वाक्य में जीव के फिर मनुष्य योनि में आने का वर्णन किया गया है। यह आगति का श्रवण है। और आगति अर्थात् आगमन व्यापक का सम्भव नहीं अतः आगति के श्रवण से भी आत्मा का परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा।

आत्मा में विभु परिमाण का प्रतिपादन करने वाले उपनिषदों के वचन दो प्रकार के हैं। उनमें से कुछ तो ऐसे हैं जो ईश्वर के प्रकरण में आये हैं। ईश्वर का व्याख्यान करने वाले वाक्य तो उसके परिमाण को विभु कहेंगे ही, इसमें कोई क्षति नहीं।

जैसे कि—"सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (ब्रह्म सत्य विज्ञान और अनन्त अर्थात् व्यापक है) "आकाशवत्सर्वगतश्चनित्यः" (वह आकाश की तरह सर्वव्यापक और नित्य है)

ये दोनों वचन ब्रह्म-निरूपण के प्रकरण में आये हैं, और उसी के परिमाण को विभु कह रहे हैं, ब्रह्म विभु है ही अतः उसके परिमाण को विभु कहने में कोई आपत्ति नहीं।

इनके अतिरिक्त कुछ वचन ऐसे हैं जो आये तो जीव के ही प्रकरण में हैं, परन्तु भलीभांति विचारे बिना और उनका भाव समझे बिना विभु प्रमाण के प्रतिपादक प्रतीत होते हैं।

स वा एष महान आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु (बृ० ४।४।२२)

(यह आत्मा महत्त्व सम्पन्न अजन्मा और विज्ञानमय है जोकि प्राणों के मध्य में रहता है) अजन्मा तो जीव और ईश्वर दोनों ही हैं, परन्तु महान् शब्द का अर्थ व्यापक अर्थ करलें तो क्योंकि यह प्रकरण जीव का है अतः जीव विभु सिद्ध हो जाता है। क्योंकि प्राणेषु अर्थात् प्राणों के बीच में रहने वाला जीव ही हो सकता है, परन्तु यहां विभु अर्थ किया नहीं जा सकता, यहां तो उसे अपने प्राण समाज इन्द्रियों तथा मुख्य प्राणों की अपेक्षा चेतन और शक्तिशाली होने के कारण महत्व देते हुए महान् कहा गया है। सांसारिक राजा को भी तो लोग ईश्वर कहते ही हैं। अतः इस मन्त्र से आत्मा का परिमाण विभु सिद्ध नहीं होता।

वि० बो०—भगवन् ! इस वचन में विज्ञानमय शब्द भी आया है और यह शब्द आनन्दमय शब्द के साथ ब्रह्म के अर्थों में आता है, अतः यह प्रकरण तो ब्रह्म का होना चाहिए जीव का नहीं।

म० व्या०—इस प्रकरण में विज्ञानमय को प्राणों के मध्य में रहने वाला कहा गया है। और प्राणों के मध्य में कार्य करता है जीव, अतः यहां का विज्ञानमय शब्द जीव के लिए ही आया है। और क्योंकि विज्ञान अर्थात् चैतन्य गुण जीव का भी है अतः उसे भी विज्ञानमय कहा जा सकता है। जहां यह शब्द आनन्दमय के साथ आया है वह प्रकरण पंच कोशों का है और विज्ञानमय कोश ब्रह्म नहीं प्रत्युत बुद्धि है। कोशों में से आनन्दमय कोश ही ब्रह्म के स्थानापन्न वर्णन किया गया है क्योंकि तैत्तिरीय उपनिषद् में भार्गवी वारुणी विद्या के प्रकरण में वरुण से ब्रह्मोपासना की इच्छा करने पर भृगु को उन्होंने क्रम से अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय कोशों का, तप करते हुए बोध कर लेने के बाद भी उसे फिर तप तपने के लिए ही कहा, और फिर इस तप के बाद जब उसे आनन्दमय का ज्ञान हो गया तो इस विद्या को समाप्त कर दिया गया। ब्रह्मप्राप्ति की जिज्ञासा से आये हुए शिष्य को ब्रह्म का बोध कराये बिना विद्या को समाप्त नहीं किया जा सकता था, इससे सिद्ध है कि आनन्दमय का ज्ञान ब्रह्म का ज्ञान ही है। और फलतः आनन्दमय शब्द ब्रह्म के अर्थों में ही आया है, इससे पहिला विज्ञानमय शब्द भी यदि ब्रह्म का ही वाचक होता तो महर्षि इस विद्या को वहां ही समाप्त कर देते परन्तु उन्होंने ऐसा न कर तप करते हुए इस से आगे और कुछ जानने की प्रेरणा की। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि विज्ञानमय शब्द ब्रह्म का वाचक नहीं बुद्धि का वाचक है।

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। जीवो भागः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्प्यते (श्वे० ५।९)

(बाल के अग्रभाग के सौ टुकड़े किये जावें और फिर प्रत्येक के भी सौ सौ भाग किये जाएँ, तो इनका एक भाग अर्थात् बाल की नोक का दस सहस्रवां भाग जीव का परिमाण समझो और वह जीव अनन्त अर्थात् अविनाशी है। इस प्रकार श्वेताश्वतर के इस वाक्य से भी जीव का परिमाण अणु ही सिद्ध होता है)

वि० बो०—भगवन्! आपने आनन्त्य शब्द का अर्थ अविनाशी किया है इसका अर्थ तो अपार अर्थात् जिसका पार न पाया जा सके किया जाता है।

म० व्या०—अपार अर्थ करने पर इस का अर्थ विभु होगा, और ऐसी दशा में बाल के हज़ारवें भाग के समान परिमाण के साथ इसका अन्वय बोध कैसे हो सकेगा।

वि० बो०—भगवन्! यहां पर विभु अर्थ होने पर भी संगति इस प्रकार लग जावेगी, जीव यद्यपि व्यापक ही है और उसका परिणाम विभु ही है, परन्तु बुद्धि उपाधि की महिमा से गौण रूप से उसे अणु कह दिया गया है क्योंकि बुद्धि का परिमाण अणु है। उपाधि के दूर कर देने पर जीव और ब्रह्म का अभेद हो जाने पर जीव का वास्तविक परिमाण विभु ही होगा, और उसका अनन्त शब्द के साथ सुगमता से अभेद सम्बन्ध से अन्वय हो सकेगा।

म० व्या०—महात्मन्! कि किसी भी प्रकरण में किसी शब्द का गौण अर्थ तभी लिया जाता है जब कि मुख्य अर्थ लेने से उसकी संगति ठीक न बैठती हो। इस प्रकरण में आये हुए अनन्त शब्द की मुख्य अर्थ में ही अणु शब्द के साथ संगति ठीक लग जाती है। कारण है कि अन्त शब्द के मुख्य अर्थ दो हैं एक पार और दूसरा विनाश। इन दोनों ही अर्थों में इस शब्द का प्रयोग स्मृतियों में मिलता है जैसे कि—**"उभयोरपि दृष्टान्तः"** (गीता २।१६)

('दोनों ही का पार पाया गया है' यहां अन्त शब्द पार अर्थ में आया है) और **"अन्तवन्त इमे देहाः"** (गीता २।१८) ('ये शरीर नाश वाले हैं' यहां विनाश अर्थ में आया है) ये दोनों ही ही इस शब्द के मुख्य अर्थ हैं। यहां अनन्त शब्द का गीता के श्लोक-पादों के अनुसार अपार अर्थ भी हो सकता है और अविनाशी भी। इन दोनों ही मुख्य अर्थों में से अपार अर्थ लेने पर जीव का परिमाण विभु मानना पड़ जाता है, और फिर इसी वाक्य में आये हुए अणु परिमाण के साथ उसका अन्वय ठीक न बैठने पर बुद्धि उपाधि की कल्पना कर गौण अर्थ की शरण लेनी पड़ती है। परन्तु दूसरे मुख्य अर्थ विनाश को स्वीकार कर लेने पर अनन्त शब्द का अर्थ अविनाशी हो जाता है और अब अणु शब्द के साथ उसका कोई विरोध न होने के कारण अन्वय होकर वाक्यार्थ ठीक बैठ जाता है। क्योंकि जीवात्मा अणु भी है और अविनाशी भी अतः यहां इस शब्द का अर्थ अपार नहीं किया जा सकता। **"स्वात्मना चोत्तरयोः"** ब्र० सू० २।३।२०

उत्क्रान्ति के लिये कदाचित् यह भी कहा जा सके कि, जैसे ग्राम का स्वामी अधिकार से च्युत होने पर ग्राम में रहता हुआ भी बहिष्कृत समझा जाता है, इसी प्रकार शरीर में रहता हुआ भी आत्मा शरीर से पृथक् कहा जा सकता है। परन्तु आगे आये हुए गमन और आगमन दोनों ही आत्मा के बाहर गये और आये बिना नहीं बन सकते, और गमन और आगमन के मान लेने पर उत्क्रान्ति शब्द का अर्थ विवश शरीर से निकलना ही किया जा सकेगा क्योंकि एक स्थान से निकले बिना जाना और आना असम्भव हो जावेंगे। निकलना, जाना और आना यह तीनों क्रियाएँ व्यापक की हो नहीं सकतीं, अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

आत्मा को अणु नहीं कह सकते क्योंकि इसके विपरीत इसका विभु परिमाण प्रतिपादन करने वाली श्रुतिएँ मिलती हैं जैसे कि—

"आकाशवत्सर्वगतश्च नित्यः" बृ० ४।४।१२

(वह आकाश की तरह व्यापक और नित्य है) तथा "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (वह ब्रह्म सत्य ज्ञान और अनन्तस्वरूप है) इस प्रश्न का उत्तर सूत्र के उत्तरार्ध में देते हैं कि ये श्रुतिएँ इतर अर्थात् दूसरे आत्मा ब्रह्म के अधिकार की हैं अतः इनसे ब्रह्म का ही परिमाण विभु सिद्ध होता है जीव का नहीं।

"स्वशब्दोन्मानाभ्यां च" २२

इसलिये भी आत्मा का परिमाण अणु है कि उसके इस परिमाण को उन्मान वाक्यों में तथा साक्षात् अणु शब्द से ही कहा है जैसे कि—

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः, यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश" मुं० ३।१।९

(इस अणु आत्मा का ज्ञान चित्त से होता है जिसके संसर्ग में पाँच प्राणों का सन्निवेश है)।

वि० बो०—भगवन् ! इस श्रुति में जो ज्ञातव्य आत्मा है वह ब्रह्म प्रतीत होता है जीव नहीं क्योंकि इसी प्रकरण में आगे चल कर इसे इन्द्रियों से गृहीत न होने वाला और ज्ञान के निर्मल हो जाने पर प्राप्त होने वाला तथा चित्त से जानने योग्य कहा है, और ऐसा आत्मा ब्रह्म ही हो सकता है, इसलिए यहां अणु शब्द का अर्थ अणु परिमाण न करते हुए सूक्ष्म अर्थ करना ठीक प्रतीत होता है, क्योंकि ब्रह्म अणु नहीं सूक्ष्म है।

म० व्या०—महात्मन् ! ऐसी बात नहीं, यदि यह प्रकरण ब्रह्म के प्रत्यक्ष का निषेध करने के लिए लिखा गया होता तो उसे चित्त से जानने योग्य न कहा जाता, क्योंकि ब्रह्म का प्रत्यक्ष तो चित्त के व्यापार के भी शान्त हो जाने पर साक्षात् आत्मा को ही होता है इस विषय के लिए ऋषियों की सम्मति भी स्पष्ट है जैसे कि—

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति न मनः" (केन प्रथम खं० मं० ३)

(उस ब्रह्म की प्राप्ति न चक्षु से, न वाणी से और न मन से हो सकती है) अतः यहाँ आत्मा के ही प्रत्यक्ष का प्रकरण है। दूसरी दो अवस्थाओं का भी यहाँ कोई विरोध नहीं, क्योंकि इन्द्रियों से इसका भी प्रत्यक्ष नहीं होता, तथा इसका प्रत्यक्ष भी ज्ञान के निर्मल हो जाने पर ही होता है। यह प्रसङ्ग जीवात्मा के प्रत्यक्ष का मान लेने पर इसके संसर्ग में आये हुए प्राणों के सन्निवेश की भी व्यवस्था ठीक बैठ जाती है, और अणु शब्द का भी 'जोकि परिमाण अर्थ में ही प्रसिद्ध है' सूक्ष्म अर्थ नहीं करना पड़ता। इसी प्रकार—

"बुद्धेर्गुणेनात्मगुणेन चैव ह्याराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः" (श्वे० ५।८)

(बुद्धि के गुण से और आत्मा के गुण से आर के अग्र भाग के समान एक और भी देखा गया है) इत्यादि आर के अग्र भाग आदि की उपमा देने वाले उन्मानों से भी आत्मा का परिमाण अणु सिद्ध है।

वि० बो०—भगवन् ! लोग ऐसा समझते हैं कि इस श्रुति में बुद्धि के गुण से ही आत्मा को आराग्रमात्र कहा गया है वस्तुतः आत्मा का परिमाण तो विभु ही है। बुद्धि का परिमाण आराग्र के

समान है और बुद्धि है आत्मा की उपाधि, अतः बुद्धि के परिमाण से ही यहाँ जीव को अणु कह दिया गया है, जैसे कि शरीर उपाधि से आत्मा अपने आपको स्थूल तथा कृश कहा करता है।

म० व्या०—महात्मन्! ऐसी बात नहीं, आप यदि सारी श्रुति का अर्थ करेंगे तो स्वयं निश्चय कर सकेंगे कि यहाँ बुद्धि के ही गुण का नहीं, आत्मा के भी गुण का उल्लेख है। इस श्रुति का अर्थ हम बता चुके हैं। यहाँ महर्षि श्वेताश्वतर ने बुद्धि के और आत्मा के दोनों के परिमाणों को मिला कर लिखा है। आप तो कहते हैं कि अकेले आत्मा का परिमाण विभु है, परन्तु यदि बुद्धि के परिमाण को साथ न मिलाते अकेले आत्मा के ही परिमाण का उल्लेख करते और लेखक होते महर्षि श्वेताश्वतर, तो वे आर की नोक का चालीस हज़ारवाँ भाग जीव का परिमाण लिखते। क्योंकि अन्यत्र उन्होंने जीव का परिमाण बाल की नोक का दस हज़ारवाँ भाग लिखा है, और बाल की नोक आर की नोक से बहुत सूक्ष्म होती है, यहाँ उन्होंने बुद्धि और आत्मा के परिमाण को मिला कर लिखा है, और बुद्धि आत्मा से बहुत स्थूल है, अतः सम्मिलित परिमाण को आर की नोक के समान लिख दिया है।

ठण्डे गङ्गाजल में गोता लगाते ही सारे शरीर में शीत स्पर्श का अनुभव होता है। यदि आत्मा शरीर के एक भाग हृदय में ही है तो चैतन्य भी उतने ही स्थान में होगा तब फिर सारे शरीर में शीत स्पर्श के अनुभव का साधन कौन है? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"अविरोधश्चन्दनवत्" २३

कोई विरोध नहीं, यह अनुभव चन्दन के स्पर्श के समान हो सकता है जैसे कि चन्दन शरीर के एक भाग में लगाया जाता है और उसके शीतलस्पर्श का अनुभव सारे शरीर में होता है इसी प्रकार आत्मा शरीर के एक भाग में होता हुआ भी सारे शरीर की घटनाओं का अनुभव कर लेता है।

चन्दन और आत्मा के अवस्थान में भेद है अतः दृष्टान्त ठीक नहीं क्योंकि चन्दन की स्थिति शरीर के एक भाग में निश्चित है और आत्मा की स्थिति का कोई निश्चय नहीं। इसके उत्तर में लिखते हैं—

"अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदिहि २४

आत्मा की स्थिति भी शरीर के एक भाग हृदय में निश्चित है। प्रमाण पढ़िए "हृदि ह्येष आत्मा" (प्र० ३.६.) (यह आत्मा हृदय में है) "स वा एष आत्मा हृदि" (छा० ८.३.३.२) (यह आत्मा हृदय में है) "कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः" (बृ० ४.३.७.) (आत्मा कौन है जो कि प्राणों के मध्य में ज्ञानवान् हृदय के अन्दर ज्योतिरूप है)।

ये सब श्रुतिएँ आत्मा के रहने का स्थान शरीर का एक भाग हृदय बतला रही हैं इसलिए चन्दन का दृष्टान्त ठीक है।

अभी दृष्टान्त ठीक नहीं हुआ एक कमी और है और वह यह कि चन्दन सावयव पदार्थ है वह यद्यपि एक स्थान पर लगाया गया है परन्तु फिर भी उसके अवयव सारे शरीर में फैलकर शीतलता पहुँचा सकते हैं। जीवात्मा तो अणु तथा निरवयव पदार्थ है, वह सारे शरीर की घटनाओं का अनुभव कैसे कर सकेगा। इसके उत्तर में लिखा है—

गुणाद्वाऽऽलोकवत्। २५

आत्मा यद्यपि शरीर के एक भाग में है। परन्तु उसका गुण अर्थात् ज्ञान रूप प्रकाश बाहर भी फैला हुआ है। जैसे कि सूर्य आदि प्रकाश वाले तत्वों का। अतः वह अपने प्रकाश से सारे शरीर की

घटनाओं का अनुभव कर लेता है। जैसे कि कहा भी है—

"तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते" (बृ. ४-४-२)

(उस हृदय का अग्र अर्थात् चारों ओर का भाग चमक रहा है) जिस प्रकार हृदय के अन्दर बैठे हुए आत्मा का ज्ञान रूप प्रकाश हृदय के बाहर भी फैला हुआ है, ठीक इसी प्रकार उसका सारे शरीर में और शरीर से बाहर भी फैल जाना सम्भव है।

गुण गुणी से बाहर कैसे रह सकेगा। क्योंकि फूल का या कपड़े का सफेद रूप उसका गुण है, और वह फूल या कपड़े से बाहर नहीं रह सकता। इसके उत्तर में लिखते हैं—

व्यतिरेको गन्धवत् ॥२६॥

गुणों की अपने अपने आधार से बाहर भी सत्ता देखी गई है। जैसे कि कस्तूरी के गन्ध की। इसलिये आत्मा का प्रकाश भी अपने आधार से बाहर फैल सकता है।

यहां यह शङ्का की जा सकती है कि कस्तूरी के परमाणु कस्तूरी से निकल कर वायुमण्डल में फैलते रहते हैं, उन्हीं के साथ गये हुए गन्ध की बाहर प्रतीति होती है। परन्तु यह बात ठीक नहीं। यदि कस्तूरी से उसके परमाणु इस प्रकार प्रति क्षण निकलते रहें तो उसका तोल कम हो जाना चाहिये। परन्तु वर्षों शीशी में रक्खी हुई भी कस्तूरी तोल में कम नहीं होती। हां ऐसे पदार्थ भी हैं जिनके अवयवों का संयोग बहुत शिथिल होता है और वे परमाणुओं में पृथक् हो २ कर वायु में फैलते हुए सारे ही समाप्त हो जाते हैं जैसे कि कपूर वस्तुतः कपूर भी मूल पदार्थ नहीं। यह केले से पृथक् किये गये उन अवयवों का समुदाय है जिनका स्वभाव ही उड़ने का है। केले में ही ऐसे भी अवयव हैं जिनके साथ होते हुए ये अवयव उड़ न सकते और केले की सत्ता तक उसके साथ ही रहते। और अब भी इनकी ही नहीं केले की भी सत्ता समाप्त हो गई है, क्योंकि इनके पृथक् होने केले का अवयव सन्निवेश बिगड़ गया है। परन्तु कस्तूरी के अवयवों का संयोग इतना ठोस है कि वह उसके परमाणुओं को पृथक् नहीं होने देता। और यह ही कारण है कि वर्षों रक्खी रहने पर भी उसका परिमाण कम नहीं होता। इसके अतिरिक्त और भी ऐसे दृढ़ पदार्थ हैं, जिनका गुण तो बाहर फैला रहता है परन्तु उनके अवयव अपने आधार से कभी पृथक् हो ही नहीं सकते जैसे कि हीरा। इसी का दृष्टान्त पहिले सूत्र में "आलोकवत्" दिया गया है। हीरे को यदि हज़ारों वर्ष के बाद भी तोला जावे तो उसका परिमाण कम नहीं होगा, उतना ही रहेगा। अतः विवश यह ही कहना पड़ेगा कि हीरे का प्रकाश तो उससे बाहर निकल रहा है उसके परमाणु नहीं जैसे कि कोहनूर हज़ारों वर्ष से अब तक चमक ही रहा है। हां यह हो सकता है कि वह कभी नष्ट हो जावेगा, और उसका प्रकाश भी। क्योंकि यह सावयव पदार्थ है, इसके अवयवों का संयोग धीरे धीरे ढीला हो जावेगा, और यह समय पाकर कभी नष्ट भी हो जावेगा। क्योंकि जो वस्तु उत्पन्न हुई है उसका नाश अवश्य होगा। परन्तु यह नहीं हो सकेगा कि वह रहे और उसका प्रकाश न रहे।

यह एक दृष्टान्त है। और दृष्टान्त एक अंश में हुआ करता है। जीवात्मा की परिस्थिति उससे भिन्न है। वह सावयव नहीं निरवयव है। वह न उत्पन्न हुआ है और न नष्ट होगा। अतः न उसके पुराने होने की सम्भावना है और न उसके प्रकाश के कम होने की। इसीलिये दृष्टान्त देने के लिये उसके समान नित्य वस्तु संसार मिल नहीं सकती थी, अतः हीरे का दृष्टान्त दिया गया है। पुराना होने पर हीरे का प्रकाश कुछ मध्यम पड़ सकता है, परन्तु यों तो पुराना होने पर वस्तु के रूप आदि अन्य

गुण भी जो कि अपने आधार से बाहर नहीं फैलते मध्यम पड़ जाते हैं। परन्तु हम पहिले भी कह आये हैं कि आत्मा की परिस्थिति इन पदार्थों से भिन्न है। वह नित्य है और उसका प्रकाश भी नित्य है। अतः न इसके नष्ट होने की सम्भावना है, और न इसका प्रकाश कभी मध्यम पड़ सकता है।

तथा च दर्शयति ॥२७॥ पृथगुपदेशात् ॥२८॥

इसी प्रकार उपनिषत्कार तत्वज्ञानी ऋषि दिखला रहे हैं, और आत्मा के ज्ञान का उससे पृथक् भी फैले रहने का उपदेश दे रहे हैं। जैसे कि—

यत्रैष एतत्सुषुप्तोऽभूत्; य एष विज्ञानमयः पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञान-मादाय य एषोऽन्तरहृदय आकाशस्तस्मिन् शेते। (ब्र. २।१।१७)

(वह इन प्राणों अर्थात् इन्द्रियों के विज्ञान को (विज्ञायतेऽनेनेतिविज्ञानम्) ज्ञान की साधन इन्द्रियों की शक्ति को, अपने विज्ञान से समेट कर, जोकि यह हृदय के अन्दर आकाश है उसमें सोता है)। महात्मन्? देखिये इससे अधिक स्पष्टीकरण श्रुति और क्या करेगी। यहां विज्ञान का विज्ञान से समेट लेना, और आत्मा का हृदयाकाश में सोना दोनों ही ध्यान देने योग्य बातें हैं।

इन्द्रियों की शक्तियें बाह्य वस्तुओं के विज्ञान में साधन हैं। इसलिये उन्हें भी यहां विज्ञान कह दिया गया है जैसे कि—प्राण के साधन अन्न को "अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः" (अन्न ही प्राणियों के प्राण हैं) इस वाक्य में प्राण कह दिया गया है।

आत्मा हृदय में बैठा हुआ बाहर काम करने वाली इन्द्रियों की शक्तियों को समेट रहा है। अब उस अन्दर बैठे हुए को उनकी बाहर की शक्तियों को समेटने के लिये कोई साधन चाहिये। और वह साधन यहां बतलाया गया है आत्मा का विज्ञान। उसका विज्ञान भी इन्द्रियों की शक्तियों को तब ही समेट सकेगा जब कि उसकी पहुंच इन्द्रियों तक हो। और उस पहुंच का इसके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं कि उस विज्ञान को आत्मा से बाहर भी इन्द्रियों तक फैला हुआ माना जावे। इस प्रकार इस एक ही उपनिषद् वाक्य ने इतने विषयों पर प्रकाश डाला है।

१—आत्मा का विज्ञान आत्मा के स्वरूप तक ही सीमित नहीं है वह उसके बाहर भी दूर तक फैला हुआ है।

२—आत्मा का विज्ञान आत्मरूप ही नहीं प्रत्युत वह उससे पृथक् उसका गुण है।

३—आत्मा ने सोते समय अपने गुण विज्ञान के द्वारा इन्द्रियों की शक्तियों को तो समेट लिया है विज्ञान को नहीं।

तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेशः प्राज्ञवत् ॥२९॥

किसी २ स्थान पर उपनिषदों में आत्मा को भी जो "प्राज्ञ" (ईश्वर) की तरह विभु कह दिया जाता है—वह इसके इस ज्ञान गुण के ही बल पर कहा जाता है। क्योंकि इसका विज्ञान गुण इससे बाहर भी फैला हुआ है। अन्यथा आत्मा तो अणु है और हृदय के एक भाग में ही विराजमान है उसके लिये ऐसा कहा नहीं जा सकता था।

वि. बो.—भगवन्! इस सूत्र के "तद्गुणसारत्वात्" पद में आये हुए तत् शब्द से, बुद्धि नामक उपाधि के ग्रहण में क्या आपत्ति है। ऐसा मान लेने पर सङ्गति इस प्रकार लग जावेगी कि आत्मा तो व्यापक ही है परन्तु उसकी उपाधि बुद्धि के अणु होने से उसे संसार अवस्था में अणु कह दिया गया है। और इस प्रकार जितने भी अणुवाद हैं वे सब उपाधि के अणु होने के कारण सङ्गत हो सकते हैं। और जहां उसे विभु कह दिया गया है वे वचन उसके परमार्थ विभुरूप को लेकर सङ्गत हो सकते हैं।

म० व्या०—महात्मन् ! यह भाव आप अपनी ओर से कल्पित कर सकते हैं। सूत्रकार के शब्दों से यह प्रकट नहीं होता क्योंकि ऊपर से अणु आत्मा के गुण विज्ञान का प्रसङ्ग छिड़ा हुआ है, और तत्पद पूर्व का परामर्श किया करता है अत: तत्पद से विज्ञान गुण का ही ग्रहण किया जा सकता है।

वि० बो०—भगवन् ! तत्पद बुद्धिस्थ का भी तो परामर्श किया करता है अत: इस प्रसङ्ग में सूत्रकार की बुद्धि में विद्यमान बुद्धि का परामर्श तत्पद से होगया होगा।

म० व्या०—महात्मन् ! बुद्धिस्थ का परामर्श तत्पद से तब हुआ करता है जब कि प्रसंग में "तत्" के परामर्श के लिए कोई पदार्थ न हो। यहाँ तो पहले से विज्ञान का प्रसङ्ग चला आ रहा है उसको छोड़ कर बुद्धिस्थ पदार्थ का परामर्श न्याय सङ्गत नहीं। और ग्रन्थकार का भी यह कर्तव्य हुआ करता है कि यदि उसे प्रसङ्ग में आते हुए किसी पद को छोड़ कर किसी दूसरे का प्रसङ्ग बदलना हो तो तत्पद का उल्लेख न कर जिसका प्रसङ्ग चलाना है उस अर्थ को उसके वाचक शब्द से कह दे, परन्तु यहां ऐसा किया नहीं गया. अत: यहाँ बुद्धि का नहीं, प्रसंग में आते हुए ज्ञान का ही परामर्श किया जावेगा। आप इस सारे ही अधिकरण के सूत्रों पर दृष्टिपात करें कि क्या कहीं आत्मा के विभुत्व का और बुद्धि उपाधि का भी उल्लेख मिलता है ? आपको ऐसी झलक कहीं भी दीख न पड़ेगी। अत: इस सूत्र के तत्पद से विज्ञान का ही ग्रहण करना ठीक है बुद्धि का नहीं।

वि० बो०—भगवन् ! ऐसा माना जाता है कि उपनिषदों में सर्वत्र परब्रह्म का ही प्रतिपादन है उसके अतिरिक्त और कोई चैतन्य है ही नहीं; जैसा कि उपनिषदों में स्पष्ट ही कहा गया है—

नान्योऽतोस्तिद्रष्टा नान्योतोस्ति विज्ञाता (बृ० ३।७।२३)

(उसके अतिरिक्त और कोई द्रष्टा नहीं और न और कोई ज्ञानी है) तथा **"नान्योतोस्ति द्रष्टृ, श्रोतृ मन्तृ विज्ञातृ"** (छा० ६।८।७) (उस से भिन्न और कोई देखने वाला, सुनने वाला, मनन करने वाला और ज्ञान करने वाला नहीं) जबकि उपनिषदों की यह सम्मति है तो आपके कथन के अनुसार जीव पृथक् चेतन कैसे मान लिया गया ?

म० व्या—महात्मन् ! यह जो कुछ कहा गया है ठीक ही है, केवल भाव के समझने में थोड़ा अन्तर है। क्योंकि सारे विश्व को, उसके अवान्तर भेदों को तथा उनके गुण कर्म स्वभावों को सर्वांश में जानने वाला भगवान् के अतिरिक्त और कोई चेतन नहीं ? तात्पर्य यह है कि और सब चेतन अल्पज्ञ अर्थात् थोड़ा जानने वाले हैं। ये दोनों वचन एक ही भाव को कह रहे हैं। अब आप बतलाइये कि इन वाक्यों से जीव का निषेध कैसे होगया ?

वि० बो०—भगवन् ! "तत्त्वमसि" (छां० ६।६।७) इस वाक्य में तत्पद मायाऽवच्छिन्न ब्रह्म का, "त्वं" पद अविद्याऽवच्छिन्न ब्रह्म का, और "असि" पद सत् अर्थात् शुद्ध ब्रह्म का वाचक है, इनके समन्वय का और कोई उपाय न होने से भागत्यागलक्षणा करके तत्पद की माया उपाधि का, और "त्वं" पद की अविद्या उपाधि का त्याग कर शुद्धब्रह्म शेष रह जाने से, तीनों पदों का अखण्ड ब्रह्म अर्थ किया जाता है, इससे जीव और ब्रह्म का अभेद स्पष्ट सिद्ध है, और जब कि जीव ब्रह्म से अभिन्न सिद्ध हो गया तो उसका परिमाण विभु ही मानना पड़ेगा। इसमें अणु की प्रतीति बुद्धि उपाधि के कारण से व्यावहारिक है।

म० व्या०—महात्मन्! "तत्त्वमसि" वाक्य में उपाधि की कल्पना कर अर्थ करने की आवश्यकता नहीं। सारे प्रसङ्ग का भलीभांति स्वाध्याय करने से, बिना ही उपाधि-कल्पना किये, समन्वय ठीक बैठ जाता है। प्रसङ्ग यह है—

"स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छा० ६।८।४)

(जो यह सूक्ष्म तत्व है, यह आत्मा है, और इस आत्मा से ही आत्मवान् यह सब जड़ चेतन जगत् है। अर्थात् यह सूक्ष्म तत्व ही इस सब में आत्मा की तरह प्रविष्ट हुआ हुआ इस सब को चला रहा है, यह सूक्ष्म तत्व ही सत्य कहलाता है, और सब के अन्दर होने से आत्मा है, हे श्वेतकेतो! "त्वम्" अर्थात् तू भी "तत्" अर्थात् तदात्मक—उसी आत्मा वाला है। तात्पर्य यह है कि तेरे आत्मा के अन्दर भी वही आत्मा प्रविष्ट है, अतः तेरा भी वही आत्मा है। वहां तत् शब्द से पहले, इससे परामर्श करने योग्य दो शब्द आये हैं, एक "आत्मा" और दूसरा "ऐतदात्म्यम्", यदि आत्मा का परामर्श किया जावे तो आत्मा यहाँ पर शुद्ध ब्रह्म का नाम है, और "त्वम्" अल्पज्ञ चेतन का। इन दोनों का अभेद अन्वय न हो सकेगा, और फिर जीव में उपाधि की कल्पना कर जीव ब्रह्म का अभेद सिद्ध करने का अवसर आवेगा, और यदि "ऐतदात्म्यम्" शब्द का परामर्श किया जावे तो "त्वम्" अर्थात् जीव के साथ इस का अन्वय करते समय कोई कठिनाई न होगी क्योंकि "ऐतदात्म्यम्" का अर्थ है इस आत्मा वाला। और यह ब्रह्मरूप आत्मा जीव में ओतप्रोत है ही, अतः जीव को इस आत्मा वाला कहने में कोई आपत्ति सामने नहीं आती। बिना ही उपाधि की कल्पना किये "तत्" और "त्वम्' शब्द का अन्वय ठीक बैठ जाता है, और "असि" शब्द क्रियावाचक भावबोधक होता हुआ उनके साथ अन्वित हो जाता है।

अब बात विचारणीय यह रह जाती है कि "तत्" पद से आत्मा पद का परामर्श किया जावे अथवा "ऐतदात्म्यम्" का। इस विषय को भी उपनिषत्कार ऋषि के यथाश्रुत शब्दों से ही निर्णय करने में कोई कठिनाई नहीं पड़ती। इन दोनों शब्दों में से एक "आत्मा" पुंल्लिङ्ग है, और दूसरा ऐतदात्म्यम्" नपुंसक लिङ्ग है। परामर्श करने वाला "तत्" शब्द भी नपुंसकलिङ्ग ही है, इसलिए तत् शब्द से "ऐतदात्म्यम्" शब्द का ही परामर्श होगा, पुंल्लिङ्ग होने से आत्मा का नहीं, और परामर्श करने के बाद अन्वयबोध करते समय कोई कठिनाई भी न होगी क्योंकि ब्रह्म जीव के अन्दर व्यापक है ही और इस व्यापकता का ही बोध "त्वम्" के साथ "ऐतदात्म्यम्" का अन्वय करने से होगा और किसी अर्थ का नहीं। इसलिए जीव और ब्रह्म का अभेद सिद्ध नहीं होता और इसीलिए जीव अणु ही है व्यापक नहीं।

सुषुप्ति तथा प्रलय में आत्मा को कोई ज्ञान नहीं होता तो क्या उस समय वह ज्ञान से रहित ही होता है? और यदि हाँ, तो फिर यह उसका स्वाभाविक गुण कैसा? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"यावदात्मभावित्वाच्च दोषस्तद्दर्शनात्"। ३०

(आत्मा का गुण ज्ञान सदा उसके साथ ही रहता है अतः सुषुप्ति तथा प्रलय में भी यह चैतन्य उसी में रहता है इसलिये कोई दोष नहीं) हाँ उसके अपने ज्ञान के प्रकाश से जो विषयों का भानरूपी ज्ञान जागते हुए हुआ करता है, वह सुषुप्ति में नहीं होता, क्योंकि उस समय तमोगुणप्रधान अवस्था होने के कारण वह अपने साधन इन्द्रियों और मन से उपयोग नहीं ले सकता। मनुष्य को जगने पर यह स्मृति हुआ करती है कि मैं आज सुख से सोया, यह सुषुप्ति में सुख से सोने की स्मृति सुषुप्ति

में हुए किसी अनुभव के बिना नहीं हो सकती, और वह अनुभव उसके आत्मा को उसके चैतन्य के बिना नहीं हो सकता, अतः आत्मा का ज्ञान सुषुप्ति में भी उसके साथ विद्यमान था और प्रलय में भी। क्योंकि प्रलय के बाद सृष्टिकाल में जब जीव योनि में आता है उसी प्रकार विज्ञान का कार्य आरम्भ हो जाता है, और विषयों के अनुभव होने लगते हैं, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि प्रलय में भी जीव के पास उसका अपना ज्ञान सुरक्षित था, जिससे कि वह सृष्टि के आरम्भ में ही काम लेने लग गया।

तपश्चर्या तथा योग समाधि आदि से जब जीव का ज्ञान बढ़ता है तो उसमें इस नवीन ज्ञान की वृद्धि का क्या प्रकार है क्योंकि नित्य वस्तु में किसी भी नये तत्व का समावेश नहीं हो सकता इसके उत्तर में लिखते हैं कि—

"पुँस्त्वादिवत्त्वस्य मतोऽभिव्यक्तियोगात्"। ३१

आत्मा के ज्ञान में कोई वृद्धि नहीं होती। उसका ज्ञानरूपी प्रकाश जहाँ तक उसकी शक्ति है सदा ही विस्तृत रहता है। केवल साधनों के अभाव से उसकी अभिव्यक्ति न होने के कारण वह प्रकट नहीं होता। तपश्चर्या तथा योग आदि साधनों से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है। जैसे कि मनुष्यों में बाल्य अवस्था में पुरुषत्व शक्ति विद्यमान हो होती है परन्तु उस समय उसके विकास के साधन न होने से वह प्रकट नहीं होती। जब युवा अवस्था में विकास के साधन सञ्चित हो जाते हैं तब वह प्रकट हो जाया करती है, अतः तपश्चर्या तथा योगादि साधनों से जीव के विद्यमान विज्ञान का विकास होता है नई उत्पति नहीं। इसलिए कोई दोष नहीं।

यदि ब्रह्म से भिन्न अणु आत्मा न मानकर सब शरीरों में एक ही व्यापक आत्मा मान लिया जावे तो क्या क्षति है? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"नित्योपलब्ध्यनुपलब्धिप्रसङ्गोऽन्यतरनियमो वान्यथा।" ३२

(ऐसी अवस्था में तो आत्मा की उपलब्धि (ज्ञान) अर्थात् मोक्ष तथा अनुपलब्धि (अज्ञान) अर्थात् बन्ध प्रत्येक जीव को सदा ही प्रतीत होने चाहिएँ, क्योंकि वह आत्मा सब शरीरों में तथा शरीरों से बाहर मुक्तों तथा अमुक्तों में भी एक ही है। इसलिए वह किसी स्थान से बद्ध हुआ और किसी स्थान से मुक्त, कोई भाग उसका ज्ञानी हुआ और कोई अज्ञानी। इस प्रकार ये दोनों अवस्थाएँ अपने अन्दर उसे हर समय प्रतीत होनी चाहिएँ, अथवा बन्ध और मोक्ष, ज्ञान और अज्ञान, इन दो जोड़ों में से एक एक चीज़, अर्थात् मोक्ष और ज्ञान अथवा बन्ध और अज्ञान, इनमें से किसी एक का नियमित संस्थान उसमें मानना पड़ेगा, इसके अतिरिक्त और कोई चारा नहीं, परन्तु ये दोनों ही अवस्थाएँ उसके अन्दर मानी नहीं जा सकती क्योंकि न तो आत्मा अपने अन्दर एक ही काल में बन्ध और मोक्ष का अर्थात् दुःख और सुख का अनुभव करते हुए दिखाई देते हैं, और न कोई सदा बद्ध ही, अथवा मुक्त ही, अर्थात् दुःखी ही अथवा सुखी ही देखने में आता है। अतः सब शरीरों में व्यापक एक आत्मा नहीं माना जा सकता। आत्मा सब शरीरों में भिन्न भिन्न हैं और अणु होते हुए प्रत्येक शरीर के हृदय देश में रहते हैं। हम समझते हैं कि इस विषय को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है अतः अधिक न कह हम अपने भाषण को यहीं विराम देते हैं।

आत्मबोध—पूज्य महर्षे! आपने युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा इस गम्भीर विषय का जितनी सरलता और सुन्दरता के साथ निरूपण किया है यह आप का ही भाग था। इसके लिए हम लोग

आपके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। अब मैं प्रधान जी की आज्ञानुसार पूज्य महर्षि जैमिनि जी की सेवा में सविनय प्रार्थना करूँगा कि वे भी अपने विचार इस विषय पर प्रकट कर हमें अनुगृहीत करें।

म० जै०—महात्मन्! आपकी प्रेरणा के अनुसार मुझे दो शब्द कह देने में कोई आपत्ति नहीं। आप जानते ही होंगे कि यह विषय हमारे शास्त्र के अधिकार से बाहर की वस्तु है। वेद के एक भाग कर्मकाण्ड का स्पष्टीकरण करना ही हमने अपने जीवन का लक्ष्य बनाया हुआ है, यह विषय भ्राता व्यास देव जी के व्याख्यान से सम्बन्ध रखता है। अध्यात्मविषय के विवेचन का भार उन्होंने ही अपने कन्धों पर लिया हुआ है, और प्रस्तुत विषय का अपने वक्तव्य में स्पष्टीकरण भी उन्होंने भली भांति कर दिया है। वेद के ही दो भागों का हम दोनों ने पृथक् पृथक् व्याख्यान किया है, इस नाते से हमारा और उनका तन्त्र समान ही है, अतएव मैं उनके वक्तव्य का अनुमोदन करता हुआ अपने कथन को यहाँ ही समाप्त करता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षे! आपने महर्षि व्यासदेव जी के वक्तव्य का अनुमोदन कर उनके निर्णीत किये हुए विषय की हमारे हृदयों में जमी हुई धारणा को और भी पुष्ट कर दिया है, इसलिए हम लोग आपके कृतज्ञ है। इसके बाद मैं तार्किक शिरोमणि पूज्यपाद महर्षि कणाद जी से प्रार्थना करूँगा कि वे इस विषय पर अपने शास्त्र के आधार पर प्रकाश डाल हमें अनुगृहीत करें।

म० क०—उपस्थित विद्वन्मण्डल तथा जिज्ञासु सज्जनो! यद्यपि वैशेषिक दर्शन में इस विषय का स्पष्टीकरण हमने भलीभांति कर दिया है, परन्तु फिर भी आपकी प्रेरणानुसार हम इस विषय का निर्णय करते हुए आत्मा के अणु परिमाण का ही समर्थन करते हैं।

वि० बो०—भगवन्। आपने अपने दर्शन में लिखा है।

"विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा" (वै० अ० ७ आ० १ सू० १२)

(आकाश व्यापक और महान् है और इसी प्रकार आत्मा भी), इस प्रकार आपके इस लेख से तो आत्मा व्यापक सिद्ध होता है अणु नहीं।

म० क०—हाँ इस ग्रन्थका गहराई में जाकर अध्ययन किये बिना स्थूल दृष्टि से इस सूत्र का अर्थ यह ही प्रतीत होगा। परन्तु वस्तुतः इस सूत्र का भाव और है। जिस अणुवाद का हमने समर्थन किया है उसी का प्रतिपादन इस शास्त्र में किया गया है, इसके लिए हम आपको इस ग्रन्थ का एक प्रकरण सुनाते हैं।

"आत्मसंयोगप्रयत्नाभ्यां हस्ते कर्म" (अ० ५ आ० १ सूत्र १)

कोई आदमी मूसल हाथ में लेकर ओखली में धान कूट रहा है, मूसल को ओखली में मारते समय उसके हाथ में क्रिया की उत्पत्ति के साधनों का वर्णन इस सूत्र में किया गया है, कहा गया है कि आत्मा के प्रयत्न और संयोग से हाथ में क्रिया उत्पन्न होती है।

हाथ में क्रिया तो प्रयत्न और आत्मा के संयोग से होगई, परन्तु मूसल में क्रिया का साधन क्या है? इसके उत्तर में लिखते हैं।

"तथा हस्तसंयोगान् मुसले कर्म" (२)

(इसीप्रकार हाथ के संयोग से मूसल में क्रिया उत्पन्न हुई)

फिर जब कि मूसल ओखली की चोट खाकर ऊपर की ओर उछला तो उस मूसल की क्रिया में क्या साधन है ? क्या प्रयत्न वाले हाथ का संयोग ही इस क्रिया में भी कारण है ? इसके उत्तर में लिखते हैं —

"अभिघातजे मुसलादौ कर्मणि व्यतिरेकादकारणं हस्तसंयोगः" (३)

मूसल आदि की यह क्रिया ओखली के साथ हुए प्रबल संयोग रूप अभिघात से उत्पन्न होती है, अतः पहले की तरह प्रयत्न वाले हाथ का संयोग इस क्रिया में कारण नहीं क्योंकि यह क्रिया उलटी है।

मूसल के ऊपर की ओर उछलने से जो अब हाथ में क्रिया उत्पन्न हुई है, क्या उसका कारण भी प्रयत्न वाले आत्मा का हाथ से संयोग ही है ? इसके उत्तर में लिखते हैं—

"तथाऽऽत्मसंयोगो हस्तकर्मणि" (४)

(इसी प्रकार इस बार की हाथ की क्रिया में भी आत्मा का संयोग कारण नहीं)

"अभिघातान्मुसलसंयोगाद्धस्ते कर्म" (५)

इस बार ओखली के अभिघात से मूसल में क्रिया उत्पन्न हुई है, और उस क्रियावान् मूसल के संयोग से हाथ में क्रिया उत्पन्न हुई है।

"आत्मकर्म हस्तसंयोगाच्च" (६)

(और इस क्रियावान् हाथ के संयोग से आत्मा में क्रिया उत्पन्न हुई है) इस प्रकरण के इस अन्तिम सूत्र का भाव सुनकर आप समझ गये होंगे कि हमने स्पष्ट शब्दों में आत्मा में क्रिया को स्वीकार किया है यदि हम आत्मा को विभु मानते होते तो उसमें क्रिया का स्वीकार कभी न करते, क्योंकि मध्यम अथवा अणु परिमाण वाली वस्तु में तो क्रिया का होना सम्भव है क्योंकि वह हिल-जुल सकती है, और इधर-उधर आ जा सकती है, परन्तु एक विभु परिमाण वाले पदार्थ में क्रिया का होना सर्वथा असम्भव है, और यहाँ हमने आत्मा में क्रिया मानी है अतः उसका परिमाण अणु ही मानना पड़ेगा और कुछ नहीं। क्योंकि मध्यम परिमाण मानने पर आत्मा को विनाशी मानना पड़ जावेगा जो कि हमारे सिद्धान्त के विरुद्ध है।

इसी विषय को एक दूसरे प्रकरण में भी हमने ध्वनित किया है उसे भी सुनिये—

साधर्म्य वैधर्म्य के प्रकरण में कुछ पदार्थों का वैधर्म्य (जो धर्म उसमें न रहता हो) कहते समय लिखा है—

"दिक्कालावाकाशश्च क्रियावद्वैधर्म्यान्निष्क्रियाणि" (अ० ५ आ० २ सू० २१)

"एतेन कर्माणि गुणाश्च व्याख्याताः" (२२)

दिशा काल और आकाश ये तीनों क्रियावान् पदार्थों से विधर्मा हैं इसलिए इनमें क्रिया नहीं है। और इसी प्रकार कर्मों और गुणों में भी क्रिया नहीं है क्योंकि वे भी क्रियावान् पदार्थों से विधर्मा हैं। (२१.२२) यहाँ गुण और कर्म तो द्रव्यों में ही रहते हैं, इसलिए उनमें तो आना जाना आदि क्रियाओं का सम्भव ही नहीं, जिन द्रव्यों में वे रहते हैं उनमें क्रिया हो सकती है, गुणों में और कर्मों में नहीं, इसलिए इनमें क्रिया का निषेध किया गया है। दूसरे तीन पदार्थ दिशा, काल और आकाश

व्यापक हैं, उनमें क्रिया हो ही नहीं सकती, इसलिए उनमें भी क्रिया का निषेध किया गया। यदि और भी किसी द्रव्य में क्रिया न होती तो उस की भी गणना इन्हीं पदार्थों में कर देते, परन्तु ऐसा नहीं किया गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि और सब पदार्थ क्रिया वाले हैं और जिनमें क्रिया है, उन्हें व्यापक माना नहीं जा सकता। आत्मा भी उन तत्वों में से ही एक है जिनमें कि क्रिया मानली गई है। और जब कि उसमें क्रिया है तो वह व्यापक हो नहीं सकता, अतः उसका परिमाण इस प्रकरण में भी अणु ही माना गया है।

वि० बो०—भगवन्! ठीक है। आप के इन दोनों प्रकरणों से आप के शास्त्र के अनुसार आत्मा अणु ही सिद्ध होता है, परन्तु आप ने हमारे पूर्व दिये हुए उद्धरण के अनुसार अपने इसी शास्त्र के एक सूत्र में आत्मा को आकाश की तरह व्यापक भी कहा है इसका क्या तात्पर्य है?

म० क०—महात्मन! आप के कथन का तात्पर्य हम समझ गये, आप इस शास्त्र में दो विरोधी सिद्धान्तों के वर्णन का निर्देश कर रहे हैं, परन्तु इसके साथ ही आप इस ओर भी अवश्य ध्यान देंगे कि साधारण मनुष्य भी अपने कथन को विरोध से बचाने का यत्न करता है तो फिर एक दार्शनिक इतने बड़े विरोध को अपने कथन में अथवा लेख में कैसे स्थान दे सकेगा?

महात्मन्! यदि जीवात्मा को ही विभु कहना होता तो दिशा, काल और आकाश के साथ ही विभुद्रव्यों के मुख्य प्रकरण में ही उसका भी उल्लेख कर दिया जाता, परन्तु ऐसा किया नहीं गया, इससे स्पष्ट सिद्ध है कि यह उल्लेख जीवात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में नहीं एक दूसरे आत्मा परमात्मा के परिमाण के सम्बन्ध में है।

वि० बो०—भगवन्! आप तो परमात्मा मानते ही नहीं क्योंकि पदार्थ गणना में उसका कहीं नाम ही नहीं आया।

म० क०—महात्मन्! ऐसी बात नहीं, परमात्मा का नाम पदार्थ गणना में आया है, सूत्रकार अपने लेख को अधिक से अधिक संक्षिप्त करने का साधन ढूँढा करते हैं और इसीलिए एक एक अक्षर की बचत को भी वे बड़ा महत्त्व दिया करते हैं, जब कि एक आत्मा कहने से ही दोनों आत्माओं का नाम निर्देश समझा जा सकता है तो दूसरी बार परमात्मा शब्द को लिखने का क्या अवश्यकता थी। हमारे समान तन्त्र, महर्षि गौतम के ग्रन्थ न्याय में भी आप इसी प्रथा को प्रचलित देखेंगे, उन्होंने भी प्रमेय पदार्थों में केवल आत्मा को गिनाया है और इस एक ही शब्द से परमात्मा का भी निर्देश समझ लिया गया है। कहीं कोई यह आशङ्का करे कि वे भी ईश्वर को न मानते होंगे, सो ऐसी बात नहीं। उन्हों ने भी प्रसङ्गवश परमात्मा के कार्य को बतलाते हुए अपने शास्त्र में ही अन्यत्र लिखा है ("ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्" न्याय अ० ४ सू० १९)।

(ईश्वर जगत् का कारण है क्योंकि पुरुष के कर्म का उसकी सहायता के बिना फल नहीं मिल सकता) इस प्रकार पदार्थगणना में परमात्मा का पृथक् उल्लेख न करते हुए भी उसका विशेष कार्य बतलाते हुए इस प्रकरण में उन्होंने उसे प्रकट कर दिया है इसी प्रकार हमने भी पदार्थगणना में उसे आत्मा शब्द से ही लिखकर "विभवान् महानाकाशस्तथा चात्मा" (आकाश व्यापक और उसी की तरह आत्मा अर्थात् परमात्मा भी व्यापक और महान् है) इस सूत्र में उसे सर्वत्र व्यापक बतलाते हुए उसका पृथक् उल्लेख कर दिया है। उसके इस परिमाण का निदर्शन कर देने मात्र से

ही मनुष्य को उससे प्राप्त होने वाले लाभों की ओर ध्यान दिलाने का संकेत है। इस संकेत से समझे जाने वाले लाभ निम्नलिखित तथा अन्य भी हो सकते हैं।

(१) आत्मा को अपनी आत्मा में समझने वाला मनुष्य उस प्रभु को द्रष्टा जान पाप की ओर पग बढ़ाने से बच सकता है।

(२) उसे सर्वत्र व्यापक समझने वाला मनुष्य उसे अपने हृदय में भी विद्यमान जान कर कहीं और ढूँढने की निष्फल चेष्टा न करेगा।

(३) उसे अपनी आत्मा में जानने वाला मनुष्य इतने विशाल विज्ञान और आनन्द के भंडार महान् कोश के अपनी आत्मा में विराजमान होते हुए भी, मैं दु:खी तथा निर्धन क्यों रहूँ, यह समझता हुआ उसके उस महान् कोश को प्राप्त करने की चेष्टा करेगा।

इस प्रकार जगन्नियन्ता सब कल्याणों के भण्डार भगवान् की समीपता से लाभ उठाने वाला मनुष्य अपने सारे ही दोषों के परिहार और उस प्रभु के अनेक पवित्र गुणों के दृश्य को लक्ष्य में रख उन्हें अपने आत्मा में संग्रह करने का प्रयत्न करता हुआ अपने आप को मोक्ष के प्रधान द्वार तक ले जा सकेगा। इस दृष्टि से भगवान् के इस एक ही गुण विभु परिमाण का यहाँ अनेक लाभों को ध्यान में रखते हुए प्रसंगवश उल्लेख कर दिया है। मैं समझता हूँ कि मेरे भाषण से आप का समाधान हो गया होगा, अतः मैं अपने प्रवचन को यहीं समाप्त करता हूँ।

आ० बो०—सभासद् वृन्द! आपने पूज्यपाद महर्षि कणाद का सारगर्भित भाषण ध्यान पूर्वक सुना है। आज तक लोगों को जो यह भ्रम था कि महर्षि कणाद आत्मा को व्यापक मानते हैं और ईश्वर का उन्होंने कहीं निरूपण नहीं किया, वह भ्रम आपके आज के भाषण से दूर हो गया। न्याय शास्त्र के रचयिता भगवान् अक्षपाद महर्षि को भी आप सब लोग भली-भांति जानते हैं। आपका शास्त्र ही तो सब व्यवहारों, सब विद्याओं और सब शास्त्रों का आधार भूत है। अतः अब आप भगवान् अक्षपाद महर्षि के विचार प्रेम से सुनिये। मैं महर्षि जी से प्रस्तुत विषय पर अपने विचार प्रकट करने के लिए प्रार्थना करता हूँ—

अ० पा० म०—महात्मन्! मुझे विचार प्रकट करने में तो कोई आपत्ति नहीं, परन्तु भाई कणाद जी जो कुछ कह चुके हैं, मेरे भाषण का भी लगभग वह ही विषय हो सकता है, क्योंकि उनका और हमारा तन्त्र समान है।

अ० बो०—भगवन्! महर्षि कणाद छः पदार्थ मानते हैं और आप सोलह। इस मतभेद के होते हुए आपका और उनका समान तन्त्र कैसे हुआ?

अ० पा० म०—महात्मन्! सोलह में छः अन्तर्भूत हैं और छः में सोलह। पदार्थ दोनों शास्त्रों में ही माने गये हैं। अन्तर केवल उनके विभाग करने में हैं और इस अन्तर से सिद्धान्त में कोई दोष नहीं आता। एक ही विषय का वर्णन कई प्रकार से किया जा सकता है। आप यदि गहराई में जाकर देखेंगे तो पता लगेगा कि सब दर्शन एक ही विषय का विभिन्न शैलियों से वर्णन कर रहे हैं।

वि० बो०—भगवन्! आप आत्मा को व्यापक मानते हैं और महर्षि कणाद अणु। कहिए इस मतभेद का क्या प्रतीकार होगा?

अ० पा० म०—आप ने यह कैसे जाना कि भाई कणाद आत्मा को अणु मानते हैं ?

वि० बो०—इसी प्रकार, कि वे आत्मा में क्रिया मानते हैं।

अ० पा० म०—और यह कैसे समझा कि हम आत्मा में क्रिया नहीं मानते ? आपने न्याय दर्शन पढ़ा होगा और आप यह जानते होंगे कि हमने प्रमेय का विभाग करते हुए बारह प्रमेय माने हैं। उन बारह में से एक प्रमेय प्रेत्यभाव भी है। आप यह भी जानते होंगे कि प्रेत्यभाव आत्मा का होता है। आप इस शब्द के "प्रेत्य" अंश पर विशेष ध्यान दीजिए यह शब्द प्र उपसर्ग इण् धातु और [क्त्वा] ल्यप् प्रत्यय के प्रयोग से बना है। 'इण' धातु का अर्थ गति है और गति का अर्थ है क्रिया और प्र शब्द के साथ जोड़ देने से "प्रेत्य" शब्द का अर्थ 'प्रकृष्ट क्रिया करके' ऐसा हो जाता है। आपने कहा था कि महर्षि कणाद आत्मा में क्रिया मानते हैं। देखिए हम तो आत्मा में क्रिया ही नहीं प्रकृष्ट क्रिया अर्थात् विशेष क्रिया मानते हैं। इस विशेष क्रिया का नाम है "परायण" अर्थात् इस शरीर को छोड़कर जाना। प्रेत्यभाव शब्द का दूसरा अंश है भाव, इसका अर्थ है 'होना' अर्थात् दूसरे शरीर में आना, इन दोनों अर्थों को मिलाकर इस शब्द का अर्थ जाना आना अर्थात् आवागमन हो जाता है। अब तो आप समझ गये होंगे कि हम भी आत्मा को क्रियावान् मानते हैं और इसीलिए हमारे मत में भी आत्मा का परिमाण अणु ही है।

वि० बो०—हाँ महाराज ! ठीक समझ गया परन्तु अब तो मैं एक और उलझन में पड़ गया।

अ० पा० म०—कैसी उलझन ?

वि० बो०—देखिये, आपने एक स्थान पर प्रसङ्ग चलाया है कि आत्मा को जो ज्ञान होता है उसके संस्कार उसमें रह जाते हैं और उन संस्कारों से आत्मा और मन के संयोग द्वारा स्मरण हुआ करता है। इससे आगे चलकर कहा कि यह संयोग जब तक किसी कारण से नष्ट नहीं कर दिया जाता, आत्मा में ही बना रहता है और इसी आधार पर यह शङ्का की कि जब सब संस्कार आत्मा में ही हैं तो आत्मा के साथ मन का संयोग होते ही सारे संस्कारों से एक ही काल में सब स्मृतियें क्यों नहीं हो जातीं ? इसके उत्तर में किसी एकदेशी ने कहा कि—

"ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः" (न्याय० ३. २. २५)

(शरीर से बाहर या अन्दर आत्मा के जिस २ भाग से संस्कार सम्बन्धित हैं उस ही भाग से मन का संयोग होने पर स्मृतियें होती हैं, नहीं तो नहीं, और यह ही कारण है कि सब स्मृतियें एक काल में नहीं होतीं। आपने इस एकदेशी का खण्डन करते हुए यह तो कहा कि मन शरीर के बाहर काम नहीं कर सकता परन्तु यह नहीं कहा कि आत्मा शरीर के बाहर नहीं हैं, फलतः आपने आत्मा को शरीर से बाहर भी मान लिया, और बाहर मान लेने का अर्थ हो जाता है व्यापक मान लेना। अब एक ओर तो आप आत्मा में गमनागमन क्रिया मानकर उसे अणु मानते हैं और दूसरी ओर उसे व्यापक भी स्वीकार करते हैं, यह कैसे ? यह है मेरी उलझन।

अ० पा० म०—आप की उलझन ठीक है। अब इस उलझन को सुलझाने के लिए मैं आपके सामने न्याय और वैशेषिक की एक और उलझन रखने लगा हूँ।

आप यह जानते होंगे कि ये दोनों शास्त्र ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि को आत्मा के गुण मानते हैं।

वि० बो०—जी हाँ।

अ० पा० म०—और आप यह भी जानते होंगे कि मुक्त होने पर आत्मा में इन सारे ही गुणों का अभाव मानते हैं।

वि० बो०—हाँ यह भी जानता हूँ।

अ० पा० म०—अब आप इन दोनों सिद्धान्तों के समन्वय की ओर ध्यान दें। आत्मा नित्य है और नित्य पदार्थ के गुण नित्य ही हुआ करते हैं, अतः ज्ञान, इच्छा आदि यदि आत्मा के गुण हैं तो उन्हें मुक्ति में भी नष्ट न होना चाहिये, जैसे कि घड़े के रहते हुए घड़े का रूप। और यदि ये इच्छा द्वेष आदि गुण मुक्ति में भी आत्मा में बने रहें तो वह उसकी मुक्ति कैसी? यह ही शङ्का संस्कारों और वासनाओं के सम्बन्ध में भी की जा सकती है, एक दूसरी उलझन है जिसका सुलझना आवश्यक है और जिसके सुलझने ही आपकी वह पहली उलझन अपने आप सुलझ जावेगी। मैं इसे सुलझाने का यत्न करता हूँ। आप मेरे विचारों को ध्यान से सुनने का यत्न कीजिए।

महात्मन्! आत्मा अणु ही है। उसे हम चेतन अर्थात् ज्ञानवान् मानते हैं। जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश है उसी प्रकार ज्ञान भी आत्मा का प्रकाश है और जिस प्रकार सूर्य का प्रकाश उसके बिम्ब से निकल कर चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला हुआ है उसी प्रकार आत्मा का प्रकाश भी उसके चारों ओर एक निश्चित केन्द्र में फैला रहता है। अपने शरीर से बाहर निकलकर चारों ओर फैलते हुए इस प्रकाश ने कितने क्षेत्र को घेरा है, इसके उत्तर में निवेदन है कि इस परिधि को निर्धारित नहीं किया जा सकता, परन्तु यह कहा जा सकता है कि यह प्रकाश सर्वव्यापक नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा अल्पज्ञ है। इसी प्रकाश के द्वारा विषयों के संसर्ग से और मन की सहायता से विषयों के ज्ञान और इच्छा, द्वेष आदि गुण इस प्रकाश से ही प्रकट होते हैं और फिर विरोधी अवस्थाओं को पाकर नष्ट भी हो जाते हैं, परन्तु इनके उत्पन्न और नष्ट होते समय प्रकाश के आधार आत्मा में कोई विकार नहीं आता जैसे कि सूर्य के प्रकाश में विकार आने पर भी सूर्य के बिम्ब पर उसका कोई प्रभाव नहीं। विभिन्न प्रकार के संसर्गों से इस पर कई प्रकार के संस्कारों का संचार होता रहता है और यह संस्कार प्रकाश में ही होता है बिम्ब में नहीं। जिन महात्माओं ने सत्सङ्ग तपश्चर्या, योग समाधि आदि के प्रभाव से कुसंस्कारों को हटाकर इसे पवित्र संस्कारों से पूर्ण कर दिया है उनके समीप आने वाले जिज्ञासु साधारण लोग भी उनके इस प्रकाश के ही प्रभाव से कुमार्ग को छोड़ कर सुमार्ग पर चल पड़ते हैं। इसी भाव को प्रकट करने के लिये महर्षि पतञ्जलि ने लिखा है—

"अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः"

(अहिंसा की प्रतिष्ठा हो जाने पर उसके पास आते ही परस्पर विरोधी लोगों के विरोध छूट जाते हैं) अहिंसक मनुष्य के पास पहुंचने मात्र से विरोध कैसे छूट जावेंगे? इस प्रश्न का उत्तर ऊपर की पंक्तियों में ही दिया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि जिस महात्मा के पास वे लोग आये हैं उसके ज्ञान का प्रकाश उसके चारों ओर फैला हुआ है और अब उसमें से हिंसा की भावनाओं को उनके स्थान पर करुणा और प्रेम की भावनाओं का संचार किया जा चुका है आगन्तुक लोगों के संस्कार यद्यपि इन संस्कारों के विपरीत हैं परन्तु शाण पर लगाई हुई तलवार की भांति महात्मा के ज्ञान के संस्कार तीक्ष्ण तथा प्रभावशाली हैं, अतः उस प्रकाश के प्रभाव में आते ही इनके संस्कार दब जाते हैं और

प्रेम भावनाओं को प्रकट होने का अवसर मिल जाता है। यह ज्ञान का प्रकाश और अन्तःकरण मिले-जुले होते हैं और इसके परिवर्तन के साथ साथ उनमें भी परिवर्तन होता रहता है। आगन्तुक लोगों के ऊपर यह प्रभाव अस्थिर रूप से हुआ है और तब तक ही रहता है जब तक कि ये इसके प्रकाश में हैं। हाँ यदि ये बहुत देर तक इसके पास आते रहें और स्वयं उस ओर चलने का अभ्यास करते रहें तो यह प्रभाव स्थिर हो सकता है।

यह प्रकाश सदा आत्मा के साथ रहने वाला है, इसलिये यह ही आत्मा का स्वाभाविक गुण चैतन्य है। विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान इच्छा आदि नैमित्तिक गुण हैं यह ही कारण है कि मुक्ति के समय आत्मा का यह स्वाभाविक गुण जो चैतन्य है इसके साथ रह जाता है और विषयों के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि सब नैमित्तिक गुण समाप्त हो जाते हैं। परन्तु हमारे पूर्व कथन के अनुसार चैतन्य के आधार आत्मा पर इनके विनाश का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सम्भव है अब आप समझ गये होंगे कि आत्मा का परिमाण अणु है, उसका स्वाभाविक ज्ञानरूपी प्रकाश इसके शरीर में से होता हुआ बाहर तक फैला हुआ है और यह प्रकाश मुक्ति के समय भी इसके साथ रहता है।

एकदेशी के इस कथन का कि (स्मृति के समय मन का संयोग आत्मा के बाहर के प्रदेश से भी होता है क्योंकि स्मृतियों के लिये संस्कार जहाँ भी हो उसके साथ संयोग का होना आवश्यक है) हमने इस अंश में तो खण्डन किया है कि मन बाहर जाकर आत्मा के बाहर वाले संस्कृत प्रदेश से सम्बन्ध करे, परन्तु आत्मा के बाहर के प्रदेश की सत्ता का हमने निषेध नहीं किया कारण यह ही था कि हम आत्मा के ज्ञान का प्रकाश शरीर से बाहर भी मानते हैं, आशा है अब आपकी उलझन का समाधान हो गया होगा।

वि० बो०—भगवन् यह तो समाधान हो गया परन्तु आपके इस समाधान से एक और शङ्का उठ खड़ी हुई।

अ० पा० म०—वह क्या ?

वि० बो०—वह यह कि आपने आत्मा के गुण ज्ञान को आत्मा से बाहर भी शरीर में तथा शरीर से भी बाहर तक फैला हुआ कह दिया है। और गुण की सत्ता गुणी से बाहर होती नहीं। जैसे कि फूल का रूप फूल से बाहर नहीं रह सकता।

अ० पा० म०—यह ठीक है कि बहुत से गुण गुणी से बाहर नहीं रह सकते। परन्तु प्रकाश गुण का ऐसा स्वभाव है कि वह गुणी से बाहर रह सकता है। जैसे कि सूर्य का प्रकाश और हीरे का प्रकाश अपने गुणी से बाहर रहते हैं। और इस विषय पर महर्षि व्यासदेव जी पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं। उनका प्रवचन मैंने और आपने सुना ही है अतः फिर उसी के दुहराने की आवश्यकता प्रतीत नहीं होती। अतः हम अपने इस प्रवचन को यहीं समाप्त कर अपना आसन ग्रहण करते हैं।

आ० बो०—भगवन्! इस विषय पर आपके भाषण से पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बहुत से लोगों के भ्रम दूर हो गये हैं। हम सब आपके कृतज्ञ हैं कि आपने अपने शास्त्र का सार बतला कर हमें अनुगृहीत किया है। सभ्यवृन्द! विस्तार से पदार्थ गणना का जिन्हें श्रेय प्राप्त है और जिनके युक्ति सङ्गत पदार्थ विभाग का धर्म शास्त्रों तथा प्राचीन ग्रन्थों ने आश्रय लिया है। वे हम सब के पूज्य महर्षि

कपिलदेव भी आज हमारे मध्य वर्त्तमान हैं, अब आप उनके वचनामृत का पान कीजिये। मैं महर्षि जी से प्रार्थना करूँगा कि वे अपना भाषण आरम्भ कर अनुगृहीत करें।

म० क० दे०—उपस्थित सभ्यगण ! आपने महर्षियों तथा महापुरुषों के प्रवचन सुने हैं। मन्त्रीजी की प्रेरणा के अनुसार हम भी अपने विचार प्रकट करने से पहिले प्रस्तुत विषय में अपनी सम्मति प्रकट कर देना उचित समझते हैं।

और वह यह है कि अन्य ऋषियों की भांति हम भी जीव का परिमाण अणु ही मानते हैं।

वि. बो.—भगवन् ! आपके शास्त्र में तो आत्मा को विभु माना गया है, आप उसे अणु कैसे कह रहे हैं। देखिये आपने पहिले ही अध्याय में लिखा है "निष्क्रियस्य तदसम्भवात्" अर्थात् व्यापक होने से आत्मा में क्रिया नहीं है, अतः उसकी विशेष गति नहीं हो सकती।

म. क. दे.—महात्मन् ! ऐसी बात नहीं। यह सूत्र जिस प्रकरण का है उसमें और ही विषय है। हम वह सारा ही प्रकरण आपके परिचय के लिये उद्धृत किये देते हैं—

ऊपर से शून्यवादी के मत पर विचार चला आ रहा है। हमने उसके मत पर दो आक्षेप किये थे। एक यह कि आपकी शून्यता पुरुषार्थ नहीं हो सकती; क्योंकि प्रत्येक पुरुष सुखादि को आत्मनिष्ठ समझ कर ही पुरुषार्थ मानता है, और सब शून्य होने से न आपके मत में कोई आत्मा है और न सुख। और दूसरा यह कि सांवृतिक (व्यवहार) दशा में भी आप के मत में सब ही विज्ञान क्षणिक हैं स्थिर आत्मा कोई है नहीं, तो पुरुषार्थ प्राप्तिकी अभिलाषा कौन किस के लिये करेगा ? और किसी एक ने अभिलाषा की भी तो क्षणिक होने के कारण दूसरे क्षणमें उसके समाप्त होते ही यह अभिलाषा भी समाप्त हो जावेगी।

इसके उत्तर में क्षणिकवादी की ओर से हमने यह प्रश्न उठाया कि—यद्यपि हम व्यवहार दशा में विज्ञान को क्षणिक मानते हैं—परन्तु वह विज्ञान धारा एक स्थिर आत्मा का ही रूप धारण करले-ती है। क्योंकि पूर्व विज्ञान की सबही वासनाएं उत्तर विज्ञान में संक्रान्त होजाती हैं। और इसीलिये उसकी पुरुषार्थ प्राप्ति की अभिलाषा भी उसके साथ ही समाप्त नहीं होजाती, वह भी उत्तर विज्ञान में संक्रान्त होजाती है। इस प्रकार जब तक मोक्षलाभ होगा तब तक यह अभिलाषा उत्तरोत्तर विज्ञान में संक्रान्त होती ही चली जावेगी। "शून्य में पर्यवसान पुरुषार्थ नहीं कहा जा सकता", यह बात भी ठीक नहीं। विज्ञान के शून्य रूप में लीन होजाने पर सब दुःखों का अभाव होजावेगा, और सर्व दुःखाभाव से बढ़कर और क्या पुरुषार्थ हो सकता है। इसके उत्तरमें लिखा है—

न गतिविशेषात् । सां० १।४८ ।

आप पूर्व विज्ञान-वासना की उत्तर विज्ञान में संक्रान्ति कह रहे हैं। परन्तु वह हो नहीं सकती, क्योंकि, वासना में एक विज्ञान से दूसरे विज्ञान में जाने के लिये विशेष गति चाहिये—और—

निष्क्रियस्य तदसम्भवात् । ४९

निष्क्रिय वासना में गति असम्भव है। क्योंकि आपके मतानुसार उसका विज्ञान से अभेद है। और विज्ञान वहां ही समाप्त होजाता है।

और यदि उसका विज्ञान के साथ अभेद न मानकर उसे विज्ञान से भिन्न तथा गतिमान मानो तो—

मूर्तत्वाद्घटादिवत् समानधर्मापत्तावपसिद्धान्तः । ५० ।

उसे क्रियावान्, घट आदि वस्तुओं की तरह मूर्त द्रव्य मानना पड़ जावेगा । और आप विज्ञान से भिन्न और कोई वस्तु मानते नहीं अतः आप के सिद्धान्त की हानि होगी ।

क्या आप यह कहना चाहते है कि अमूर्त में क्रिया नहीं हो सकती ? हम कहेंगे कि यह बात ठीक नहीं । क्योंकि आप भी तो अपने अमूर्त ईश्वर में क्रिया मानते हैं—देखिये आपके वेदों में ही इसे स्वीकार किया है—"तद्धावतोऽन्यानत्येति" (वह दौड़ते हुए औरों से आगे निकल जाता है)—पूर्व पक्षी के इस आक्षेप का उत्तर देते हुए हमने लिखा है—

गतिश्रुतिरप्युपाधियोगादाकाशवत् । ५१ ।

ईश्वर में भी गति का श्रवण वास्तविक नहीं, उपाधि की गति के कारण है, जैसे कि आकाश में । चलता घट है परन्तु घटाकाश भी चलता प्रतीत होता है । इसी प्रकार दौड़ता मनुष्य है और उसके अन्दर प्रविष्ट ईश्वर दौड़ता प्रतीत होता है । अतः ईश्वर में गति नहीं ।

वि० बो०—भगवन् ! आपतो ईश्वर को मानते नहीं, फिर आपने ईश्वर को मानकर माध्यमिक का यह समाधान कैसे किया । आप सीधे कह सकते थे कि ईश्वर है नहीं ।

म० क० दे०—महात्मन् ! कोई भी वेदानुयायी अथवा तार्किक भी ईश्वर की सत्ता का निषेध कैसे कर सकता है । सारे वेद ही ईश्वर के गुणगान से भरे हुए हैं । किसीने हमारे शास्त्र के भाव को न समझ कर ऐसा कह दिया होगा ।

वि० बो०—भगवन् ! आपने तो स्पष्ट लिखा है—

ईश्वरासिद्धेः । सां० १–९२ ।

(ईश्वर की सिद्धि नहीं होती) ।

म०क०दे०—महात्मन् ! यह भी आप प्रकरण की सङ्गति को न देखकर समझ रहे हैं । इस सूत्र के व्याख्यान के लिये हम वह प्रकरण भी उद्धृत किये देते हैं—

प्रत्यक्ष प्रमाण के लक्षण का प्रकरण चला हुआ है । लक्षण में दिये गये अव्याप्ति अतिव्याप्ति आदि दोषों का उद्धार किया जा रहा है । एक दोष यह भी दिया गया है कि यह लक्षण ईश्वर विषयक प्रत्यक्ष में अव्याप्त है क्योंकि उसके साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध सम्भव नहीं । इसके उत्तर में लिखा है—

ईश्वरासिद्धेः । सां०१–९२

ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती । अतः वह प्रत्यक्ष के लक्षण का लक्ष्य ही नहीं है फिर अव्याप्ति कैसी ।

जिसका विवेकसाक्षात्कार से प्रत्यक्ष होता है वह चेतन शक्ति दो प्रकार की है, मुक्त और बद्ध, और—

मुक्तबद्धयोरन्यतराभावान्न तत्सिद्धिः । ९३ ।

ईश्वर मुक्त और बद्ध इन दोनों चेतनों में से एक भी नहीं वह स्वतन्त्र ही पृथक् आत्मा है, अतः उसकी प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि नहीं होती ।

यदि ऐसा माना जावे कि ईश्वर बद्ध अथवा मुक्त आत्मा में से कोई एक होगा तो—

"उभयथाप्यसत्करत्वम्" ६४

ये दोनों ही चेतन अल्पज्ञ हैं इन में से किसी का भी रूप उसे मान लिया गया तो वह भी अल्पज्ञ मानना पड़ेगा और ऐसी अवस्था में उसमें "असत्करत्व" दोष आ जावेगा अर्थात् वह इस सत् रूप जगत का कर्ता न हो सकेगा।

जीव-चैतन्य को भी तो उपनिषदों में कई स्थानों में विशाल ज्ञान का धनी कहा गया है। इसके उत्तर में कहते हैं—

"मुक्तात्मनः प्रशंसा उपासा सिद्धस्य वा" ६५

उपनिषदों में विशाल ज्ञान के धनी कहकर उन्हीं जीवों की प्रशंसा की गई है जो भगवान् के ज्ञान की सहायता से मुक्त हो गये हैं, अथवा ज्ञान के भण्डार भगवान् की उपासना से उसके समीप पहुँच कर उसके ज्ञान से मालामाल हो सिद्ध होगये हैं।

तात्पर्य स्पष्ट है कि जिसकी कृपा से इन्हें ज्ञान मिला है इस 'सत्' संसार का रचयिता वह ही होसकता है, इनमें वह शक्ति नहीं।

यदि ईश्वर जगत् का कर्ता है तो वह भी जगत् की रचना के लिये संकल्प आदि करेगा और ऐसी अवस्था में उसमें भी संकल्प आदि रूप परिणाम मानने पड़ जावेंगे। इस के उत्तर में लिखते हैं—

"तत्सन्निधानादधिष्ठातृत्वं मणिवत्" ६६

ईश्वर में संकल्पाद रूप परिणाम नहीं होते, उसकी सन्निधि मात्र से ही प्रकृति में परिवर्तन हो जाते हैं जैसे कि चुम्बक की सन्निधि से लोहे में क्रिया आरम्भ हो जाती है। और इसी प्रकार—

"विशेषकार्येष्वपि जीवनाम्" ६७

जिस प्रकार समष्टि जगत् की रचना के लिये ईश्वर में किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं, संसार के छोटे मोटे कार्य करने के समय जीव में भी किसी परिणाम की आवश्यकता नहीं। वह भी बुद्धि की पीठ के पीछे बैठा हुआ संन्निधि मात्र से ही सब कुछ करता रहता है।

वि० बो०—भगवन् ! आपने एक जगह तो जीव को ही सृष्टि का कर्ता मान लिया है जैसे कि—

स हि सर्ववित् सर्वकर्ता" अ० ३—५६

(वह सब कुछ जानने वाला और सब कुछ करने वाला है) और अब ईश्वर को जगत् का कर्ता बतला रहे हैं यह कैसी बात है ?

म०-क०-दे०—महात्मन् ! आपके ये विचार भी प्रकरण को न देखने के कारण बने हैं इस सूत्र के प्रकरण का भाव सुनिये—

प्रकृतिलीन पुरुष का उसके पुण्य कर्म समाप्त हो जाने पर जब प्रकृति से उत्थान होगा उसके उत्थान के लिये भी जगन्नियन्ता के यत्न की आवश्यकता है अथवा उपासना से सिद्ध अतएव विज्ञानवान् होने से वह स्वयं ही अपना उत्थान करेगा ? इसके उत्तर में कहते हैं—

"स हि सर्ववित् सर्वकर्ता अ० ३—५६

(अब तो वह अपने भूत भविष्यत् के विषय में सब कुछ जानता है और उसके अधिकार में जो कुछ है वह सब कुछ कर सकता है। अतः उसके उत्थान के लिये ईश्वर की कोई आवश्यकता नहीं।

यदि वह अपने आप में स्वतन्त्र और सर्वज्ञ हैं, तो एक प्रकार का ईश्वर ही हो गया, और प्रत्यक्ष प्रमाण से ईश्वर की सिद्धि का आप निषेध कर आये हैं तो इस ईश्वर ने अपने सारे कार्य-कलाप का तथा अपने स्वरूप का प्रत्यक्ष कैसे किया ? इसके उत्तर में लिखते हैं।

"ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा" अ० ३-५७

इस प्रकार के ईश्वर की प्रत्यक्ष प्रमाण से सिद्धि सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि परम पुरुष ईश्वर का प्रत्यक्ष जीव अपने साधनों से नहीं कर सकता परन्तु विज्ञान सम्पन्न होने पर आत्मा तथा अपने भविष्य का प्रत्यक्ष वह कर सकता है, इस प्रकृतिलय को ही पहिले उपासासिद्ध कह आये हैं।

वि०-बो०—भगवन् ? आपने एक स्थान पर कर्मफल का प्रदाता कर्म को ही कहा है। परन्तु ईश्वर को मानने वाले कर्मफल का प्रदाता ईश्वर को मानते हैं। इससे स्पष्ट सिद्ध है कि आप ईश्वर को नहीं मानते।

म०-क०-दे०—महात्मन् ! आप को यह प्रश्न भी प्रकरण पर ध्यान न देने से करना पड़ा है। प्रकरण पर ध्यान देते तो आप को वहाँ से ही उत्तर मिल जाता। इसे समझने के लिये भी उस प्रकरण का उल्लेख किये देते हैं।

ग्रन्थ के आरम्भ में ईश्वरस्तुतिरूप मङ्गल क्यों किया जाता है ? इस प्रश्न के उत्तर में लिखा गया है।

मङ्गलाचरणं शिष्टाचारात्फलदर्शनात् श्रुतितश्चेति। सां० ५-१।

ईश्वर की स्तुति करना शिष्टाचार से सिद्ध है, फल प्राप्त होता है और श्रुति भी इसका अनुमोदन करती है।

आपने ईश्वरस्तुतिरूप मङ्गल से फल की प्राप्ति कही है। परन्तु यह तो ठीक नहीं क्योंकि—

नेश्वराधिष्ठिते फलनिष्पत्तिः कर्मणा तत्सिद्धेः ॥२॥

यह ही वह सूत्र है जिसके आधार पर आपने प्रश्न किया है कि—"आप कर्म को ही फलदाता मानते हैं, ईश्वर को नहीं, अतः ईश्वर को नहीं मानते" आप के इस प्रश्न का समाधान प्रकरण के अनुसार इस सूत्र का अर्थ सुन कर ही हो जावेगा। अर्थ यह है कि-ईश्वर को अपना अधिष्ठाता अर्थात् स्वामी मान लेने मात्र से फल न मिलेगा। फल तो उसकी प्रेरणानुसार कर्म करने से मिलेगा।

फल यदि अपने कर्म के अनुसार ही मिलेगा तो ईश्वर से हमें तो कुछ लाभ न हुआ, तब क्या ईश्वर को उसके किसी उपकार के लिये अधिष्ठाता मानना पड़ता है, जैसे कि कई राजा अपने स्वार्थ के लिए लोगों पर अधिकार कर लेते हैं। इसके उत्तर में लिखते हैं—

स्वोपकारादधिष्ठानं लोकवत्। ३

हम ईश्वर को अधिष्ठाता उसके किसी उपकार के लिये नहीं, अपने ही उपकार के लिये मानते हैं। जैसे कि लोक में कर्मपरायण लोग अपने भले के लिये बड़ों को अपना नेता मान लिया करते हैं। उनके गुणों का अनुशीलन कर हम उनसे अलभ्य लाभ उठाया करते हैं।

यदि ईश्वर अपने उपकार के लिये हमारा अधिष्ठाता बनता तो वह—

लौकिकेश्वरवदितरथा। ४ ॥

फिर तो संसारी ईश्वर की तरह ही स्वार्थी होता।

पारिभाषिको वा ॥५॥

अथवा वह नाम मात्र का ईश्वर रह जाता। क्योंकि—

न रागादृते तत्सिद्धिः प्रतिनियतकारणत्वात् ।६।

अपने उपकार के लिये राग का होना आवश्यक है, क्योंकि राग उपकारसिद्धि का नियत कारण है। और यदि ईश्वर में भी राग है तो—

तद्योगेऽपि न नित्यमुक्तः । ७॥

और यदि ईश्वर में भी राग का योग है तो इस हेतु से भी वह नित्यमुक्त अर्थात् ईश्वर सिद्ध नहीं होता। अर्थात् स्वार्थ और राग दोनों ही ईश्वरत्व के विरोधी गुण हैं।

यद्यपि आपकी शङ्का का समाधान तो इन पंक्तियों से ही भली भांति हो गया होगा। परन्तु आप के इस भ्रम को दूर करने के लिये कि "हम ईश्वर को नहीं मानते" ईश्वरसिद्धि के और भी सूत्र उद्धृत किये देते हैं। इसी प्रसङ्ग में आगे चल कर शंका उठाई गई है कि ईश्वर प्रकृति के सङ्ग से संसार को उत्पन्न करता है या सन्निधि मात्र से, इसके उत्तर में लिखा है—

प्रधानशक्तियोगाच्चेत्सङ्गापत्तिः । ८

यदि वह प्रधान शक्ति के योग से संसार को उत्पन्न करता है तो ससङ्ग हो गया, असङ्ग न रहा।

सत्तामात्राच्चेत्सर्वैश्वर्यम् ।९

और यदि सत्ता मात्र से अर्थात् सन्निधि मात्र से संसार को उत्पन्न करता हैं तो सारे ही आत्मा ईश्वर हो जावेंगे, क्योंकि प्रकृति के पास सन्निधि तो सबकी ही समान है।

प्रमाणाभावान्नतत्सिद्धिः ।१०

सब जीवों के ईश्वर सिद्ध होने में कोई प्रमाण नहीं। तात्पर्य है कि प्रकृति के समीप होने से ही कोई ईश्वर अथवा जगत् का कर्ता नहीं हो जाता। जगत् का कर्ता बनने के लिये उसमें सर्वज्ञत्व, सर्वशक्तिमत्ता आदि और भी धर्म होने चाहियें और ये धर्म जीव में हैं नहीं, अतः ईश्वर ही जगत् का कर्ता है जीव नहीं। जैसे कि लोहे के पास यद्यपि और भी बहुत लोहे रक्खे हुए हैं, परन्तु चुम्बक ही उसे अपनी ओर खींचता है और नहीं।

सम्बन्धाभावान्नानुमानम् ।११

जीव में ईश्वरत्व की सिद्धि अनुमान से भी नहीं होती। क्योंकि अनुमान के लिये व्याप्ति नामक सम्बन्ध चाहिये और इस सम्बन्ध का ग्रहण होता है प्रत्यक्ष अथवा शब्द से। प्रत्यक्ष से तो जीव में सर्वज्ञत्व एवं ईश्वरत्व के विपरीत अल्पज्ञत्व सिद्ध है और शब्द प्रमाण कोई जीव को ईश्वर कहने वाला है नहीं। अतः प्रधान के कार्यों की रचना करने वाला ईश्वर ही है जीव नहीं, इस विषय को श्रुति भी प्रमाणित करती है इसके लिये लिखते हैं—

श्रुतिरपि प्रधानकार्यत्वस्य ।१२

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्व-

त्यनश्नन्यो अभिचाकशीति"।

(एक) प्रकृति नामक वृक्ष के साथ, ज्ञान और कर्म की उड़ान लेने वाली दो शक्तियों का सम्बन्ध है। उनमें से एक तो अपनी कर्म उड़ान के अनुसार कर्मफल का भोग करती है और दूसरी ज्ञान की उड़ान के अनुसार प्रकाशित होती हुई प्रकृति में से उन कर्मफल भोग के पदार्थों को प्रकाशित करती है—प्रकट करती है। यह श्रुति भी प्रधान के कार्यों की ईश्वर से रचना सिद्ध कर रही है।

मैं समझता हूँ अब आप को निश्चय हो गया होगा कि हम अनीश्वरवादी नहीं हैं।

वि० बोध—भगवन्! आप ने वेद के नित्यत्व को सिद्ध करते हुए लिखा है—

न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्। सां० ५।४६

वेद पौरुषेय नहीं हैं। क्योंकि उसका कर्ता पुरुष है ही नहीं। इस प्रकार इस सूत्र में आप ने वेद के कर्ता भगवान् का निषेध किया है।

म० क० दे०—महात्मन्! यह प्रतीति भी आप को प्रकरण के भली-भांति स्वाध्याय न करने से ही हुई है। हम यह भी सारा ही प्रकरण आप के ज्ञान के लिये उद्धृत किये देते हैं। यह प्रकरण निम्न-सूत्र से आरम्भ होता है—

"न नित्यन्वं वेदानां कार्यत्वश्रुतेः" सां० ५।४५।

श्रुति में वेदों को कार्य कहा गया है इसलिये वे नित्य नहीं हो सकते। श्रुति इस प्रकार है—

"तस्मात् तपस्तेपानात् त्रयो वेदा अजायन्त"।

इस ज्ञान रूपी तप को तपने वाले भगवान् से तीन प्रकार की विशेषताओं से सम्पन्न वेद उत्पन्न हुए।

तब क्या वेद पुरुष के बनाए हुए हैं?

"न पौरुषेयत्वं तत्कर्तुः पुरुषस्याभावात्"।

वेद पौरुषेय नहीं हैं क्योंकि उनका कर्ता कोई पुरुष नहीं है। परम ईश्वर भी नित्य होने के कारण उन्हें उत्पन्न नहीं करता, प्रकट करता है। जो श्रुति ऊपर दिखलाई गई उसमें भी "अजायन्त" पद का अर्थ उत्पन्न होना नहीं, प्रादुर्भाव होना ही है, क्योंकि "जनी" धातु का अर्थ प्रादुर्भाव ही है, उसी से यह शब्द बना है।

"न मुक्तामुक्तयोरयोग्यत्वात्" सां० ५।४७

वेद मुक्त अथवा अमुक्त पुरुष अर्थात् जीव के कहे हुए नहीं हो सकते क्योंकि वे अल्पज्ञ होने से अयोग्य हैं अतः उनका वक्ता परम पुरुष ईश्वर ही है।

"नापौरुषेयत्वान्नित्यत्वमंकुरादि वत्" सां० ५।४८

क्योंकि परम पुरुष रचित होने से अंकुरादि अनित्य हैं अतः वेद भी यदि उससे निर्मित हुए तो वे भी अनित्य ही होंगे, अतः वेद अपौरुषेय हैं और इसी लिए नित्य हैं। इसके उत्तर में कहते हैं "न" ईश्वर से रचित होने से भी वेद अनित्य नहीं हो सकते, क्योंकि वह ज्ञान परमपुरुष भगवान् की स्वभाव शक्ति होने से अनादि काल से उसके साथ है और अनन्त काल तक रहेगा। केवल सृष्टि के आरम्भ में भगवान् अपनी उस वर्तमान शक्ति को ही संसार के प्राणियों के कल्याण के लिये प्रकट किया करते हैं। अतः वेद ईश्वरोक्त भी हैं तथा नित्य भी।

अंकुरादि की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रश्न करते हैं—

"तेषामपि तद्योगे दृष्टबाधादिप्रसक्तिः" सां० ५।४६

यदि अंकुरादि का भी कर्तृत्व के साथ योग मानते हो तो प्रत्यक्षबाध होगा क्योंकि अंकुर की रचना करने वाला कोई पुरुष अंकुर के पास दिखाई नहीं देता।

"यस्मिन्नदृष्टेऽपि कृतबुद्धिरुपजायते तत्पौरुषेयम्" सां० ५।५०

कर्ता के दिखाई न देते हुए भी जो बुद्धि के द्वारा रचित सिद्ध हो जावे वह पौरुषेय ही होगा। यह नियमपूर्वक उत्पन्न, पालित और नष्ट होने वाली अंकुरादि सब सृष्टि बुद्धिपूर्वक ही माननी पड़ेगी, क्योंकि जड़-शक्ति की स्वतः रचना इस प्रकार नियम पूर्वक नहीं हो सकती, अतः बुद्धि पूर्वक कार्य करने वाला परम पुरुष भगवान् ही अंकुरादि सृष्टि का कर्ता है।

क्योंकि भगवान् की अपनी शक्ति ही वेद हैं अतः उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिए उनके रचयिता किसी प्रामाणिक पुरुष के खोजने की आवश्यकता नहीं, इसी भाव का प्रकाश करने के लिए लिखते हैं:—

निजशक्त्यभिव्यक्तेः स्वतः प्रामाण्यम्" सां० ५।५१

भगवान् की अपनी शक्ति का प्रकाश ही वेद हैं अतः वे नित्य हैं और नित्य होने से स्वतः प्रमाण हैं।

वि० बो०—भगवन्! यह तो मुझे निश्चय हो गया कि आप अनीश्वरवादी नहीं हैं और आपने शून्यवादी को जो उत्तर दिया, ठीक ही दिया। परन्तु आपके "न विशेषगतिर्निष्क्रियस्य" (आत्मा की विशेष लोकादिक में गति भी मोक्ष नहीं कही जा सकती क्योंकि वह व्यापक होने से निष्क्रिय है) इस सूत्र में आत्मा को निष्क्रिय कहा गया है और क्रियारहित व्यापक ही होता है अतः आपका अणुवाद कैसे सिद्ध हुआ?

म० क० दे०—महात्मन्! सूत्र का यह भाव नहीं जो कि आपने प्रकट किया है। आत्मा में लोकलोकान्तर अर्थात् निकृष्ट उत्कृष्ट योनियों में जाने के लिए क्रिया तभी तक होती रहती है जब तक कि विवेकसाक्षात्कार से अन्तः करण की भूमि को कर्मबीज के उगने के लिए ऊषर नहीं बना दिया जाता, कर्म बीज ही भोग के लिए अंकुरित होकर जीवात्मा को भोग के साधन सञ्चित करने के लिए विभिन्न योनियों में ले जाने का साधन बनता है, और जब वह अत्यन्त उत्कृष्ट कर्मफल भोग के लिए किसी अत्यन्त उत्कृष्ट योनि में जाता है यह ही उसकी विशेष गति कहलाती है, और इसी विशेष गति को ही मोक्ष नाम देने का सूत्र में "न विशेषगतिः" शब्द से निषेध किया गया है। और वह इसलिए कि जीव मोक्ष की अवस्था में पहुँच कर इस विशेष गति के योग्य ही नहीं रहता, क्योंकि विवेक साक्षात्कार हो जाने से उसके अन्तः करण की भूमि में कर्मबीज भोग रूपी अंकुर उत्पन्न ही नहीं कर सकता, अतः उसे उसके भोगने के लिए विशिष्ट योनि में जाने की आवश्यकता ही क्या रह जावेगी, और उसके लिए उसमें क्रिया होगी भी तो किसलिए? फलतः वह विशिष्ट योनि में जाने की दृष्टि से अब निष्क्रिय हो गया है अतः सूत्र में उसे जाने की आवश्यकता न होने से निष्क्रिय कहा गया है, विभु होने से नहीं। यह कहने से हमारे अणुवाद पर कोई आपत्ति नहीं आती।

वि० बो०—भगवन्! यह तो मैंने मान लिया कि आप आत्मा को विभु नहीं मानते परन्तु आपके

आप अणु मानते हैं यह कैसे माना जाय क्योंकि अणुत्व का साधक आपके शास्त्र में कोई प्रमाण नहीं है।

म० क० दे०—महात्मन्! साधक प्रमाण भी सुनिये—

"न कालयोगतो व्यापिनो नित्यस्य सर्वसम्बन्धात्" सां० १—१२

काल योग से भी बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि काल व्यापक और नित्य है और इसीलिए मुक्त तथा अमुक्त सब आत्माओं से उसका सम्बन्ध है यदि कालयोग से बन्ध माना गया तो मुक्त आत्मा भी बँध जावेंगे।

यहाँ सूत्रकार ने आत्माओं का व्यापक न होना स्पष्ट ध्वनित किया है। क्योंकि आत्मा व्यापक होते तो काल के साथ व्यापक विशेषण लगाने की आवश्यकता न थी "कालस्य सर्वसम्बन्धात्" (काल का सब आत्माओं के साथ सम्बन्ध है इतना कहने से काम चल सकता था क्योंकि सब आत्मा व्यापक थे ही, काल के एक देश में होने पर भी उनका उसके साथ सम्बन्ध हो सकता था, यह विशेषण देने की तब ही आवश्यकता पड़ी जब यह मान लिया गया कि आत्मा अणु हैं, ऐसी अवस्था में कोई मुक्त आत्मा कहीं होगा, कोई कहीं, और अमुक्त आत्मा भी विभिन्न स्थानों में कर्म फल भोग रहे होंगे, उन सब के साथ ही काल का सम्बन्ध कराने के लिये उसमें "व्यापिनः" विशेषण देने की आवश्यकता पड़ी। निष्प्रयोजन विशेषण देकर सूत्रकार कभी भी ग्रन्थ का कलेवर नहीं बढ़ाया करते, विशेषण वहाँ ही दिया जाता है जहाँ उसका कोई विशेष प्रयोजन हो, यहाँ मुक्त अमुक्त सब आत्माओं के साथ काल का सम्बन्ध कराना "व्यापिनः" पद का प्रयोजन है। अतः काल व्यापक और आत्मा अणु हैं। महात्मन्! अब आप समझ गये होंगे कि सांख्य शास्त्र में आत्मा को विभु नहीं, अणु माना गया है। अब विषय सर्वथा स्पष्ट हो गया है अतः हम अपने भाषण को यहीं समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य! आपके सारगर्भित प्रवचन का जनता के हृदयों पर गम्भीर प्रभाव पड़ा है, आपकी इस कृपा के लिए हम कृतज्ञ हैं। अब मैं जनता को यह शुभ संदेश सुना देना चाहता हूँ कि सिद्धान्त और आचरण दोनों ही दृष्टियों से भगवत् प्राप्ति के परम साधन योग के महा विद्वान्, पूज्यपाद महर्षि पतञ्जलि अपनी अमृत वर्षा से आपको कृतकृत्य करने के लिए पधार रहे हैं।

म० प०—महात्मन्! हमारे शास्त्र का सब विषय व्यवहार से सम्बन्ध रखता है उसका एक एक अक्षर अन्तःकरण के पटल पर लिखा जाकर जब तक आचार में परिणत नहीं होता तब तक उसके बोलने और सुनने का कोई लाभ नहीं। इतना मात्र लाभ हो सकता है कि कदाचित् सुनते सुनते उसके आचार में भी लाने का अवसर आ जावे। और सिद्धान्त की दृष्टि से जो कुछ कहा जा सकता है वह सब भ्राता कपिलदेव जी ने कह ही दिया है। पदार्थों की गणना करना तथा उनके गुण कर्म स्वभाव का निरूपण करना काम भी उनके शास्त्र का ही है। हमारा काम केवल योग की प्रक्रिया बतलाना है। पदार्थों की संख्या तथा उनके गुण-कर्म स्वभाव आदि के मन्तव्य की दृष्टि से हम और वे एक मत हैं, इसीलिए हमारा तन्त्र समान है। अतः उसी विषय का फिर से पिष्टपेषण न करते हुए हम उनके प्रतिपादित किये हुए जीवाणुवाद का समर्थन कर अपने वक्तव्य को समाप्त करते हैं।

आ० बो०—पूज्यपाद महर्षिवर्य! इसमें कोई सन्देह नहीं कि आपका शास्त्र मूक भाषा में ही सुनने और सुनाने योग्य है। इसके सिद्धान्त वक्तव्य की नहीं, कर्तव्य की चीज़ हैं। आपके इस पवित्र विचार ने जनता को आचार के क्षेत्र की ओर जाने संदेश दिया। हम आपके कृतज्ञ हैं। सभासद्गण

आप लोग जगत् प्रसिद्ध महर्षि दयानन्द को भली-भांति जानते हैं। आपने देश सुधार की प्रत्येक समस्या का सुझाव देते हुए जाति पर महान् उपकार किया है। इस प्रकृतिवाद की भयङ्कर आँधी के समय पाश्चात्य विज्ञान की एवं भोगवाद की, चकाचौंध में ग्रस्त होते हुए संसार के बीच में खड़े होकर, लुप्त होते हुए वेद के पवित्र ज्ञान का संदेश लोगों को सुना, भारत के ही नहीं, सारे संसार के उद्धार का बीज बोकर आपने एक महान् उपकार के कार्य का उपक्रम किया है। और स्वयं अपना कोई दर्शन न लिख अन्य महर्षियों के ही दार्शनिक विचारों का अनुमोदन करते हुए दर्शनों के विभिन्न विषयों पर विशेष प्रकाश भी डाला है। लोगों के इस कथन का कि दार्शनिकों के मत परस्पर विरुद्ध हैं, अस्वीकार करते हुए इस विचार के विरोध में पहलेपहल आपने ही लेखनी उठाई है। आपने स्पष्ट कह दिया है कि ये सब एक ही लक्ष्य पर पहुँचाने के लिए महर्षियों के भिन्न-भिन्न मार्ग हैं। मार्गों के भिन्न-भिन्न होते हुए भी लक्ष्य का एक होना सर्वथा सम्भव है। और कई स्थानों पर तो भाष्यकारों ने ही सूत्रकारों के मत को अन्यथा प्रकट कर इस मार्ग के भेद को और भी अधिक बढ़ा ही नहीं दिया, वस्तु के स्वरूप को भी बिगाड़ दिया है। अतः अब मैं इस नवयुग के निर्माता पूज्य महर्षि जी से निवेदन करूँगा कि वे भी अपने विचारों से हम लोगों को अनुगृहीत कर कृतार्थ करें, मैं आशा करता हूँ कि आप सब इनके भाषण को ध्यान पूर्वक सुनेंगे।

म० द०—महात्मन्! मैं आपका धन्यवाद करता हूँ कि आपने मेरे हार्दिक विचारों को जान मेरे विषय में कुछ शब्द कहे हैं। श्रीमान् जी! मेरा अपना कोई मत नहीं, मैं उसी सिद्धान्त का मानने वाला हूँ, जिसका कि वेद ने प्रतिपादन किया है, और जिसे ब्रह्मा से लेकर जैमिनि पर्यन्त पूज्य महर्षि मानते चले आये हैं, अतः मेरे भाषण में उन्हीं के प्रकट किये हुए विचारों का अनुमोदन मात्र होगा। आज के प्रस्तुत विषय को मैंने सर्व साधारण के ज्ञान के लिए सत्यार्थ प्रकाश में आर्य भाषा में ही स्पष्ट प्रकट कर दिया है। सब महर्षियों के प्रवचन हो चुके हैं और सब ही जीवात्मा के अणु परिमाण को एकमत होकर स्वीकार कर चुके हैं और उनके अनुसार ही मैंने भी सत्यार्थ प्रकाश में जीव परिमाण "परिच्छिन्न" ही लिखा है।

वि० बो०—भगवन्! आपके इस परिच्छिन्न कथन से भ्रम हो सकता है क्योंकि परिच्छिन्न मध्यम परिमाण भी है और अणु भी।

म० द०—महात्मन्! इस लेख में भ्रम की कोई सम्भावना नहीं क्योंकि अन्यत्र जैनमत विवेचन के प्रकरण में मध्यम परिमाण का प्रतिवाद किया गया है। भला जिसका प्रतिवाद किया हो, वह ही मत ग्रन्थकार को कैसे स्वीकृत हो सकता है? फलतः हमारा मत वह ही है जोकि अन्य महर्षियों का, अर्थात् अणु परिमाण। बस इस विषय पर और कुछ न कह कर अपने इस छोटे से कथन को हम यहां ही समाप्त करते हैं।

महर्षि दयानन्द का भाषण समाप्त ही हुआ था कि प्रधान द्वार की ओर से एक विशाल ज्योति के दर्शन हुए। महर्षि अभी वेदी पर ही बैठे हुए थे, उनका मुख प्रधान द्वार की ओर ही था, दृष्टिपात करते ही उन्होंने देखा कि उस प्रकाश के पुञ्ज में चार नवयुवक महर्षि आगे बढ़े चले आ रहे हैं, यह ज्योति उन्हीं के ब्रह्मतेज की चमक थी। ऋषि दयानन्द के मुख से सहसा ही प्रसन्नता के साथ ये शब्द निकले—अहो भाग्य! अहो भाग्य!! अहो भाग्य!!! सृष्टि के आरम्भ में भगवान् की कृपा के प्रथम

पात्र, वेद-विज्ञान के आदि विद्वान्, अग्नि, वायु, आदित्य और अङ्गिरा पूज्य महर्षि !!!

यह सुनते ही भगवान् व्यासदेव जी का भी ध्यान उधर ही चला गया और उन्होंने हर्ष ध्वनि के साथ विजय घोष करते हुए इस कथन का अनुमोदन किया। सब लोग तत्काल ही खड़े हो गये। भगवान् व्यासदेव जी ने उनका अभिनन्दन करते हुए यथाविधि पाद्य, अर्घ्य आदि से सत्कार किया और उस सजी हुई वेदी पर ही उन्हें आसन दिया गया। आगन्तुक महर्षियों की आज्ञा पाकर सब लोग अपने अपने स्थान पर बैठ गये। महर्षि व्यासदेव ने महात्मा आत्मबोध की ओर देखा, और वे उनकी इस दृष्टि को आज्ञा समझ तत्काल ही खड़े हो गये।

आ० बो०—सम्मान के योग्य महर्षिगण ! तथा उपस्थित सभ्य पुरुषो ! हम लोगों के अहोभाग्य हैं कि वेद विज्ञान की पवित्र गङ्गा का आदि स्रोत जिन महापुरुषों से चलकर परम्परा से हम लोगों तक पहुँचा है, वे ही करुणा कर आज हम अकिञ्चनों की कुटियाओं को अलंकृत करने के लिये पधारे हैं। मैं आप सब के हृदयों का भाव समझ रहा हूँ, कि जिस विषय पर आप सब विचार कर रहे थे, और उस विचार धारा से आपने जो निर्णय किया है, उसकी आप साक्षात् वेद भगवान् के शब्दों से पुष्टि कराने की अभिलाषा कर रहे हैं। भद्रपुरुषो ! महर्षियों के प्रसन्न मुख कमलों से मैं अनुभव कर रहा हूँ कि वे आपकी इच्छा को पूर्ण करेंगे।

म० अग्नि—सभ्य पुरुषो ! महात्मा आत्मबोध ने जो आप सब की कामना को एक प्रतिनिधि के अधिकार से प्रकट किया है, उसका हम स्वागत करते हैं, और आपके प्रस्तुत विषय पर अपने अपने वेद की अनुमति प्रकाशित कर उसे प्रमाणित करना आरम्भ करते हैं। क्योंकि हमने जान लिया है कि आपने जीवात्मा का परिमाण अणु निर्णय किया है, और यह ही वेद का मत है। अधिक व्याख्यान न कर हम इस विषय से सम्बन्ध रखने वाले वेद-मन्त्र और उनका भाव ही सुनाएंगे।

"अधा मन्ये श्रत्ते अस्मा अधायि वृषा चोदस्व महते धनाय। मा नो अकृते पुरुहूत योनाविन्द्र क्षुध्यद्भ्यो वय आसुतिं दाः" । ऋ० १।१०५।७

(ते-श्रत्) हे भगवन् ! मेरे हृदय में आपके लिए श्रद्धा है (अधा मन्ये) मैं निश्चय मानता हूँ कि (पुरुहूत) हे बड़ों बड़ों से स्तुत (क्षुध्यद्भ्यः) कर्मफल भोग के भूखों को आप (वयः) आयु और (आसुतिम्) जन्म (दाः) देते हैं (अस्मा) मुझे (अकृते-योनौ) मेरे कर्म द्वारा तैयार न की हुई योनि में (मा-अधायि) स्थापित नहीं करोगे, अतः (वृषा) हे आनन्दवर्षक भगवन् ! (महते धनाय) महत्त्वपूर्ण अर्थात् आनन्द रूप धन के लिए (चोदस्व) ले चल तात्पर्य यह है कि भगवन्, मुझे मेरे कर्म द्वारा बनी हुई आनन्द प्राप्ति की साधन योनि में पहुँचा दो। इस मन्त्र में मृत्यु के समय इस शरीर से किसी दूसरे अज्ञात शरीर में जाते समय जीव ने भगवान् से प्रार्थना की है, व्यापक आत्मा का इस शरीर से निकलना, और दूसरे शरीर में जाना हो नहीं सकता और मध्यम परिमाण होता ही विनाशी है अतः इस वेद-मन्त्र में जीव का परिमाण अणु माना गया है।

"पूषा राजानमाघृणिरपगूढं गुहा हितम्। अविन्दत् चित्र बर्हिषम्" । ऋक्० १।२३।१४

(आघृणिः) सब ओर से प्रकाशमय (पूषा) पालन करने वाला भगवान् (अपगूढम्) अपने आपको पाप से छिपा कर रखने वाले (गुहाहितम्) हृदय गुहा में स्थित (चित्रबर्हिषम्) विचित्र ज्ञान

की ओर बढ़ने वाले (राजानम्) अपने अध्यात्मवर्ग पर शासन करने वाले आत्मा को (अविन्दत्) मिलता है। इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय की गुहा में माना है और इस गुहा में व्यापक आत्मा समा नहीं सकता, अतः जीव का परिमाण अणु ही है।

"हस्ते दधानो नृम्णा विश्वान्यमे देवान् धाद् गुहा निषीदन्।
विदन्तीमत्र नरो धियं धा हृदा यत्तष्टान् मन्त्रान् अशंसन्" (१।६७।२)

(विश्वानि) सम्पूर्ण (नृम्णा) मनुष्योपयोगी पदार्थ (हस्ते दधानः) अपने अधिकार में लिए हुए (गुहा निषीदन्) हृदय की गुहा में निरन्तर रहता हुआ (देवान्-अमे-धात्) देवताओं को भय में रखता है (धियन्धाः) बुद्धि के धारण करने वाले (नरः) विज्ञानी लोग उसे (अत्र) यहाँ हृदय में ही यद्यपि वह बाहर अन्दर सब जगह है, परन्तु जब हृदय में बैठे हुए आत्मा के पास हृदय में भी है तो उसे बाहर खोजने की आवश्यकता क्या है) (विदन्ति) प्राप्त करते हैं। और फिर प्राप्त करने के बाद (ईम्) इसके लिए (हृदयतष्टान्) हृदय से निकले हुए (मन्त्रान्-अशंसन्) मन्त्रों से स्तुति करते हैं।

मन्त्रों से स्तुति तो पहले भी किया करते थे परन्तु प्रभु के प्राप्त कर लेने पर आज वे मन्त्र हृदय की गम्भीर तह से मस्ती में रंगे हुए निकल रहे हैं।

इस मन्त्र में प्रभु को प्राप्त कर लेने के समय भी जीव का स्थान हृदय ही कहा गया है, और हृदय में रहता हुआ अपने उपास्य देव प्रभु की स्तुति कर रहा है। यदि उपाधि से अवच्छिन्न होकर (वस्तुतः सर्वव्यापक होता हुआ) आत्मा अणु और हृदय स्थित माना गया होता तो अब मुक्ति के समय उपाधि का भ्रम दूर हो अभेद हो जाने पर ब्रह्म से अभिन्न ही हो गया होता, फिर ऐसी अवस्था में उसका हृदय में रहना क्यों? और उपास्य तथा उपासक का भेद क्यों? इसलिए मुक्ति की अवस्था में भी जीव और ईश्वर भिन्न हैं, और जीव का परिमाण अणु है।

"अजो न क्षां दाधार पृथिवीं तस्तम्भ द्यां मन्त्रेभिः सत्यैः।
प्रिया पदानि पश्वो निपाहि विश्वायुरग्ने गुहा गुहं गाः"। १।६७।३

(अजः) अजन्मा भगवान् (क्षां न) पृथिवी की तरह (पृथिवीम्) विस्तृत आकाश को (दाधार) धारण किए हुए हैं (सत्यैः) सत्यप्रधान (मन्त्रेभिः) मनन के आधार विश्वमानस की शक्तियों से (द्याम्) द्युलोक को (तस्तम्भ) संभाले हुए हैं (अग्ने) हे अग्रनेता भगवन्! (पश्वः) दर्शक जीवात्मा की (प्रिया-पदानि) प्यारे स्थान (गुहा) हृदय गुहा की (गुहम्) गुहा अर्थात् अन्तर हृदय में पहुँचे हुए हो, अतः (विश्वायुः) सब के जीवन होते हुए इस जीव की भी (निपाहि) रक्षा करें।

इस मन्त्र में भगवान् को हृदय की गुहा में रहने वाले जीव की अन्तर गुहा में प्रविष्ट होकर रक्षा करने वाला कहा गया है, और इसके साथ ही ईश्वर को "विश्वायु" कह कर सब का जीवन कहते हुए सर्वत्र व्यापक भी कहा गया है। अतः हृदय में ही रहने के कारण जीव का परिमाण अणु है।

म० वायु०—सभ्य पुरुषो! आपने महर्षि अग्निदेव के मुखारविन्द से ऋग्वेद का मनोहर प्रवचन सुना अब यजुर्वेद के वचनामृत का भी पान कीजिए—

"वनेषु व्यन्तरिक्षं ततान वाजमर्वत्सु पयः उस्रियासु हृत्सु क्रतुं वरुणो विक्ष्वग्निं दिवि सूर्यमदधात् सोममद्रौ य० ४।३१

(वरुणः) वरने योग्य भगवान् ने (वनेषु) वन में अथवा सूर्य की किरणों में (अन्तरिक्षम्) आकाश अर्थात् अवकाश को (विततान) फैलाया (अर्वत्सु) घोड़ों में अथवा विद्युत् आदि में (वाजम्) वेग को (उस्रियासु) धेनुओं में (पयः) दूध को (हृत्सु) हृदयों में (क्रतुम्) कर्मकर्त्ता जीव को (ओ३म् क्रतो स्मर य० ४०।१५ हे क्रतो ! कर्मकर्ता जीव याद कर' इस मन्त्र भाग में जीव को क्रतु कहा गया है) (विक्षु) प्रजाओं में (अग्निम्) अग्नि तत्व को (दिवि सूर्यम्) द्युलोक में सूर्य को और (अद्रौ सोमम्) पर्वत में सोम को (अदधात्) स्थापित किया है।

इस मन्त्र में भगवान् ने आत्मा की स्थापना हृदय में की है, और व्यापक आत्मा हृदय जैसे छोटे स्थान में समा नहीं सकता, अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

अप्स्वग्ने सधिष्टवसौषधीरनुरुध्यसे । गर्भे सन् जायसे पुनः ॥ य० १२।३६

(अग्ने) हे ज्ञानवान् जीव ! शरीर से निकलने के बाद (तव-सधिः) तेरा सहस्थान (अप्सु) जल से भरे हुए आकाश के वायुमण्डल में हुआ, फिर (स औषधीः) वह तू औषधियों का (अनुरुध्यसे) अनुरोध करता है अर्थात् उनके साथ रहता है (पुनः) और फिर (गर्भे सन्) गर्भ में रहता हुआ (जायसे) उत्पन्न होता है।

इस मन्त्र में आत्मा का वायु आदि विभिन्न स्थानों में घूमते हुए गर्भ में आकर ठहरना, और फिर वहां से बाहर आना कहा गया है, व्यापक आत्मा का विभिन्न स्थानों में घूमते हुए गर्भ में आना और गर्भ से बाहर आना संभव नहीं, व्यापक में न क्रिया हो सकती है, न वह आ जा सकता है, और न गर्भ जैसे छोटे स्थान में समा सकता है अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

"असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः । ताँस्ते प्रेत्यापि गच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
य० ४०।३

(असुर्याः) असुरों को प्राप्त होने वाली (नाम) प्रसिद्ध (ते-लोकाः) वे योनियाँ हैं जोकि (अन्धेन) अन्धकारमय (तमसा) अविद्या से (आवृताः) आच्छादित हैं (ते) वे (प्रेत्य) यहाँ से जाकर (तान्) उन योनियों में (अपि गच्छन्ति) प्रविष्ट होते हैं (ये-के-च) कि जो (आत्महनः) आत्मघाती—आत्मा के विरुद्ध चलने वाले (जनाः) लोग हैं।

इस मन्त्र में जीव का इस शरीर से निकलकर जाना और फिर किसी दूसरी योनि में आना कहा गया है। निकलना, जाना, तथा आना, व्यापक आत्मा के लिए सम्भव नहीं अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

वि० बो०—भगवन् ! आपके वेद में:—

"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् योऽसावादित्ये पुरुषः सोसावहम् । ओ३म् खं ब्रह्म" य० ४० । १७ यह मंत्र आया है,

इसका भाव यह है कि चमकीले पात्र से अर्थात् मन-मोहक प्रकृति से सत्य का अर्थात् भगवान् का "मुख" अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है। जो आदित्य में पुरुष है वह ही "अहम्" अर्थात् मेरा आत्मा है। वह आदित्य पुरुष ओ३म् "खम्" आकाश की तरह व्यापक और अतएव ब्रह्म है।

इस मन्त्र में आदित्य पुरुष ब्रह्म का और आत्मा का अभेद कहा गया है इसलिए परमार्थ अवस्था में जीव व्यापक ही हो जाता है और उसका परिमाण विभु है। अन्यत्र जो उसको अणु कहा गया है वह कथन बुद्धि उपाधि के कारण सङ्गत हो सकता है। आपका इस विषय में क्या विचार है?

म० वा०—महात्मन्! मत प्रकट करने की आवश्यकता तो तब हुआ करती है जब मन्त्र में दो प्रकार के भावों की झलक हो। यहाँ तो मन्त्रार्थ करने से स्पष्ट ही विशुद्ध ब्रह्म का वर्णन मिलता है। जीवात्मा का बोधक इसमें कोई वाक्य है ही नहीं। परमात्मा स्वयं कह रहे हैं—

प्रकृति की चमक दमक से मुझे सत्यरूप का मुख अर्थात् ज्ञान ढका हुआ है अतः तुम मुझे देख नहीं सकते, मैं वह ही हूँ, जो कि आदित्य में निवास करता हुआ आकाश की तरह से ब्रह्म अर्थात् व्यापक हूँ, और मेरा नाम ओ३म् है, इस भावार्थ को देखकर आप समझ सकेंगे कि इस मन्त्र में जीवात्मा का कहीं भी उल्लेख नहीं है जिससे कि अभेद सिद्ध हो सकता हो।

वि० बो०—भगवन्, इसके अतिरिक्त आपके वेद में और भी मन्त्र जीव ब्रह्म का अभेद प्रकट करते हैं देखिए

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति, सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते" य. ४०।६

जो सब भूतों को अपनी आत्मा में देखता है और सब भूतों में अपनी आत्मा को देखता है उस दर्शन के बाद वह निन्दा का पात्र नहीं बनता। इसी प्रकार:—

"यस्मिन् सर्वाणिभूतान्यात्मैवाभूद् विजानतः

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" य. ४०।७

जिस ज्ञानी के अन्दर सब भूत आत्मा ही हो गये हैं उस एकता को देखने वाले के लिए मोह और शोक क्या चीज़ रह गई।

म० वा०—महात्मन्! ये मन्त्र चालीसवें अध्याय के हैं। भगवान् ने पहले सात मन्त्रों में कर्मवाद का वर्णन कर इन तीन मन्त्रों में समाजवाद का उत्कृष्ट रूप दिखलाया है। एक सामाजिक पुरुष समाज के साथ अपने सम्बन्ध को जिन के आधार पर अटूट बना सकता है, उन नियमों का इन मन्त्रों में रहस्यपूर्ण वर्णन किया गया है, पहले मन्त्र में एक आत्मा दूसरे आत्मा को अपने अन्दर और अपने आपको दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हुआ पाता है, एक दूसरे के सुख तथा दुःख का अनुभव कर उसे अपना समझते हुए उसके दूर करने की भावना जितनी शीघ्र आत्मा में निकट होते हुए जगाई जा सकती है इतनी दूर होते हुए नहीं, अतः जो मनुष्य जिससे संगठित होना चाहता है वह उसे प्रतिक्षण अपने अन्दर देखे, इस सामाजिक व्यवहार का वर्णन इस मन्त्र में किया गया है।

अभी भी इस व्यवहार को आरम्भिक अतएव अधूरा समझ, भगवान् इसे पूर्ण करने के लिए दूसरे मन्त्र में दूसरे नियम का उपदेश करते हैं, पहले मन्त्र के अनुसार सामाजिक पुरुष एक दूसरे के आत्मा को अपने अन्दर देखते थे यद्यपि वे निकट पहुँच गये थे, परन्तु फिर भी उनमें से एक दूसरा एक दूसरे को पृथक् ही प्रतीत होता था, अतः इस मन्त्र में उस भावना को एक दूसरे को अपना रूप देखने का उपदेश कर और भी ऊँची उठा दिया गया है, इस भावना के अनुसार अब एक दूसरा एक एक दूसरे को अपना रूप ही देखता है। अब तो यह दूसरे के दुःख को दूसरे का न समझ साक्षात् अपना ही समझेगा, और उसे दूर करने के लिए तत्काल ही प्रयत्न आरम्भ कर देगा यह भावना समाज के सब नियमों की प्रकृष्ट आधार शिला है। हृदय में इसका जन्म हुए बिना सब नियम अधूरे हैं। वे सब मिलकर भी इसके बिना समाज के व्यक्तिभेद को एक रूप नहीं दे सकते, और जब तक यह एकता

सिद्ध न हो उन व्यक्तियों का एक नाम समाज रक्खा जाना ही असम्भव है। अतः वेद ने इन मन्त्रों में मानव जगत् को प्रेम के बन्धन में बांधने के लिये, तथा उसके इस लोक को सुखमय बनाने के लिए इस भव्य भावना का उपदेश दिया है। मनुष्य जिस स्थिति में होता है अपने भगवान् को भी वह उसी रूप में याद करता है, अतएव पहले मन्त्रों में कर्म का उपदेश देने के बाद जीव ने अपने उपास्य देव भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद किया है, कर्म करता हुआ वह कभी दौड़ता था और कभी ठहर जाता था, अतएव उसने अपने भगवान् के लिए भी वैसी ही स्तुति करनी आरम्भ कर दी। "तदेजति तन्नैजति" वह गति कर रहा है और नहीं, "तद्दूरे तद्वन्तिके" वह दूर चला गया और अब पास है) "यद्यपि भाव और है परन्तु स्तुति का बाह्य रूप उसकी कर्म भावना का ही प्रतीक है"।

परन्तु अब जब वह एक सामाजिक प्राणी है, और पृथक् न रह किसी समाज का अङ्ग बन उसके साथ मिलकर एक बन गया है, तो अब भी अपने भगवान् को अपनी स्थिति के अनुसार ही याद करता है, वह कहता है—"स पर्यगात्" (वह सब ओर फैला हुआ है—सब के अन्दर फैला हुआ है) अब उसका भगवान् उससे दूर खड़ा चल नहीं रहा, उसके अन्दर पहुँच गया है, और फिर इसी काल में औरों के अन्दर भी फैला हुआ सूत्र बन इसे औरों के साथ मिलाकर एक कर रहा है। इस प्रकार इन मन्त्रों में उत्कृष्ट सामाजिक नियमों का वर्णन कर इस लोक की कर्म द्वारा प्राप्त की हुई सम्पत्ति को सुखमय बनाने का उपाय बतलाया गया है—

यदि इन मन्त्रों में अभेद सम्पत्ति का वर्णन कर कर्म की समाप्ति कर दी होती तो आगे चलकर परलोक फल अमृत प्राप्ति के लिए

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह"

(विज्ञान और कर्म को जो एक साथ जानता है) इस ज्ञान कर्म समुच्चय के विधान की आवश्यकता ही क्या थी? अतः यह आत्मा और ब्रह्म के अभेद का वर्णन नहीं और इसीलिए आत्मा के व्यापकत्व की सिद्धि नहीं कर रहा।

म० आदित्य—सभ्य पुरुषो, आपने महर्षि वायुदेव का प्रवचन सुन लिया है। कितना भावपूर्ण और गम्भीर भाषण था। अब आप भगवान् सामवेद का भी उपदेश सुनिये। और वेदों की तरह सामवेद भी जीव का परिमाण अणु ही मानता है। मन्त्र सुनिये—

वृषामतीनां पवते विचक्षणः सोमो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणा सिन्धूनां कलशामचिक्रददिन्द्रस्यहार्द्यामाविशन्मनीषिभिः। मनीषिभिः पवते पूर्व्यः कविर्नृभिर्यतः परिकोशामसिस्यदत्। त्रितस्य नाम जनयन् मधुक्षरन्निन्द्रस्य वायु सख्याय वर्द्धयन्॥ अयम्पुनान उषसो अरोचयदयं सिन्धुभ्यो अभवदुलोककृत्। अयं त्रिःसप्त दुदुहान आशिरं सोमो हृदे पवते चारु मत्सरः। (साम० उ० अ० प्र० २ अ० प्र० १ म० १७)

(मतीनाम्) बुद्धियों का (वृषा) सींचने वाला (विचक्षणः) विशिष्ट द्रष्टा (सोमः) अमृत का सवन करने वाला (अह्नाम्) जीवन दिनों की (उषसाम्) उषाओं का (दिवः) प्रकाशित करने वाला भगवान् (पवते) पवित्र कर रहा है। (प्राणा) प्राण, (सिन्धूनाम्) प्राणवहा नाड़ी रूप नदियों की (कलशाम्) ध्वनित होने वाली शक्ति को (कलं- शवतीति "अन्येभ्योऽपिदृश्यते" पा. इति डः (अचिक्रदत्) ध्वनित कर चुके हैं, अर्थात् अनाहत नाद को प्रकट कर चुके हैं। और अब

(मनीषिभिः) मन की शक्तियों पर अधिकार करने वाले गुरुओं के द्वारा, अर्थात् उनकी सहायता से (हार्दि) हृदय में (आविशन्) प्रवेश कर रहे हैं। अर्थात् अपना काम पूरा कर घर में आ गये हैं (पूर्व्यः-कवि) प्राचीन कवि—वेदों का वक्ता भगवान् (मनीषिभिः) मनोंपर अधिकार करने वाले (नृभिः) मनुष्यों, गुरुओं के द्वारा (पवते) पवित्र करता है। (यतः) जिससे कि (त्रितस्य) तीन गुणों में बँधे हुए (इन्द्रस्य) आत्मा के (नाम जनयन्) स्वरूप प्रकट करता हुआ (वायुम्) प्राण वायु को (इन्द्रस्य) आत्मा के (सख्याय) मित्रता के लिए (वर्धयन्) उन्नत करता हुआ (मधु क्षरन्) आनन्दरूप अमृत को टपकाता हुआ (परिकोशाम्) मनोमय कोश के सब ओर (असिष्यदत्) ज्ञानधारा को बहा रहा है। (पुनानः अयम्) पवित्र करते हुए इसने (उषसः) जीवन की उषा को (अरोचयत्) चमका दिया है। (अयम्) यह भगवान् (सिन्धुभ्यः) प्राणवहानाड़ी रूप नदियों के लिए (लोककृत्) प्रकाश को प्रकट करने वाला (अभवत् उ) हुआ है (चारुमत्सरः) मनोहर हर्ष को प्राप्त कराने वाला (अयम्-सोमः) यह अमृत का सेवन करने वाला भगवान् (त्रिसप्त) दश इन्द्रियें, दश प्राण और मन इन इक्कीस को (दुदुहानः) दुहता हुआ इनसे सत्व गुण रूपी मक्खन निकालता हुआ (हृदे) हृदय में वर्तमान (आशिरम्) ज्ञानरूप भोजन करने वाले आत्मा को [अशेर्णिद्वेति किरच्] (पवते) पवित्र कर रहा है।

इस मन्त्र में आत्मा का निवास हृदय में बतलाया है और हृदय जैसे छोटे स्थान में व्यापक आत्मा का समाना असम्भव है अतः आत्मा का परिमाण अणु है।

म० अंगिरा—सभ्य पुरुषो, आप संगीत के मनोहर स्वरों में महर्षि आदित्य का प्रवचन सुन चुके हैं। अब हम भी भगवान् के शब्दों में कुछ विचारधाराएँ आपके सामने उपस्थित करते हैं, सुनिए।

"अनच्छये तुरगातुजीवमेजद् ध्रुवं मध्य आपस्त्यानाम्। जीवोमृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्योमर्त्येना सयोनिः॥ अ० ९।१०।१८

(ध्रुवम्) निश्चिल होता हुआ (तुरगातु) वेग वालों की तरह सर्वत्र पहुँचा हुआ (पस्त्यानाम्) जीवों के घरों—अर्थात् शरीरों के (मध्ये) बीच में (जीवम्) जीव को (अनत्) प्राणित करता हुआ (आशये) सर्वत्र सो रहा है—अर्थात् व्यापक होकर वर्तमान है (मर्त्येना) मरणधर्मा शरीर के (सयोनिः) साथ रहने वाला (मृतस्य) मरे हुए पुरुष का (जीवः) जीव (स्वधाभिः) अपने कर्म फलों के अनुसार (एजत्) प्रभु से चलाया हुआ (चरति) भिन्न भिन्न योनियों में भ्रमण करता है।

इस मन्त्र में जीव का एक शरीर से दूसरे शरीर में भ्रमण करना अर्थात् जाना आना वर्णन किया है और यह क्रिया व्यापक में हो नहीं सकती अतः जीव अणु है।

अव्यसश्चव्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया। ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे। अ० १९।६८।१

(अव्यसः) अव्यापक अर्थात् अणु (व्यचसः) और विविधि गतियों (उत्क्रान्ति, गति, आगति) वाले हम (विपूर्वादञ्चेर्बाहुलकादसुन्) (मायया) अविद्या से (बिलम्) छिद्र—अर्थात मोहादि दोषों से (विभक्तिव्यत्ययः) (कर्माणि कृण्महे) कर्म कर रहे हैं (अथ) अब (ताभ्याम्) उन अविद्या और दोष से अर्थात् उनकी आक्रान्ति से (वेदमुद्धृत्य) ज्ञान का उद्धार कर (वि-स्यामि) उन दोषों का अन्त करते हैं। (वचनव्यत्यय)।

इस मन्त्र में जीव को साक्षात् "अव्यस" अव्यापक पद से अणु कहा गया है, और उसकी उत्क्रान्ति आदि गतियों का भी वर्णन किया गया है।

वेद के द्वारा जीव के अणु परिमाण का साक्षात् कथन हो जाने पर अब इसके परिमाण के सम्बन्ध में किसी संशय का अवकाश नहीं रहा। अतः हम अपने इस कथन को यहीं समाप्त करते हैं।

आ०—बो०—पूज्य महर्षिगण! तथा उपस्थित सभासद् सज्जनो! प्रातः स्मरणीय पूज्यपाद आदि विद्वान् महर्षियों के अन्तिम निर्णय से आज के वाद का विषय निर्धारित हो गया है, आप सब ने इसे सुन ही लिया है, परन्तु मैं अपने कर्तव्य के अनुसार एक बार फिर इसकी घोषणा किये देता हूँ, आप सब ध्यान से सुनें। आज जीवात्मा के परिमाण के विषय में विचार विनिमय आरम्भ हुआ था, और अब उसका अणु परिमाण निश्चित हो जाने के बाद उसकी समाप्ति के साथ ही सभा का कार्यक्रम समाप्त किया जाता है, अग्रिम सभा के लिये जो विचारणीय विषय प्रस्तावित होगा उसकी सूचना पत्रों द्वारा आपको पहुँचा दी जावेगी।

अन्त में मैं पूज्य महर्षियों तथा सभा में भाग लेने वाले अन्य महानुभावों का धन्यवाद करता हूँ कि आप सब ने प्रेमपूर्वक विचार-विनिमय किया और सुना है।

ज्ञानानन्द—मित्रगण! हम सब यहाँ पचास मील की लम्बी यात्रा कर सत्संङ्ग से लाभ उठाने के लिये जिस भावना से आए थे भगवान् की कृपा से वह पूर्ण हुई। सब लोग जा रहे हैं आइये अब हम भी घर को चलें। ओ३म् शान्तिः

वैदिक वर्णव्यवस्था

[ले०—श्री पं० प्रियव्रत जी वेदवाचस्पति, आचार्य, गुरुकुल विश्वविद्यालय कांगड़ी]

(१) वर्णव्यवस्था का स्वरूप

वेद में पुरुष सूक्त में, जहां पुरुष नामक भगवान् से समग्र सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, पुरुष-समाज अर्थात् मनुष्य-समाज की उत्पत्ति का वर्णन करते हुए उसे चार विभागों में बांटा गया है। इन विभागों के नाम हैं ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। मनुष्य समाज के इन चार विभागों का वर्णन करने वाला पुरुष सूक्त का निम्न मन्त्र है:—

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।

ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ ऋग्० १०।९०।१२ यजुः० ३१।११

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्योऽभवत्।

मध्यं तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ अथर्व० १९।६।६

अर्थात्—"(ब्राह्मणः) ब्राह्मण (अस्य) इस मनुष्य समाज का (मुखं) मुख है (राजन्यः) क्षत्रिय (बाहू) भुजायें (कृतः) बनाया गया है (यद्) जो (वैश्यः) वैश्य है (तत्) वह (ऊरू) जंघायें हैं और (पद्भ्यां) पैरों के लिए (शूद्रः) शूद्र (अजायत) बना है।"

अथर्ववेद का मन्त्र थोड़े से पाठ के साथ वही है जो ऋग्वेद और यजुर्वेद का है। अथर्ववेद में ऋग् और यजुः के "बाहू राजन्यः कृतः" के स्थान में "बाहू राजन्यः अभवत्" और "ऊरू तदस्य

यद्वैश्य:" के स्थान में "मध्यं तदस्य यद्वैश्य:" ऐसा पाठ है। अथर्ववेद के "बाहू राजन्य: अभवत्" का तो वही अर्थ है जो "बाहू राजन्य: कृत:" का है। "मध्यं तदस्य यद्वैश्य:"के ऋग् और यजु: के "ऊरू" स्थान में अथर्व में "मध्यं" पद प्रयुक्त हुआ है। "ऊरू" का अर्थ जंघायें होता है और "मध्यं" का अर्थ बीच का हिस्सा होता है। अथर्ववेद में प्रयुक्त हुए "मध्यं" शब्द ने ऋग्वेद और यजुर्वेद के "ऊरू" शब्द की व्याख्या कर दी है। अथर्ववेद के "मध्यं" शब्द के प्रयोग से यह प्रतीत होता है कि शेष दोनों वेदों में प्रयुक्त "ऊरू" शब्द को शरीर के मध्य हिस्से का उपलक्षण समझना चाहिये। अर्थात् "ऊरू" का अर्थ जंघायें और जंघाओं से उपलक्षित पेट करना चाहिये। पेट और जंघायें ही शरीर के मध्य भाग का निर्माण करते हैं। फलत: मनुष्य-समाज के शरीर का मध्य भाग वैश्य को समझना चाहिये।

यह मन्त्र वैदिक धर्म के समाज—संघटन सम्बन्धी वर्णव्यवस्था सिद्धान्त का प्रधान और आधारभूत मन्त्र है। वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में अन्यत्र वेद में तथा वैदिक साहित्य के अन्य ग्रन्थों में जो कुछ लिखा गया है वह इसी मन्त्र की विस्तृत व्याख्या और भाष्य मात्र है। इस मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हीं को प्रकारान्तर से वेद में अन्यत्र तथा वैदिक साहित्य के ऋषिकृत दूसरे ग्रन्थों में विस्तार के साथ कहा गया है। इसलिये समाज-संघटन के सम्बन्ध में इस महत्वपूर्ण मन्त्र से जो निर्देश निकलते हैं उन्हें जरा ध्यान से देख लेने की आवश्यकता है—

१. पहली बात तो जो मन्त्र को पढ़ते ही सबसे प्रथम ध्यान में आती है वह यह है कि मनुष्य समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये। किसी भी राष्ट्र में रहने वाले लोगों को अपने जन-समाज को इन चार विभागों में विभक्त करके रहना चाहिये।

२. दूसरी बात जो मन्त्र को गम्भीरता से पढ़ने पर स्पष्ट ध्यान में आती है कि मन्त्र में मनुष्य-समाज को मनुष्य शरीर से उपमा दी गई है। जैसे मनुष्य-शरीर में मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं वैसे ही मनुष्य-समाज में भी मुख, हाथ, पेट और पैर होते हैं। जैसे शरीर के मुख, हाथ आदि अंग मिलकर शरीर का निर्माण करते हैं वैसे ही समाज के मुख, हाथ आदि अंग मिलकर समाज-शरीर का निर्माण करते हैं। मनुष्य शरीर की भांति समाज भी एक प्रकार का शरीर (organism) है। जैसे शरीर की पुष्टि के लिये और उन्नति के लिये उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट उन्नत होना आवश्यक है वैसे ही किसी जन-समाज की पुष्टि और उन्नति के लिये भी उसके प्रत्येक अंग का पुष्ट और उन्नत होना आवश्क है। जैसे शरीर के किसी अंग की अपुष्टि और उसके किसी अंग का रोग समग्र शरीर के लिये घातक हो जाते हैं उसी प्रकार जन-समाज के किसी अंग की अपुष्टि, उसके किसी अंग की अवनति, समग्र समाज की अवनति और हीनता का कारण बन जाती है। इस लिए समाज की उन्नति के लिए उसके सब अंगों का उन्नत होना आवश्यक है।

३. तीसरी बात जो मन्त्र के शब्दों से निकलती है वह यह है कि मन्त्र में ब्राह्मण आदि को मुख आदि कहा गया है। ब्राह्मणादि का यह मुख आदि के साथ रूपक ब्राह्मणादि के गुणों पर बड़ा सुन्दर प्रकाश डालता है। ब्राह्मणादि के मुखादि के साथ इस रूपक से ब्राह्मणादि के गुणों पर किस प्रकार प्रकाश पड़ता है यह शरीर में मुखादि के कार्यों को देखने से स्पष्ट हो जाता है।

i. ब्राह्मण समाज का मुख* है। अब जरा मुख के कार्य और गुणों पर दृष्टि डालिये। मुख में

---

*यहां मुख से तात्पर्य सारे सिर से है। संस्कृत साहित्य में मुख शब्द सारे सिर या चेहरे के

आंख, नाक, कान, रसना और त्वचा ये पांच ज्ञानेन्द्रियां एकत्र हैं। शेष शरीर में केवल त्वचा ही एक ज्ञानेन्द्रिय है। इस प्रकार मुखमें शरीर के और अंगों की अपेक्षा पांचगुणा ज्ञान रहता है। ब्राह्मण जन-समाज का मुख है। उसमें समाज का मुख है। उसमें समाज के अन्य क्षत्रियादि अंगों की अपेक्षा पांच गुणा अर्थात् बहुत अधिक ज्ञान रहना चाहिये। मुख बोलकर अपने ज्ञानको दूसरों तक पहुंचाता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे अपना ज्ञान उपदेश द्वारा दूसरे लोगों तक पहुंचाना चाहिये। इस प्रकार जो लोग ज्ञान के अर्जन और अर्जित ज्ञान के प्रचार में लगे रहते हैं वे ब्राह्मण हैं। मुख तपस्वी है। कठोर शीत के दिनों में भी जब कि हम सारे शरीर को वस्त्रों से ढक लेते हैं, हमारा मुख नग्न रहता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की भांति तपस्वी होना चाहिए। उसे शीतोष्णादि द्वन्द्वों को सहने का अभ्यास होना चाहिये। इसी के उपलक्षण से उसे मानसिक क्षेत्र में मान-अपमान आदि के द्वन्द्वों को सहने का भी अभ्यास होना चाहिये। मुख स्वार्थरहित और परोपकारी है। संचित ज्ञान अपने पास नहीं रखता। उसे औरों को सुना देता है। मुख में प्राप्त हुए भोजन को वह अपने पास नहीं रखता। वह उसे पचने योग्य बनाकर पेट के अर्पण कर देता है जहां से वह सब अंगों को पहुंचता है। ब्राह्मण समाज का मुख है। उसे मुख की तरह स्वार्थ हीन और परोपकारी होना चाहिये। उसे अपना सब ज्ञान और अपनी सब शक्तियें समाज के उपकार में लगा देनी चाहियें। यदि मुख स्वार्थी हो जाय, अपने में प्राप्त हुए भोजन को अपने में ही रखे और कण्ठ से नीचे नहीं उतरने दे तो सडाँद होकर मुख स्वयं भी नष्ट हो जायगा और सारे शरीर को भी नष्ट करेगा। इसी प्रकार स्वार्थी ब्राह्मण स्वयं भी नष्ट हो जायेगा और समाज को भी नष्ट करेगा। जो मुख की भांति ज्ञानवान्, ज्ञान का उपदेष्टा तपस्वी, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी है वह ब्राह्मण है।

ii. क्षत्रिय समाज की भुजायें हैं। जब शरीर पर कहीं से भी किसी प्रकार का प्रहार होता है। भुजाओं में बल है तो भुजायें आगे बढ़कर उस प्रहार को अपने ऊपर ओटती हैं और शत्रु पर प्रहार करती हैं। प्रहार से स्वयं घायल होना स्वीकार करती हैं परन्तु शरीर के अन्य अंगों को घायल नहीं होने देतीं। शरीर के शत्रुओं पर प्रहार करके उनके नाश का प्रयत्न करती हैं। इसी प्रकार जो लोग अपने भीतर बल की विशेष वृद्धि करते हैं और उस बल से समाज की रक्षा करते हैं वे क्षत्रिय हैं। क्षत्रिय समाज के किसी भी अंग पर कहीं से कोई प्रहार, कोई अत्याचार नहीं होने देगा। वह आगे बढ़कर प्रहार को, अत्याचार को रोकेगा। स्वयं कष्ट में पड़ना स्वीकार करेगा—यहां तक कि मृत्यु तक का आलिंगन करने को भी उद्यत रहेगा—पर समाज के किसी अंग को अन्याय—अत्याचार से पीड़ित नहीं होने देगा। वह समाज की रक्षा और उसके शत्रुओं के विनाश के लिए सदा अपना रुधिर बहाने के लिए उद्यत रहेगा। जो शरीर में भुजाओं की भांति समाज की अन्याय और अत्याचार से रक्षा करने के लिए सदा तत्पर रहता है और इस कार्य के लिए सदा अपनी जान हथेली पर लिये फिरता है, वह क्षत्रिय है। वह समाज की भुजा है।

iii. वैश्य समाज का मध्य भाग है। शरीर के मध्य भाग में पेट का प्रधान स्थान है। पेट के कार्य से वैश्य के कार्य पर प्रकाश पड़ता है। खाया हुआ अन्न पेट में जाकर एकत्र होता है। पेट

लिये प्रयुक्त होता है। "चन्द्र इव मुखम्"—यह मुख चन्द्रमा जैसा मनोहर है—इत्यादि वाक्यों में मुख से तात्पर्य मुख-छिद्र से नहीं होता प्रत्युत सारे सिर या चेहरे से होता है।

उस अन्न को पचाकर रस बना देता है और फिर उस अन्न को रुधिर में मिला देता है। रुधिर में मिला हुआ यह इस शरीर के प्रत्येक अंग में पहुंच कर उसे भोजन देता है, उसे पुष्टि और बल देता है, वैश्य समाज का मध्य है, पेट है। पेट जैसे शरीर के सब अंगों के लिये रस तय्यार करके, भोजन तय्यार करके, देता है वैसे ही वैश्य को समाज के ब्राह्मण आदि सब अंगों को भोजन तय्यार करके देना होगा। समाज का जो अंग समाज शरीर के सब अंगों के भरण-पोषण का भार अपने ऊपर लेता है वह वैश्य कहा जायगा। मध्य भाग में जंघायें भी सम्मिलित की गई हैं। जंघाओं का काम चलना फिरना है। जो जंघाओं की तरह चले फिरेगा—देश-देशान्तर में आ जाकर व्यापार-व्यवसाय करेगा वह वैश्य कहलायेगा। देशदेशान्तर में आजाकर व्यापार-व्यवसाय करना और उसके द्वारा अपने राष्ट्र के जन-समाज के भरण-पोषण का उपाय करना वैश्य का कर्तव्य है। ये वैश्य राष्ट्र-शरीर के मध्य भाग होते हैं जिसके ऊपर उसके सब अंगों का जीवन निर्भर होता है।

iv. पैरों के काम के लिए शूद्र है। शूद्र समाज-शरीर का पैर है। पैरों का शरीर में क्या काम है? पैर सारे शरीर को अपने ऊपर उठाये रहते हैं। सारे शरीर को एक स्थान से दूसरे स्थान में ले जाते हैं। स्वयं धूल, मट्टी, कीचड़ आदि में रहते हैं परन्तु बाकी शरीर को साफ़ बचाये रखते हैं। पैरों में शेष शरीर की सेवा का ही यह एक विशेष गुण है। और कोई विशेष गुण पैरों में नहीं होता। जो लोग ज्ञान आदि विशेष गुण अपने अन्दर नहीं रखते, और इसीलिये वे समाज के ब्राह्मण आदि अन्य अंगों की सेवा का ही कार्य कर सकते हैं, उन्हें शूद्र कहते हैं। ये शूद्र लोग ब्राह्मणादि की सेवा करके उन्हें उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कामों के लिए अधिक समय प्राप्त कर सकने में सहायता देकर राष्ट्र-शरीर की सेवा करते हैं। यदि ब्राह्मण आदि को अपनी सेवा के वस्त्र धोना, भोजन बनाना, बरतन मांजना, झाड़ू देना, और क्षौर (हजामत) करना आदि सारे काम स्वयं ही करने पड़ें तो उन्हें उनके ज्ञानार्जन और ज्ञान-प्रचार आदि के कार्यों के लिये समय कम मिलेगा और फलतः वे राष्ट्र के लिये अधिक उपयोगी कार्य कर सकेंगे। शूद्र लोग उनकी इस प्रकार की सेवायें करके उन्हें राष्ट्र के लिए अधिक उपयोगी काम करने का अधिक अवसर प्रदान करते हैं। और इस भांति वे भी एक प्रकार से राष्ट्र के हित साधन का काम करते हैं। ज्ञान आदि विशेष गुण न होने के कारण जो लोग केवल समाज-शरीर की सेवा का ही कार्य कर सकते हैं उन्हें शूद्र कहा जाता है।

४. चौथी बात जो मन्त्र को ध्यान से देखने से प्रकट होती है वह यह है कि ब्राह्मण आदि का विभाग घृणा पर आश्रित ऊँच नीच के भेद पर अवलम्बित नहीं है। यह विभाग अपनी शक्तियों द्वारा समाज की अधिक से सेवा कर सकने के भाव पर अवलम्बित है। शरीर के भुजा आदि अंग एक दूसरे से घृणा नहीं करते। वे एक दूसरे के साथ मिलकर रहते हैं। वे एक दूसरे के सुख दुःख को अपना सुख दुःख समझते हैं। मुख का दुःख जिस प्रकार सारे शरीर का दुःख होता है उसी प्रकार पैर का दुःख भी सारे शरीर का दुःख होता है। एक की पीड़ा सब की पीड़ा होती है और एक का सुख सब का सुख होता है। जब पैर में काँटा चुभ जाता है तो पैर के उस दुःख को अपना दुख समझ कर क्षत्रिय भुजा उसे निकालने के लिये अपनी अंगुलियें और नाखून वहां भेजती है और ब्राह्मण मुख अपने दांत वहां भेजता है। शूद्र पैर का वह दुःख दूर हो जाने पर ही इनको चैन पड़ती है। यही अवस्था समाज-शरीर में उसके मुख, भुजा पेट और पैर ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों की होनी चाहिये। उन्हें

परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये। एक दूसरे का सुख-दुःख उन्हें अपना सुख-दुःख समझना चाहिये। एक दूसरे की उन्नति-अवनति उन्हें अपनी उन्नति-अवनति समझनी चाहिये। शूद्र का कष्ट और विपत्ति ब्राह्मण को अपना कष्ट और विपत्ति समझनी चाहिये और ब्राह्मण का कष्ट और विपत्ति शूद्र को अपना कष्ट और विपत्ति समझनी चाहिये और ऐसा समझ कर सब को सब के कष्ट और विपत्ति दूर करने में तथा सुख और सम्पत्ति बढ़ाने में निरन्तर भरपूर प्रयत्न करना चाहिये। उन्हें समझना चाहिये कि सब का जीवन सब के सहयोग पर अवलम्बित है। इसलिये कोई किसी से ऐसा ऊँचा नहीं है कि वह घमण्ड में चूर होकर दूसरे से घृणा करने लगे। यदि कुछ ऊंच-नीच है तो वह योग्यता और सेवा पर अवलम्बित है। जो जितना अधिक गुणवान् है और जितना अधिक दूसरों की सेवा करता है वह उतना ही अधिक ऊंचा है। योग्यता और तज्जन्य सेवा के कारण ही उसे ऊंचा समझ कर दूसरों को उसका मान और सत्कार करना चाहिये। अपने से अधिक योग्य और राष्ट्र की अपने से अधिक सेवा करने वाले व्यक्ति को अपने से ऊंचा मानना और ऊंचा मान कर उसका मान और सत्कार करना सत्कार करने वाले व्यक्ति के आत्मा को उन्नत करता है और सत्कृत व्यक्ति को राष्ट्र-सेवा के लिये और अधिक उत्साहित करता है। इस प्रकार की सात्त्विक ऊंच-नीच के अतिरिक्त और किसी प्रकार की ऊंच-नीच वेद में ब्राह्मणादि विभाग में नहीं है। वैदिक उपदेश के वास्तविक रहस्य को न समझने के कारण आधुनिक हिन्दु समाज में प्रचलित जन्म पर आश्रित वर्ण-व्यवस्था में जो ऊँच-नीच के भाव पाये जाते हैं वे घृणा पर अवलम्बित भाव वेद के अभीष्ट ब्राह्मणादि विभाग में नहीं हैं। ब्राह्मण सब से ऊंचा इसलिए है क्योंकि वह सब से योग्य और राष्ट्र का सब से अधिक सेवक है। शरीर में सिर का सब अंगों से अधिक महत्त्व है। क्योंकि सिर पर शरीर का जीवन सब से अधिक अवलम्बित है। इसी प्रकार राष्ट्र में ब्राह्मण का महत्त्व सब से अधिक इसलिये है कि उस पर राष्ट्र के जीवन की उन्नति सब से अधिक अवलम्बित है।

वेद का यह ब्राह्मणादि का विभाग योग्यता, सेवा, सहयोग और प्रेम पर आश्रित है। इसमें घृणा और मानसिक तुच्छता का स्थान नहीं है। इस प्रकार इस मन्त्र में जो उपदेश दिया गया है उसका निष्कृष्टार्थ यह है कि प्रत्येक राष्ट्र का जन-समाज ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में विभक्त होना चाहिये। जो लोग भांति-भांति के विद्या-विज्ञानों के क्षेत्र में जीवन लगा कर ज्ञान के संग्रह और संगृहीत ज्ञान के प्रचार में लगे रहेंगे, तपस्या का जीवन व्यतीत करेंगे, सहनशील, स्वार्थहीन और परोपकारी होंगे, वे ब्राह्मण कहलायेंगे। जो लोग अपने अन्दर बल-वीर्य का विशेष सम्पादन करेंगे और इस संचित शक्ति को राष्ट्र के लोगों की अन्याय-अत्याचार से रक्षा करने में खर्च करेंगे उन्हें क्षत्रिय कहा जायेगा। जो लोग अपना जीवन भांति-भांति के व्यापार-व्यवसाय करके भोजन, वस्त्र आदि प्राकृतिक सम्पत्ति उत्पन्न करने और इस सम्पत्ति द्वारा राष्ट्र के लोगों का भरण-पोषण करने में लगायेंगे उन्हें वैश्य कहा जायेगा। जो लोग न तो ज्ञान-संचय और ज्ञान-प्रचार का काम कर सकेंगे और न ही अन्याय-अत्याचार से राष्ट्र के लोगों की रक्षा तथा प्राकृतिक सम्पत्ति की उत्पत्ति करके उनके भरण-पोषण का काम कर सकेंगे, जो लोग केवल ब्राह्मणादि की सेवा का ही काम कर सकेंगे, उन्हें शूद्र कहा जायेगा। दूसरे शब्दों में जो लोग अज्ञान से पैदा होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे, वे ब्राह्मण कहलायेंगे, जो लोग अन्याय से होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर करने का व्रत लेंगे वे क्षत्रिय कहलायेंगे. जो लोग सम्पत्ति के अभाव से होने वाले राष्ट्र के कष्टों को दूर

करने का व्रत लेंगे वे वैश्य कहलायेंगे। और जो लोग इन तीनों कामों में से कोई भी न कर सकेंगे, केवल इन कामों को करने वाले लोगों की सेवा भर ही कर सकेंगे, उन्हें शूद्र कहा जायेगा। इन चारों प्रकार के लोगों को परस्पर प्रेम से मिलकर रहना चाहिये और सब को अपने आपको राष्ट्र के समाज-शरीर का अंग समझना चाहिये। ऐसा समझ कर उन्हें सामूहिक जीवन की उन्नति के लिए, निरन्तर उद्योगशील रहना चाहिये।

इस प्रसंग में ऋग्वेद का निम्न मन्त्र भी देखने योग्य है:—

क्षत्राय त्वं श्रवसे त्वं महीया इष्टये त्वमर्थमिव त्वमित्यै।
विसदृशा जीविताभि प्रचक्ष उषा अजीगर्भुवनानि विश्वा॥ ऋ० १।११३।६

मन्त्र का शब्दार्थ इस प्रकार है—

"(त्वं) एक को (क्षत्राय[1]) बल और राष्ट्र सम्बन्धी (श्रवसे[2]) यश के लिए (त्वं) एक को (महीयै) बड़े बड़े (इष्टये) यज्ञों के लिए (त्वं) एक को (अर्थम्) धन के (इव[3]) लिये (त्वं) एक को (इत्यै) चलने फिरने के लिये इस प्रकार (विसदृशा) असमान स्वभाव वाले (जीविता) प्राणियों को (अभिप्रचक्षे) अपने अपने काम करने के लिए प्रकाशित करने के लिए (उषाः) उषा ने (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (अजीगः) उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया है।" सब जगत् अन्धकार से निगला हुआ पड़ा था। प्रातःकाल उषा आई और उसने जगत् को उगल कर अन्धकार से बाहर कर दिया। क्यों उषा ने जगत् को अन्धकार से बाहर कर दिया? इसलिए कि विभिन्न स्वभाव वाले लोगों को प्रकाश मिल सके जिससे ये अपने अपने कामों को भली-भाँति कर सकें—कोई क्षत्र कर्म कर सके, कोई यज्ञ के कर्म कर सके, कोई धन सम्पादन के कर्म कर सके और कोई चल फिर कर साधारण सेवा आदि के कर्म कर सके।

मन्त्र कहता है कि प्राणी विसदृश होते हैं। वे एक समान नहीं होते। उनके स्वभाव भिन्न भिन्न होते हैं। और स्वभावों की भिन्नता के कारण वे कर्म भी भिन्न भिन्न प्रकार के करते हैं। मनुष्य स्वभाव की भिन्नता के कारण किस प्रकार के भिन्न भिन्न काम किया करते हैं इसका एक सामान्य वर्गीकरण मन्त्र के पूर्वार्द्ध में कर दिया गया है।

कुछ लोगों को क्षत्र सम्बन्धी यश से प्रेम होता है। क्षत्र शब्द वैदिक साहित्य में बल और राष्ट्र अर्थों में प्रयुक्त होता है। क्षत्रिय अर्थ में भी यह शब्द वेद और दूसरे संस्कृत साहित्य में खूब प्रयुक्त होता है। यहां यह शब्द "श्रवः" का विशेषण होकर आया है। "श्रवः" यश को कहते हैं। इसलिये "क्षत्रश्रवः" का अर्थ होगा बल सम्बन्धी, राष्ट्र सम्बन्धी और क्षत्रियों सम्बन्धी यश। कुछ लोगों को बल के, राष्ट्ररक्षा के, क्षत्रियोचित कार्य करके यशस्वी बनने की इच्छा होती है, क्षत्रिय[4] का अर्थ ही होता है जो क्षत्र अर्थात् राष्ट्र रक्षा और बल-वीरता के कार्यों में निपुण हो।

---

१. ओजः क्षत्रम्। ऐ० ८.२, ३, ४॥ क्षत्रं हि राष्ट्रम्। ऐ० ७।२२॥

२. श्रवो यशः—श्रूयते इति श्रवः। ऋ० १।१२६।२ मन्त्र भाष्ये श्रवः कीर्तिमिति सायणः।

३. अर्थमिव अर्थं प्रति इति सायणः।

४. क्षत्रे राष्ट्रे साधुः तस्यापत्यं जातौ वा घः। वाचस्पत्यम्।

कुछ लोगों का इष्टियों से प्रेम होता है, भान्ति भान्ति के यज्ञ-यागादि कर्मों में अभिरुचि होती है। यज्ञ शब्द बहुत विस्तृत भाव को अपने भीतर लिये हुए है। एक तो यह शब्द धार्मिक क्रिया-कलाप का सूचक है। दूसरे यह शब्द अपने धात्वर्थ के बल से जितने भी देवपूजा, संगतीकरण और दान के कार्य हैं उन सब का बोधक है। देवपूजा से परमात्मा की आराधना और उपासना तथा अग्नि, जल, विद्युत् आदि देवों के गुणों का परिज्ञान और उनसे समुचित उपयोग लेना अभिप्रेत होता है। ज्ञानी विद्वान् पुरुषों की सेवा में उपस्थित होकर उनका मान-सत्कार करना तथा उनसे विविध विद्या-विज्ञानों को सीखना भी देवपूजा से अभिप्रेत होता है। संगतीकरण से विद्युत्, जल आदि पदार्थों के मेल से तरह-तरह के पदार्थों का निर्माण करने के लिए शिल्प शालायें स्थापित करना, राष्ट्र के लाभ के लिये मिलकर चलाये जाने वाले भान्ति-भान्ति के विद्यालय और दूसरे संघटनों की स्थापना करना, विविध बातों के विचार और प्रचार के लिए भान्ति-भान्ति की सभा—समितियों की रचना करना आदि लोकोपकारी कामों का ग्रहण होता है। दान से अपनी विद्या आदि शक्तियों को कल्याण-भावना से अन्यों को अर्पण करना अभिप्रेत होता है। मन्त्र का इष्टि शब्द इन सब भावों का द्योतक है। कुछ लोगों की प्रवृत्ति स्वभाव से इष्टिमय, यज्ञमय होती है। उनकी प्रवृत्ति स्वभाव से धर्म-प्रवण होती है। उनका चित्त अग्निहोत्रादि यज्ञ कर्मों में लगता है। परमात्मा की आराधना और उपासना में उनकी अभिरुचि रहती है। वे विद्वानों की संगति में जाकर भान्ति-भान्ति के विद्या-विज्ञानों को सीखते हैं। अग्नि, वायु, जल, विद्युत् आदि जड देवों के गुणों का परिज्ञान करके उनसे अनेक प्रकार के उपयोग लेने के उपाय सोचने में उनका चित्त लगता है। लोगों के भले के लिये वे विविध विद्याओं और विचारों का प्रचार करने के लिए गुरुकुलों और दूसरी संस्थाओं का निर्माण करते हैं। जो कुछ भी धर्म भावना और विद्या आदि शक्तियें उनके पास हैं उनका वे दूसरों को दान करने के लिए सदा तत्पर रहते हैं।

कुछ लोग इनसे भिन्न एक तीसरी प्रवृत्ति के होते हैं। उनका चित्त अर्थ की ओर जाता है, वे भांति भांति की धन-संपत्ति कमाना चाहते हैं। इसके लिए वे तरह तरह के व्यापार-व्यवसायों का का अवलम्बन करते हैं।

एक चौथे प्रकार के लोग होते हैं। उनमें ऊपर कही गई तीनों प्रवृत्तियों में से कोई भी नहीं होती। वे विशेष योग्यता से सम्बन्ध रखने वाला कोई भी कार्य नहीं कर सकते। उनके जीवन में साधारण "गति"—चलना फिरना—होती है। विशेष कौशल उनमें किसी काम के लिए नहीं होता। सेवा आदि के साधारण काम ही—जिनमें सामान्य चलना फिरना ही शरीर और मन की सामान्य गति ही अपेक्षित होते हैं—वे लोग कर सकते हैं। जिन कामों में शरीर और मन की विशेष कौशलयुक्त गति की आवश्यकता होती है उन कामों को वे नहीं कर सकते।

मनुष्यों की प्रवृत्तियों का सामान्य वर्गीकरण इन चार विभागों में ही हो सकता है। जो पहली प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें क्षत्रिय कहा जाता है, जो दूसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें ब्राह्मण कहा जाता है, जो तीसरी प्रवृत्ति के लोग हैं उन्हें वैश्य कहा जाता है और जो चौथी प्रवृत्ति के लोग है उन्हें शूद्र कहा जाता है।

पुरुष सूक्त के ऊपर उद्धृत मन्त्र में ब्राह्मणादि नामों और उनके मुखादि के साथ रूपक से पुरुष-

समाज के जिस विभाग की ओर निर्देश किया गया था उसी को मनुष्यों की स्वाभाविक चार प्रवृत्तियों के वर्णन द्वारा प्रस्तुत मन्त्र में प्रकारान्तर से बताया गया है। इन दोनों मन्त्रों के समन्वयात्मक अध्ययन से यह स्पष्ट होजाता है कि वेद में समाज के जिस ब्राह्मणादि विभाग की कल्पना की गई है वह मनुष्यों की प्रवृत्तियों के स्वाभाविक भेद पर आश्रित है और इसीलिए वह पूर्ण वैज्ञानिक है। यदि मनुष्यों को उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को ध्यान में रख कर शिक्षा दी जायेगी और उन्हें राष्ट्र की सेवा के लिये तय्यार किया जायगा तो राष्ट्र और व्यक्ति दोनों का ही बहुत अधिक कल्याण होगा।

वैदिक धर्म में, समाज की इस ब्राह्मणादि विभाग में की जाने वाली व्यवस्था को, वर्ण व्यवस्था कहते हैं। [1]वर्ण का अर्थ होता है जो चुने अथवा चुना जाये। ब्राह्मण ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचार को अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुन लेता है इसलिये वह ब्राह्मण वर्ण कहलाता है। अथवा ब्राह्मण के ज्ञानार्जन और ज्ञान प्रचाररूप ब्राह्मणत्व धर्म ब्राह्मण द्वारा अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में चुने जाते हैं इस लिए ब्राह्मण के धर्मों को वर्ण कहा जाता है, और, इन चुने हुए धर्मों (वर्ण) वाला होने से ब्राह्मण को ब्राह्मण वर्ण कहा जाता है। इसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र भी वर्ण कहे जाते हैं। ब्राह्मणादि के साथ "वर्ण" शब्द के प्रयोग का यह भाव होता है कि उन्हें सदा स्मरण रहे कि उन्होंने अपने जीवन का एक विशेष लक्ष्य चुना है और इसलिए सदा उन्हें उस लक्ष्य की पूर्ति में यत्नशील रहना चाहिये। इस शब्द के प्रयोग से यह भी स्पष्ट ध्वनित होता है कि वर्ण व्यवस्था जन्म पर नहीं प्रत्युत गुण-कर्म पर आश्रित है। जो व्यक्ति जिस वर्ण के गुण-कर्मों का चुनाव अपने जीवन के लक्ष्य के रूप में कर लेगा उसका वही वर्ण हो जायेगा। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है। किसी विशेष वंश में उत्पन्न होना नहीं।

(१) वर्णव्यवस्था और समाज का आर्थिक कल्याण

अभी ऊपर हमने कहा है कि वर्ण व्यवस्था का आधार समाज की सेवा की योग्यता है। यह वर्ण व्यवस्था का सिद्धान्त समाज की सेवा में किस प्रकार सहायक होता है इसे हम अगले पृष्ठों में कुछ विस्तार से दिखाने का प्रयत्न करेंगे। इससे पहले कि हम इस विषय में कुछ और कहें यहाँ वर्ण व्यवस्था के आवश्यक और सहचारी अंग आश्रम-व्यवस्था के सम्बन्ध में भी प्रसंगवश दो शब्द कह देना अनुपयुक्त न होगा।

आश्रम व्यवस्था वर्ण व्यवस्था का एक आवश्यक अंग है। आश्रम व्यवस्था और वर्ण व्यवस्था दोनों मिलकर वस्तुतः एक पूर्ण वस्तु बनते हैं। वर्ण व्यवस्था में आश्रमव्यवस्था स्वतः समाविष्ट है। जिस प्रकार वेद मनुष्य-समाज को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र इन चार विभागों में बांटता है उसी प्रकार वह व्यक्ति के जीवन को, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास इन चार आश्रमों में विभक्त करता है। वेद में मनुष्य की आयु का औसत परिमाण सौ वर्ष माना गया है। इसके अनुसार सामान्यतः व्यक्ति को पच्चीस-पच्चीस साल प्रत्येक आश्रम का जीवन व्यतीत करना पड़ता है।

ब्रह्मचर्य आश्रम में व्यक्ति को संयम और तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए अपनी-अपनी वर्ण दीक्षा के अनुसार भांति-भांति की विद्याओं को सीखना होता है।

---

१. वर्णो वृणोतेः। निरु० २।१।३॥ उणादि० ३।१०

गृहस्थाश्रम में व्यक्ति विवाहित जीवन व्यतीत करता है और ब्रह्मचर्य में सीखी हुई विद्याओं के सहारे अपने निर्धारित वर्ण के कार्य करता है। वानप्रस्थाश्रम में व्यक्ति फिर त्याग, तपस्या और संयम का जीवन व्यतीत करने लगता है और राष्ट्र के बालकों को निःशुल्क शिक्षा देने का कार्य करता है तथा संन्यास की तय्यारी करता है। संन्यास में व्यक्ति देश और जाति के बन्धनों से ऊपर उठ जाता है। वह सारी धरती को अपना घर और प्राणि मात्र को अपना बन्धु समझने लगता है। मनुष्यमात्र को कल्याण का उपदेश देने के लिए वह सर्वत्र निर्बाध होकर विचरने लगता है। उसका ममत्व किसी के साथ नहीं रहता और सब के साथ होजाता है। तप, त्याग, संयम और उपकार भावना की उसमें पराकाष्ठा हो जाती है। वह सबका होकर विचरण करने लगता है। वह पूर्ण अपरिग्रह शील होजाता है। न उसका कोई घर-बार रहता है और न वह अपने पास कोई सम्पत्ति रखता है। परमात्मा का चिन्तन करते हुए सर्वत्र विचरण करना और धर्मोपदेश सुनाना उसके कार्य हो जाते हैं। ब्राह्मण वर्ण के लिये चारों आश्रमों का विधान है और शेष वर्णों के लिए शेष तीन आश्रमों का।

इस प्रकार वेद वर्णाश्रम अवस्था के रूप में मनुष्य-समाज का संघटन करता है। वेद की सम्मति में जो राष्ट्र अपने समाज को, अपने जन-समुदाय को, वर्णाश्रम व्यवस्था के सिद्धान्त पर संघटित करेगा वही आदर्श राष्ट्र हो सकेगा। प्रश्न होगा कि राष्ट्र का आदर्श क्या है? और वर्णाश्रम व्यवस्था उस आदर्श को प्राप्त करने में राष्ट्र की किस प्रकार सहायता करती है?

प्रत्येक मनुष्य की प्रधान और मूलभूत आवश्यकतायें पांच हैं। वे आवश्यकतायें (१) भोजन (२) वस्त्र, (३) घर, (४) औषध और (५) शिक्षा है। हरेक मनुष्य को भूख लगने पर खाने के लिए भरपेट भोजन मिलना चाहिए। शरीर की लज्जा ढकने के लिए तथा शरीर का ऋतुओं की कठोरता से बचाव करने के लिए प्रत्येक मनुष्य को वस्त्र मिलने चाहिएँ। हरेक मनुष्य को रहने के लिए घर मिलना चाहिये। रोगी हो जाने पर रोग को दूर करने के लिए उसे औषध मिलनी चाहिये और इनके साथ ही सत्यासत्य का विवेक—खरे, खोटे, भले-बुरे की पहिचान—करने के लिये प्रत्येक मनुष्य को अच्छी शिक्षा मिलनी चाहिये। ये पांच पदार्थ आलम्बन पदार्थ हैं। इन पांचों पर मनुष्य का जीवन अवलम्बित है। इनके अभाव में मनुष्य का जीवन नहीं रह सकता। इसलिये इन पदार्थों की प्राप्ति मनुष्य की मूलभूत आवश्यकता है। कोई मनुष्य सर्वथा अकेला रह कर, केवलमात्र अपनी शक्ति पर निर्भर करके, इन आलम्बन पदार्थों को प्राप्त नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य को इन पदार्थों की प्राप्ति के लिये दूसरे अनेक लोगों की सहायता की आवश्यकता पड़ती है। परस्पर की सहायता से ही सब मनुष्य इन पदार्थों को प्राप्त कर सकते हैं। इसलिये लोगों को समाज बनाकर, मिलकर, रहने की आवश्यकता होती है। इन आलम्बन पदार्थों की उत्पत्ति और इनके सब लोगों तक पहुंचाने के लिये जो भांति-भांति के कार्य करने होते हैं, समाज में रहने वाले लोग उन कामों को परस्पर में बांट लेते हैं। कोई किसी कार्य को करने का उत्तरदायित्व ले लेता है और कोई किसी को। इस प्रकार जब सब लोग समाज के रूप में परस्पर बंध जाते हैं तब उनको यह आलम्बन पदार्थ प्राप्त होते हैं। फलतः समाज के प्रत्येक व्यक्ति को इन पदार्थों की प्राप्ति हो सके इसका भार अकेले उन व्यक्तियों पर न रह कर सारे समाज पर आ पड़ता है। सब व्यक्तियों को इन पदार्थों का पहुँचाना समाज का काम हो जाता है। इसलिए किसी भी समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ये पांचों चीज़ें मिल सकने का प्रबन्ध उस समाज को करना चाहिये। राज्य समाज

के ही संघटित रूप का नाम है। इसलिये दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि किसी भी राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को इन मूल भूत प्रधान पांच चीजों की प्राप्ति हो सके इसका पूरा प्रबन्ध करें। राज्य में और जो कुछ किया जाता है वह अधिकांश में इन पांच आलम्बन वस्तुओं की प्राप्ति का सहायक मात्र है। यदि किसी राज्य के प्रत्येक प्रजाजन को ये पांच मौलिक वस्तुयें प्राप्त नहीं होती तो उस राज्य ने कुछ बातों में कितनी ही उन्नति क्यों न कर ली हो, और उसके कुछ लोग कितने ही सुखी क्यों न हो, तो भी वह राज्य आदर्श राज्य नहीं है। वह एक बहुत अपूर्ण राष्ट्र है।

वैदिक राष्ट्र आदर्श राष्ट्र है। वैदिक राज्य में प्रत्येक प्रजाजन को ये पांचों आलम्बन पदार्थ प्राप्त कराने को पूरी व्यवस्था की गई है। वेद के कृषि और गोपालन सम्बन्धी प्रकरणों में हम देखते हैं कि वेद राजा का यह कर्त्तव्य बताता है कि वह प्रत्येक प्रजाजन को भरपेट खाने के लिए अन्न और दूध आदि देने का प्रबन्ध करे। वेद के गृह निर्माण सम्बन्धी प्रकरणों में हम देखते हैं कि राज्य को प्रत्येक प्रजाजन को खुली हवा और रोशनीदार घर रहने को मिलने की व्यवस्था करनी चाहिये। वेद के स्वास्थ्य सम्बन्धी प्रकरणों में राजा के लिए आज्ञा है कि उसे प्रत्येक नागरिक को स्वस्थ और रोग-निर्मुक्त करने का प्रयत्न करना चाहिये। वेद के वस्त्र-परिधान सम्बन्धी प्रकरणों में आदेश है कि राजा को चाहिए कि वह ऐसा प्रयत्न करे कि प्रत्येक प्रजाजन को पहिनने के लिये पर्याप्त वस्त्र मिलते रह सकें। और वेद के शिक्षा सम्बन्धी प्रकरणों में बताया गया है कि प्रत्येक प्रजाजन को शिक्षित करने के लिये राजा को अपने राष्ट्र में शिक्षा का व्यापक प्रचार करना चाहिए। ये सब सुविधायें वैदिक राज्य के कुछ थोड़े से गिने-चुने व्यक्तियों के लिए ही नहीं है। वेद प्रभु की वाणी है। वह प्रभु की ओर से उसके प्रत्येक पुत्र को पढ़ने के लिए दी गई है। इसलिये वेद की प्रार्थनायें मनुष्य मात्र की प्रार्थनायें हैं। ऊँचे से ऊँचे और छोटे से छोटे सब किसी की वे प्रार्थनायें हैं। ऊपर निर्दिष्ट प्रकरणों में वेद मन्त्रों द्वारा जो प्रार्थनायें सम्राट् से की गई हैं वे राष्ट्र के छोटे-बड़े सब व्यक्तियों की प्रार्थनायें हैं। उनमें समाज के किसी विशेष भाग का नाम नहीं है। पाठक वेद के इन प्रकरणों को एक बार पढ़ जायें। वहां जो कुछ मांगा गया है वह "हमारे लिये", "हमको", "मेरे लिये", "मुझको" इन सर्वनाम पदों द्वारा मांगा गया है—और अधिकांश में "हमारे लिये", "हमको" इन पदों द्वारा मांगा गया है। इसलिये ये प्रार्थनायें समाज के प्रत्येक व्यक्ति की प्रार्थनायें हैं। इसलिए समाज के प्रत्येक व्यक्ति को ये पांचों वस्तुयें यथेष्ट मात्रा में देना राजा का कर्त्तव्य है। वस्तुतः वेद में तो जहां भी कुछ मांगा गया है वह सब के लिये मांगा गया है। इस प्रकार प्रजा के प्रत्येक व्यक्ति की इन प्रधान मूल आवश्यकताओं की यथेष्ट मात्रा में पूर्त्ति करने और इनकी पूर्त्ति द्वारा राष्ट्र का आर्थिक कल्याण करने वाला होने के कारण वैदिक राष्ट्र आदर्श राष्ट्र है।

मनुष्य की इन पांच आवश्यकताओं के अतिरिक्त और भी अनेक प्रकार की आवश्यकतायें हैं। इन अन्य आवश्यकताओं की पूर्त्ति से मनुष्य का जीवन अधिक सुखी बन जाता है। इसलिये इन अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने वाले पदार्थ भी हो सकें तो प्रजा के हरेक व्यक्ति को मिलने का प्रबन्ध होना चाहिये। इन पदार्थों को हम अनुबन्ध पदार्थ कह सकते हैं। आलम्बन पदार्थों की भान्ति इन पदार्थों पर मनुष्य का जीवन अवलम्बित—निर्भर—नहीं है। ये पदार्थ सुखाधिक्य के लिए जीवन के साथ जोड़े जाते हैं—बांधे जाते हैं—इसलिए ये जीवन के अनुबन्ध पदार्थ हैं। वैदिक राष्ट्र में अनुबन्ध

पदार्थों की भी उपेक्षा नहीं की जायेगी। उसमें अनुबन्ध पदार्थ भी यथा सम्भव सब को मिल सकें इस का ध्यान भी रखा जायेगा। यह प्रजामात्र के जीवन के आलम्बन—सहारे—ऊपर कहे गये पांच पदार्थ तो उन्हें सब से पहले और आवश्यक रूप में मिलने चाहिएं। इनकी प्राप्ति तो प्रजामात्र का प्रथम अधिकार है। वैदिक राष्ट्र प्रत्येक प्रजाजन के लिए इन पांचों आलम्बन पदार्थों की प्राप्ति की व्यवस्था करके उसके इस प्रथम अधिकार की रक्षा करता है। इसलिए हमने उसे आदर्श राष्ट्र कहा है। अनुबन्ध पदार्थों की प्राप्ति की व्यवस्था भी वैदिक राष्ट्र सब प्रजाओं के लिए करेगा ही। इसलिये इस दृष्टि से भी वह आदर्श राष्ट्र रहेगा। पर हम, वेद में किन किन अनुबन्ध पदार्थों का वर्णन और उनकी प्राप्ति के सम्बन्ध में वहां क्या कहा गया है इसका वर्णन यहां नहीं कर रहे हैं।

राष्ट्र का आदर्श क्या है यह हमने जान लिया। हमने देखा है कि प्रत्येक प्रजाजन को आलम्बन पदार्थों की प्राप्ति कराके राष्ट्र का आर्थिक कल्याण करना राज्य का आदर्श है। वर्णाश्रमव्यवस्था राष्ट्र के इस आदर्श की प्राप्ति में उसकी सहायता किस प्रकार करनी है यह अब देखना है। राज्य—सम्राट् और उसके सहायक कर्मचारी—प्रजाजनों को ये पांचों पदार्थ किस प्रकार देगा? सम्राट् और उसके सहायक कर्मचारी स्वयं तो इन पदार्थों को उत्पन्न करके प्रजाओं में बांट नहीं सकते। यदि वे ऐसा करना भी चाहें तो भी उनके पास इतना समय और शक्ति नहीं हो सकते कि वे स्वयं इन सब पदार्थों को उत्पन्न करके सब प्रजाओं में बांट सकें। सम्राट् को अपने राष्ट्र के समाज की—उसकी सर्व साधारण जनता की—व्यवस्था इस इस प्रकार बांधनी होगी कि उसके विभिन्न लोग विभिन्न कामों में लग कर इन पदार्थों को भली भान्ति उत्पन्न कर सकें और सब तक उचित रूप में इन पदार्थों को पहुँचा सकें। जो लोग इन पदार्थों और इनके सहायक पदार्थों को उत्पन्न करेंगे और उन्हें लोगों तक पहुँचाने की व्यवस्था करेंगे सम्राट् उनकी सहायता और रक्षा करेगा और जो लोग इस कार्य में बाधा उत्पन्न करेंगे उन्हें वह दण्डित करेगा।

ये पदार्थ सर्व साधारण प्रजा को न मिल सकें ऐसा तीन कारणों से हो सकता है। एक तो यह कि ये पदार्थ और इनके सहायक पदार्थ किस प्रकार उत्पन्न किये जाते हैं और जनता तक उनके पहुँचाने की व्यवस्था किस प्रकार होती है तथा इन पदार्थों से उपयोग किस प्रकार लिया जाता है इसका किसी को ज्ञान ही न हो, यह अज्ञान इन पदार्थों को जनता को प्राप्त नहीं होने देगा। दूसरा यह कि इनके और इसके सहायक पदार्थों की उत्पत्ति आदि का ज्ञान तो लोगों के पास है पर उसके द्वारा इन पदार्थों को कोई तय्यार ही न करता हो। पदार्थों का यह अभाव इन्हें जनता को प्राप्त नहीं होने देगा। तीसरा यह कि पदार्थ तो हैं पर कुछ लोग अन्याय का आश्रय लेकर उन्हें स्वयं ही समेट कर रखते और हड़प कर जाते हैं, सब जनता तक उन्हें नहीं पहुँचने देते। यह अन्याय भी पदार्थों को जनता को प्राप्त नहीं होने देगा।

इस प्रकार अज्ञान, अभाव और अन्याय प्रजा के आर्थिक कल्याण के ये तीन महाशत्रु हैं। यदि राज्य अपने राष्ट्र की जनता को इस प्रकार विभक्त और व्यवस्थित कर दे जिससे समाज के आर्थिक कल्याण के ये तीनों शत्रु समाज में न ठहर सकें तो उस राज्य में सदा सुख समृद्धि रहेगी। वैदिक राज्य अपने राष्ट्र की जनता को वर्णाश्रम मर्यादा की व्यवस्था में व्यवस्थित करके प्रजा के आर्थिक कल्याण के इन तीनों महाशत्रुओं के नाश का समुचित उपाय कर देता है। ब्राह्मण लोग

अज्ञान से लड़ने की दीक्षा ले लेते हैं। सब प्रकार का अज्ञान राष्ट्र में से दूर करना ब्राह्मणों के जीवन का लक्ष्य हो जाता है। व्यक्ति और राष्ट्र के जीवन से सम्बन्ध रखने वाले विभिन्न क्षेत्रों के ज्ञान का तन्मयता से संग्रह करना और उसका निःस्वार्थ भाव से जनता में प्रचार करना ब्राह्मणों के जीवन का व्रत हो जाता है। सब प्रकार के अन्याय को बलपूर्वक राष्ट्र में से दूर करना क्षत्रियों के जीवन का व्रत हो जाता है। इस काम में यदि उन्हें अपना खून बहाना और सिर कटाना आवश्यक होगा तो वे निःस्वार्थ भाव से वह भी करेंगे। सब प्रकार के अभाव को राष्ट्र में से दूर करने का, राष्ट्र के लोगों की आर्थिक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए आवश्यक सब प्रकार के भौतिक पदार्थों की उत्पत्ति और उन्हें लोगों तक पहुँचाने का, निःस्वार्थ व्रत वैश्य लोग अपने जीवन में ले लेते हैं। और राष्ट्र के आर्थिक कल्याण के इन तीनों महा शत्रुओं से लड़ने में लगे हुए ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करके उन्हें इन तीनों शत्रुओं से लड़ने में सहायता देने का व्रत शूद्र लोग ले लेते हैं। जब किसी राष्ट्र का समाज ब्राह्मणादि वर्णों में व्यवस्थित होकर अपने आर्थिक कल्याण के शत्रु अज्ञान, अन्याय और अभाव से इस प्रकार लड़ने का निश्चय कर लेता है तो फिर उसके लोगों के लिए आर्थिक संकट नहीं रह सकता, फिर तो उसके लोगों की सब आवश्यकतायें पूरी होकर उन्हें पूर्ण आर्थिक कल्याण प्राप्त हो जायगा। वर्णाश्रम मर्यादा की रीति से व्यवस्थित समाज को जितना आर्थिक कल्याण प्राप्त हो सकता है उतना और किसी व्यवस्था में व्यवस्थित समाज को प्राप्त नहीं हो सकता। इसका कारण है। वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में यहां जो कुछ लिखा गया है उसे सूक्ष्मता से अध्ययन करने पर पाठक वर्ण-व्यवस्था के सिद्धान्त में तीन तत्त्वों को काम करता हुआ देखेंगे। वे तीन तत्त्व हैं:—

(१) कौशल।

(२) शक्ति प्रतिमान, और—

(३) यथा योग्य दक्षिणा।

(१) इनमें से पहले कौशल को लीजिए। संसार का कोई मनुष्य सब कामों को नहीं कर सकता। प्रत्येक मनुष्य की शक्ति सीमित है। वह अपनी सीमित शक्ति से सीमित ही कार्य कर सकता है। हम जो भी कार्य हाथ में लें वह हमें योग्यता के साथ करना चाहिए। योग्यता के साथ किया जाने पर ही कोई कार्य अपना अभीष्ट फल दे सकता है। सीमित शक्ति वाला मनुष्य अपने जीवन में एक—आध काम में ही वास्तविक योग्यता प्राप्त कर सकता है। इसलिये हमें अपनी रुचि और शक्ति को देख कर अपने जीवन के लिए किसी एक-आध कार्य को चुन लेना चाहिए। और उसी को अपने जीवन का लक्ष्य बनाकर उसमें पूर्ण योग्यता प्राप्त करनी चाहिए। यदि हम अनेक विषयों में हाथ डालेंगे तो हमें सबका पल्लवग्राही ज्ञान रहेगा। पूरी योग्यता हम किसी में भी प्राप्त न कर सकेंगे। और इस लिए हम समाज की जो सेवा, समाज का जो लाभ, कर सकते थे वह न कर सकेंगे। विषयों के अधूरे पल्लवग्राही ज्ञान से तो समाज को कोई विशेष लाभ नहीं पहुँचाया जा सकता। इसलिये हमें किसी एक विषय का चुनाव—वरण—करके उसमें तो पूर्ण योग्यता प्राप्त करनी चाहिए और अन्य विषयों के साधारण ज्ञान पर ही सन्तोष करना चाहिए। यदि हम सभी विषयों में पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सकते तो बड़ा ही अच्छा होता। पर हम बने ही ऐसे हैं कि हम सब विषयों में पूर्ण योग्यता प्राप्त

नहीं कर सकते। हम किसी एक-आध विषय में ही पूर्ण योग्यता प्राप्त कर सकते हैं। और वह भी सारा जीवन लगाकर। इसलिये हमारे लिये यही श्रेयस्कर है कि हम किसी एक विशेष विषय का वरण करके उसी में पूर्ण योग्यता—कौशल—प्राप्त करने में सारा जीवन अर्पण कर दें, और इस एक काम में कौशल प्राप्त करके राष्ट्र को अपनी शक्तियों का पूरा लाभ पहुँचायें। वर्णव्यवस्था का सिद्धान्त लोगों में यह कौशल, यह पूर्ण योग्यता, यह कमालियत उत्पन्न करता है। जब बालक गुरुकुलों में—शिक्षणालयों में—पढ़ने जाते हैं तो उन्हें कुछ निश्चित समय तक प्रारम्भिक शिक्षा—वह शिक्षा जिसका ज्ञान किसी भी विषय में जाने के लिये आवश्यक है—दी जाती है। तदनन्तर उन्हें प्रेरित किया जाता है कि वे अपनी रुचियों और शक्तियों की पड़ताल करके अपने जीवन का कोई एक लक्ष्य चुन लें। उन्हें योग्यता प्राप्त करके जीवन में समाज की सेवा करनी है। समाज के तीन शत्रु हैं—अज्ञान, अन्याय और अभाव। उन्हें अपना जीवन अज्ञान से लड़ने में लगाना है, अन्याय से लड़ने में लगाना है, या अभाव से लड़ने में लगाना है यह बालक और बालिकाओं को प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करने के पश्चात् अपने लिये चुन लेना चाहिये। और गुरुकुल वास का—ब्रह्मचर्याश्रम का—शेष समय उसी क्षेत्र से सम्बन्ध रखने वाली विशेष योग्यता—कमालियत—प्राप्त करने में लगाना चाहिए। फिर, अज्ञान भी अनेक प्रकार का है। एक-एक प्रकार के अज्ञान से लड़ने के लिए पृथक-पृथक् एक-एक विद्या है। कोई एक व्यक्ति सब विद्याओं में पूर्ण पाण्डित्य—कौशल—प्राप्त नहीं कर सकता। इसलिए बालक को यह भी निश्चय कर लेना होगा कि वह अज्ञान की किस शाखा से लड़ने में अपना जीवन समर्पित करेगा। यह निश्चय करके उसे गुरुकुल का अपना जीवन उसी से सम्बन्ध रखने वाली विद्या में कौशल उपलब्ध करने में लगाना होगा। तभी वह गृहस्थाश्रम में जाकर समाज भी अभीष्ट सेवा कर सकेगा। इसी प्रकार अन्याय भी अनेक प्रकार का है और उसका बलपूर्वक विरोध करने वाले क्षत्रियों के कर्तव्य भी अनेक प्रकार के हैं। कोई व्यक्ति क्षत्रियों के सभी कर्त्तव्यों में पारंगत नहीं हो सकता। किसी एक-आध कर्त्तव्य को पूरा करने की योग्यता में ही कोई व्यक्ति निष्णात हो सकता है। इसलिये अन्याय से बलपूर्वक लड़ना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले बालकों को यह भी निश्चय उसी समय कर लेना होगा कि वह क्षत्रियों के कर्त्तव्यों की किस दिशा में विशेष योग्यता—कौशल—प्राप्त करना चाहते हैं। यह निश्चय करके उन्हें उसी दिशा में कौशल प्राप्त करने में गुरुकुल-वास का अपना समय विशेष रूप से लगाना होगा। तभी वह गृहस्थ में जाकर राष्ट्र की अभीष्ट सेवा कर सकेंगे। इसी भांति अभाव भी अनेक प्रकार का है—उसकी भी अनेक शाखायें हैं। विशेष-विशेष प्रकार के अभाव को दूर करने के लिए विशेष-विशेष प्रकार के भौतिक पदार्थों की आवश्यकता है। कोई व्यक्ति उन सब पदार्थों को उत्पन्न करके जनता तक नहीं पहुँचा सकता। इसलिये अभाव से लड़ना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले बालकों को उसी समय यह भी निर्णय कर लेना होगा कि वे अभाव की किस शाखा से लड़ना चाहते हैं। यह निश्चय करके उन्हें उसी शाखा से सम्बन्ध रखने वाले पदार्थों की उत्पत्ति और उनके व्यवसाय की विद्या में कौशल प्राप्त करने में अपने ब्रह्मचर्याश्रम का समय विशेष रूपसे लगाना होगा। तभी वह गृहस्थमें जाकर समाज की अभीष्ट सेवा कर सकेंगे। अज्ञान को मिटाने में अपना समय और शक्ति लगाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को ब्राह्मण वर्ण के लोग कहा जाता है। अन्याय को बलपूर्वक मिटाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को क्षत्रिय वर्ण के लोग कहा जाता है। पदार्थों के अभाव

को मिटाना अपने जीवन का लक्ष्य बनाने वाले लोगों को वैश्य वर्ण के लोग कहा जाता है। और जो लोग आवश्यक ज्ञान न होने के कारण इन तीनों में से किसी से सीधा नहीं लड़ सकते, केवल इनसे लड़ने वाले ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करके ही समाज को लाभ पहुंचा सकते हैं उन लोगों को शूद्र वर्ण के लोग कहा जाता है। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मणादि के साथ जो "वर्ण" शब्द का प्रयोग होता है उसकी ध्वनि ही यह है कि मनुष्य को अपने जीवन का कोई एक लक्ष्य चुन कर उसमें विशेष योग्यता—कौशल—प्राप्त करनी चाहिये और उसके द्वारा समाज की सेवा करनी चाहिये। ब्राह्मणादि क्योंकि कौशल लाभ करने की इच्छा से अपने जीवन का एक-एक लक्ष्य वरण कर लेते—चुन लेते—हैं इसलिये उन्हें "वर्ण" कहते हैं।

जो लोग अपने जीवन का कोई लक्ष्य बना कर उसमें कौशल प्राप्त नहीं करेंगे और उसके द्वारा समाज की सेवा का व्रत नहीं लेंगे वे राष्ट्र की सुख—समृद्धि को भले प्रकार नहीं बढ़ा सकेंगे। जो व्यक्ति आज किसी विद्यालय में अध्यापन का कार्य शुरू करता है, कल कृषि या व्यापार के किसी काम में लग जाता है और परसों पुलिस या सेना में प्रविष्ट होकर राज्य की नौकरी कर लेता है वह इन में से किसी काम में भी कुशल नहीं होसकता। और किसी काम में भी कौशल न होने के कारण वह समाज को वह लाभ नहीं दे सकेगा जो किसी विषय में कौशल होने की अवस्था में वह दे सकता था। कुशल विद्वान् न होने के कारण वह विद्यार्थियों को उत्कृष्ट ज्ञान न दे सकेगा। इससे अन्ततोगत्वा समाज की हानि होगी। कुशल कृषिवेत्ता और व्यवसायविद् न होने के कारण वह उत्कृष्ट और बहु परिमाण में अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न न कर सकेगा। इस से भी अन्ततोगत्वा समाज की हानि होगी। इसी भांति पुलिस और सेना के कामों में कुशल न होने के कारण वह इन कामों को भी जैसा चाहिये वैसा न कर सकेगा। इसका परिणाम भी अन्ततः समाज की हानि होगा। इसलिये समाज की जिस व्यवस्था में "वर्ण" का—चुनाव का, व्रत और दीक्षा का—स्थान न होगा उस समाज में जैसी चाहिए वैसी आर्थिक सुख-समृद्धि नहीं हो सकेगी। क्योंकि उसके लोग कौशल प्राप्ति की ओर कम ध्यान देंगे, तन्मयता से किसी एक ही काम पर जीवन भर डटे रहने की प्रवृत्ति उनमें कम होगी और फलतः वे समाज को जितना लाभ पहुँचा सकते थे उतना नहीं पहुँचा सकेंगे। वर्ण व्यवस्था के आधार पर की जाने वाली समाज की व्यवस्था में "वर्ण" का—चुनाव का, व्रत और दीक्षा का—स्थान है। इसलिये इस आधार पर व्यवस्थित समाज में जैसी चाहिए वैसी आर्थिक सुख-समृद्धि उत्पन्न हो सकेगी। क्योंकि उसके लोग कौशल प्राप्ति अपना लक्ष्य रखेंगे, उनमें तन्मयता से किसी एक काम पर जीवन भर डटे रहने की प्रवृत्ति होगी और फलतः वे समाज को जितना लाभ पहुँचा सकते थे उतना पहुँचावेंगे। वर्ण—मर्यादा में दीक्षित ब्राह्मण के जीवन भर का लक्ष्य ज्ञान का प्रचार करना होगा। वह किसी प्रलोभन से इस लक्ष्य से नहीं हटेगा। इसलिये वह जनता को जो ज्ञान देगा वह उत्कृष्टतम और बहु परिमाण में होगा। वर्णमर्यादा में दीक्षित क्षत्रिय के जीवन भर का लक्ष्य अन्याय से समाज की रक्षा करना होगा। वह किसी प्रलोभन और भय से इस उद्देश्य से डिगेगा नहीं। इसलिये वह समाज की बहुत उत्तमता से रक्षा कर सकेगा। वर्ण मर्यादा में दीक्षित वैश्य का जीवन भर का लक्ष्य समाज के लिए भौतिक पदार्थ उत्पन्न करना होगा। वह किसी कारण भी इस उद्देश्य से परे नहीं जायेगा। फलतः वह समाज के लिए जो भौतिक पदार्थ उत्पन्न करेगा वे उत्कृष्टतम कोटि के और प्रचुर परिमाण

में होंगे और वर्ण मर्यादा में दीक्षित शूद्र के जीवन का लक्ष्य असूयारहित होकर राष्ट्र के ब्राह्मणों, क्षत्रियों और वैश्यों की सेवा करना होगा। इस प्रकार वर्ण व्यवस्था के इस कौशल प्राप्ति के तत्त्व का परिणाम यह होगा कि जो समाज इस व्यवस्था में व्यवस्थित होगा उसे पूर्ण आर्थिक कल्याण प्राप्त होगा।

(२) अब लीजिये शक्ति-प्रतिमान को। जो समाज वर्ण-व्यवस्था के आधार पर व्यवस्थित किया जायेगा उसमें समाज के किसी एक वर्ण के हाथ में समग्र शक्ति केन्द्रित नहीं हो सकेगी। उसमें सब वर्णों की शक्ति का प्रतिमान होगा—उसमें सब वर्णों की शक्ति परस्पर समतुलित रहेगी। उस समाज में कोई वर्ण, सम्पूर्ण शक्ति उसी के हाथ में आ जाने से दूसरे वर्णों पर अन्याय और अत्याचार नहीं कर सकेगा। वर्ण-व्यवस्था में ब्राह्मण को सम्मान—आदर-सत्कार—मिलता है। ब्राह्मण का अन्य सब वर्णों से अधिक सम्मान होगा। हरेक अवसर पर दूसरे वर्णों वाले लोग ब्राह्मण का सब से अधिक मान करेंगे। किसी भी कार्य को करने से पहले ब्राह्मणों की सम्मति को सब कोई पूछेगा और उसे आदर के साथ सुनेगा और यथा सम्भव उनकी सम्मति के अनुसार चलने का प्रयत्न करेगा। सभा-समाजों में; विवाह आदि उत्सव मंगलों में तथा राज-दरबार आदि में ब्राह्मणों को सब से आगे और सब से ऊँचा स्थान दिया जायेगा। ब्राह्मणों के आने पर सम्राट् को भी खड़ा होकर उनका सम्मान करना पड़ेगा। ब्राह्मणों का भरण-पोषण करना भी अन्य वर्ण अपना अहोभाग्य समझेंगे। ब्राह्मणों का यह सम्मान राष्ट्र के अन्य लोग इसलिये नहीं करते कि ब्राह्मण को इसकी चाह होती है। आर्य शास्त्रों[1] में ब्राह्मण जीवन का तो यह भी एक आदर्श बताया गया है कि वह सदा मान को अपने लिये विष के समान समझे—मान की कभी इच्छा न करे और उसके पीछे कभी न दौड़े। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं ब्राह्मण का जीवन बड़ा कठोर साधना का जीवन है। विरले लोग ही इस जीवन को अपना लक्ष्य बनाते हैं। परन्तु जिस राष्ट्र में इस जीवन को बिताने वाले लोग संख्या में जितने अधिक होंगे उतना ही वह राष्ट्र अधिक ऊँचा होगा और उसका कल्याण भी अधिक होगा। दूसरे वर्णों के लोग जब ब्राह्मणों का सम्मान अधिक करेंगे तो जनता में ब्राह्मण बनने की प्रवृत्ति अधिक होगी और राष्ट्र को ब्राह्मण अधिक संख्या में प्राप्त हो सकेंगे। स्वभाव से सब लोग ऐसे नहीं होते कि उन्हें मान की इच्छा बिल्कुल ही न हो। बहुत लोगों को मान की इच्छा होती है। प्रारम्भ में मान की इच्छा से प्रेरित होकर भी यदि समाज को ब्राह्मण अधिक संख्या में प्राप्त हो जायें तो यह समाज के कल्याण के लिए बड़ी भारी चीज़ है। फिर आगे चलकर ये ब्राह्मण लोग अपनी साधना द्वारा मान की इच्छा को भी जीत लेंगे। वस्तुत: समाज के लोग अपने कल्याण के लिये ब्राह्मणों का मान-सम्मान और आदर-सत्कार करते हैं।

अब रहे क्षत्रिय। क्षत्रियों को वर्ण-मर्यादा में राज्यशक्ति प्राप्त होती है। सब वर्णों पर—सारे राष्ट्र पर—शासन करने का काम क्षत्रियों को सौंपा जाता है। दूसरे शब्दों में दण्ड-शक्ति क्षत्रियों के हाथ में रहती है। क्षत्रियों को सम्मान ब्राह्मणों की अपेक्षा कम मिलता है। ब्राह्मणों के आगे राजा को भी उठके खड़ा हो जाना पड़ेगा। आते हुए ब्राह्मण के लिए राजा भी मार्ग छोड़ देगा। विचार-सभाओं में राजाओं को ब्राह्मणों की सम्मति को ही सब से अधिक मूल्य देना होगा। इस वर्ण मर्यादा में क्षत्रिय

---

१. मनु० २।१६२

को राज्याधिकार तो दिया गया है पर उसे सम्मान ब्राह्मण से बहुत कम दिया गया है।

अब आइये वैश्यों पर। वैश्यों को वर्ण मर्यादा में धन सम्पत्ति का सुख दिया गया है। वैश्य राज्याधिकारी भी नहीं हो सकते और उन्हें मान-प्रतिष्ठा भी ब्राह्मणों और क्षत्रियों जितनी नहीं मिल सकती। सभा-समाजों, उत्सव-मंगलों और राज-दरबारों में वैश्यों का आसन तीसरी श्रेणी में होगा। सम्पत्ति का वैभव ही उनके पास अन्य वर्णों से अधिक होगा।

इस प्रकार वर्ण मर्यादा में व्यवस्थित समाज में ब्राह्मणों को मान—प्रतिष्ठा तो सब से अधिक मिलेगी पर उनके पास राज्याधिकार और धन-वैभव नहीं होगा। क्षत्रियों के पास राज्याधिकार तो होगा पर उनकी मान प्रतिष्ठा ब्राह्मणों से कम होगी और उनके पास धन-वैभव वैश्यों से कम रहेगा। वैश्यों के पास अन्य वर्ण वालों की अपेक्षा धन-वैभव तो अधिक रह सकेगा पर उनके पास न राज्याधिकार रहेगा और न ही उनकी मान प्रतिष्ठा ब्राह्मणों और क्षत्रियों जितनी हो सकेगी। परिणाम यह होगा कि इस व्यवस्था में समाज के किसी वर्ण के हाथ में सारी शक्तियें इकट्ठी नहीं हो सकेंगी और इसीलिए एक वर्ण समाज के अन्य वर्णों पर अत्याचार करके उन्हें दुःखित नहीं कर सकेगा। हम मनुष्य जाति के इतिहास में देखते हैं कि कई बार समाज के किसी एक ही वर्ण के हाथ में मान-प्रतिष्ठा, राज्याधिकार और धन-वैभव सब कुछ आ जाता है, उदाहरण के लिये यदि भूमण्डल के आजकल के देशों की व्यवस्था को हम देखें तो वहां जो लोग धन-सम्पत्ति कमाने का काम करते हैं उन्हीं को सम्पत्तिशाली होने के कारण मान-प्रतिष्ठा सब से अधिक मिलती है और वे ही लोग अपने धन के प्रभाव से राज्य-शक्ति को भी प्राप्त कर लेते हैं। धन के प्रभाव से सब शक्तियें अपने हाथ में करके ये धनी लोग प्रजा के बहुसंख्यक लोगों पर खूब अत्याचार करते हैं। संसार की आजकल की यह व्यवस्था अवैदिक है। इसके स्थान पर संसार की वर्णों के अनुसार व्यवस्था बननी चाहिए। वर्ण-व्यवस्था में जो व्यक्ति धन-सम्पत्ति कमाने का काम करता है वह राज्याधिकार प्राप्त ही नहीं कर सकता और न ही उसे मान-प्रतिष्ठा सब से अधिक मिल सकती है। जो कोई इन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करेगा उसे दण्ड मिलेगा। इस भांति वर्ण-व्यवस्था का यह शक्ति-प्रतिमान किसी वर्ण को अन्य वर्णों पर अत्याचार नहीं करने देगा। फलतः सारा समाज खूब सुखी रहेगा।

(३) अब वर्ण व्यवस्था के तीसरे तत्त्व यथायोग्य दक्षिणा को लीजिए। ब्राह्मण व्यक्ति ज्ञान द्वारा समाज की सेवा करता है। क्षत्रिय व्यक्ति अपनी शक्ति से अन्याय को मिटा कर समाज की सेवा करता है। वैश्य व्यक्ति भौतिक पदार्थों को उत्पन्न करके और उन्हें लोगों तक पहुंचा कर समाज की सेवा करता है। और शूद्र व्यक्ति शारीरिक सेवा द्वारा समाज की सेवा करता है। अब इस समाज सेवा के बदले में इन चारों को यथायोग्य दक्षिणा भी मिलनी चाहिए। सेवा के बदले में समुचित दक्षिणा न मिलने पर इनका जीवन नहीं चल सकेगा और फलतः इन द्वारा राष्ट्र को मिलने वाली सेवा का क्रम टूट जायेगा। जिसका परिणाम होगा राष्ट्र का सीधा विनाश अथवा इन लोगों को अपना-अपना जीवन-लक्ष्य त्याग कर जीवन-यात्रा के लिए कोई और काम हाथ में लेना पड़ेगा। उसका परिणाम होगा कार्यों में कौशल-हीनता। जिसका फल होगा राष्ट्र की सुख-समृद्धि की न्यूनता। वर्ण मर्यादा में सब लोगों को यथायोग्य दक्षिणा मिलने की व्यवस्था कर दी गई है। जीवन के पांचों आलम्बन पदार्थ तो सब वर्णों के लोगों को मिलेंगे ही। इसके अतिरिक्त ब्राह्मणों को मान-प्रतिष्ठा अधिक मिलेगी। क्षत्रियों को राज्या-

कार मिलेगा। और वैश्यों को धन-वैभव और तज्जनित सुख-आराम अपेक्षाकृत अधिक मिलेंगे।

संसार की आजकल की अवैदिक समाज व्यवस्था में सब लोगों को जो दक्षिणा दी जाती है वह केवल रुपये—पैसे—सोने—चांदी—के रूप में ही दी जाती है। इससे एक तो धन की प्रतिष्ठा बहुत बढ़ जाती है जिससे अनेक अनर्थ होते हैं। दूसरे सब लोगों को यथायोग्य—जैसी चाहिये वैसी—दक्षिणा नहीं मिलती। आलम्बन पदार्थ तो सब को मिलने ही चाहियें। इनकी आवश्यकता तो मनुष्य मात्र को समान रूप से है। इसलिये रुपया-पैसा आदि इतनी सामग्री तो दक्षिणा में प्रत्येक मनुष्य को मिलनी चाहिये जिससे उसे आलम्बन पदार्थ प्राप्त हो सकें। परन्तु इसके आगे भी मनुष्य की आवश्यकतायें बची रहती हैं। और ये आवश्यकतायें भिन्न भिन्न मनुष्यों की भिन्न भिन्न प्रकार की होती हैं। आलम्बन पदार्थों के अतिरिक्त ब्राह्मण वृत्ति के लोगों की ये आवश्यकताएँ ज्ञानार्जन—सामग्री की सुविधा और मान प्रतिष्ठा होती हैं। यद्यपि आगे चलकर ब्राह्मण मान प्रतिष्ठा की भावना को तो जीत भी लेता है। यदि ब्राह्मण को ज्ञानार्जन-सामग्री की सुविधा और सम्मान मिलता रहे तो न उसे राज्याधिकार चाहिए और न ही उसे धन-वैभव चाहिए। यदि उसे ये न देकर राज्याधिकार और धन-वैभव भी दिया जायेगा तो वह दुःखी रहेगा। क्षत्रिय वृत्ति के लोगों की ये आवश्यकतायें अधिकार का प्रेम, शक्ति की इच्छा तथा शासन की चाह हैं। उन्हें धन-वैभव विशेष नहीं चाहिये। सम्मान की भी उन्हें इतनी परवाह नहीं। उन्हें अधिकार दे दो उनका आत्मा सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक उनके हाथ में अधिकार—शक्ति नहीं आता तब तक वे भारी असन्तुष्ट रहते हैं। वैश्य वृत्ति के लोगों की ये आवश्यकतायें धन-वैभव और तज्जनित सुख-आराम है। इनका चित्त इस ओर अधिक आकृष्ट होता है। यदि इनके हाथ में राज्याधिकार भी कभी आ जाये तो वे उसे भी धन-वैभव का साधन बनाने का प्रयत्न करते हैं। जब तक इनके पास धन वैभव नहीं होगा तब तक ये असंतुष्ट रहेंगे। वर्ण मर्यादा में सब लोगों को यथा योग्य दक्षिणा दी जाती है। इससे वे भरपूर सन्तुष्ट रहते हैं। और इसीलिए समाज सेवा के अपने अपने निर्धारित कामों को बड़े मनोयोग के साथ करते हैं। जिसका परिणाम यह होता है कि राष्ट्र की सुख समृद्धि खूब बढ़ती हैं।

वर्ण व्यवस्था का अत्यावश्यक सहकारी अंग आश्रम व्यवस्था भी राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में भारी सहायक होती है। ब्रह्मचर्याश्रम में सब लोग अपने अपने वर्णों के कामों में योग्यता-कौशल प्राप्त करेंगे। और फिर गृहस्थाश्रम में सब लोग अपने अपने वर्ण के कामों को योग्यतापूर्वक करके समाज की सेवा करेंगे और उसकी सुख समृद्धि बढ़ायेंगे। इस भान्ति तो आश्रमव्यवस्था राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक होती ही है। एक और प्रकार से भी यह व्यवस्था उसके बढ़ाने में सहायक होती है। और वह इस प्रकार कि ब्रह्मचर्याश्रम में कोई व्यक्ति धन-सम्पत्ति कमाने का और तज्जनित विशेष सुख आराम का जीवन नहीं बिताता। इस आश्रम में प्रत्येक व्यक्ति का जीवन तपस्या का जीवन होता है। गृहस्थाश्रम के २५—३० वर्ष के जीवन में किसी व्यक्ति को उपार्जन और संग्रह का तथा तज्जनित सुख-आराम का जीवन बिताना होता है। वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में फिर उपार्जन और संग्रह का जीवन बन्द हो जाता है। इन आश्रमों में फिर ब्रह्मचर्य की भान्ति तपस्या और धन की दृष्टि से त्याग का जीवन आरम्भ हो जाता है। इस प्रकार कोई भी व्यक्ति अपने जीवन के केवल चतुर्थांश में उपार्जन और संग्रह का काम करता है। आज कल की प्रचलित अवैदिक व्य-

वस्था की भांति आश्रममर्यादा में कोई व्यक्ति सारा जीवन भर कमाने का काम नहीं करता रह सकता। इसका फल यह होगा कि पिछली पीढ़ी आने वाली पीढ़ी के लिए कमाने की जगहों को खाली करती आयेगी। परिणामतः राष्ट्र में कभी ऐसी अवस्था नहीं आयेगी जब कि किसी को जीविका के लिए कोई काम करने को न मिलता हो। जैसा की आज कल की लोगों को जीवन भर कमाते रहने की आज्ञा देने वाली अवैदिक समाज-व्यवस्था में प्रायः होता रहता है। आश्रम मर्यादा में गृहस्थाश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को करने को काम मिलेगा और वह अपने परिश्रम से आजीविका उत्पन्न कर सकेगा। ब्रह्मचर्य, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रमों में प्रत्येक व्यक्ति की पालना समाज करेगा। इस भांति कोई भूखा और कोई निकम्मा न रह सकेगा। सब लोग आर्थिक कल्याण और सुख का जीवन बितायेंगे।

एक और दृष्टि से भी आश्रम व्यवस्था राष्ट्र के आर्थिक कल्याण को बढ़ाने में सहायक होगी। आश्रम-व्यवस्था में एक व्यक्ति के जीवन का तीन चतुर्थांश त्याग, तपस्या में और धन–सम्पत्ति से वितृष्णा में बीतता है। इससे उसके जीवन में धन सम्पत्ति की महत्ता और मोह-माया बहुत कम हो जाती है। जब धन की महत्ता और मोह कम हो गये तो इनसे उत्पन्न होने लोभ, स्वार्थ, ईर्ष्या आदि अवगुण भी उसमें बहुत कम हो जाते हैं। और जब ये अवगुण नहीं रहे तो इनसे होने वाले लड़ाई झगड़े और अन्याय-अत्याचार भी कोई व्यक्ति किसी पर नहीं करता। जब राष्ट्र के लोग परस्पर अन्याय-अत्याचार नहीं करेंगे तो सब की आवश्यकताएँ बहुत अच्छी तरह पूरी होंगी। कोई किसी प्रकार के कष्ट में न रहेगा। सर्वत्र सुख-समृद्धि रहेगी। सबको यथेष्ट आर्थिक कल्याण प्राप्त होगा।

इस प्रकार वर्णाश्रम मर्यादा में व्यवस्थित समाज का जितना आर्थिक कल्याण होगा उतना और किसी व्यवस्था में व्यवस्थित समाज का नहीं हो सकता।

वेद में वर्ण व्यवस्था का जो स्वरूप प्रतिपादित है उसे इस छोटे से निबन्ध में संक्षेप से अंकित किया है। पाठकों को मन्त्रों और उनके अर्थों की बहस में न पड़ना पड़े इसलिये प्रस्तुत निबन्ध में मंत्रों को उद्धृत करने से भी यथा संभव बचा गया है। वेद में अपने कहने के निराले ढंग में वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है उसका मर्माशय ही केवल इस निबन्ध में दिखाने का प्रयत्न किया गया है।

मोक्ष का स्वरूप

[महात्मा बुद्ध—स्वामी शङ्कराचार्य—ऋषि दयानन्द]

(ले०—आयुर्वेद विशारद श्री पं० नारायणदत्त जी सिद्धान्तालङ्कार देहली)

महात्मा बुद्ध

'दर्शन' का अर्थ सरल भाषा में 'देखना' है। देखने को जितना सरल कार्य हम समझते हैं यह उतना ही कठिन है। जो घटनायें नित्य प्रति हमारी आंखों के सामने से गुजर जाती हैं और हम उन्हें देख लिया समझते हैं, महापुरुषों के सामने वे ही छोटी २ घटनाएं समस्या का रूप धारण कर लेती हैं। उन समस्याओं का उनके दृष्टिकोण से समाधान "दर्शन" (फिलासफी) बन जाता है। किसी

दर्शन का स्वाध्याय करने से पहिले उस महापुरुष के विचारों के दृष्टि विचारों के दृष्टिकोण को समझना आवश्यक है। विचारों के दृष्टिकोण को समझते हुये स्वाध्याय करने पर हमें दो महापुरुषों के सर्वथा भिन्न प्रतीत होते हुए विचारों में भी अपूर्व एकता दृष्टिगोचर होगी। उदाहरण के तौर पर महात्मा बुद्ध और स्वामी शङ्कराचार्य और और ऋषि दयानन्द के मोक्ष विषयक विचार आप के सामने रखने का प्रयत्न करूँगा।

महात्मा बुद्ध ने रोगी वृद्ध और मृतक को देखा। रोग, वृद्धावस्था, और मृत्यु ये तीन शारीरिक अवस्थायें मनुष्य को निराशा की ओर ले जाने वाली हैं। निराशा ही दु:ख का मूल है। दु:ख को दूर किस तरह किया जावे, इसके वास्तविक ज्ञान के लिये महात्मा बुद्ध ने तपस्या की। वे दीर्घ काल तक समाधिस्थ रहे। जब "जान लिया," बुद्ध (ज्ञानी) बन गये, तब संसार में आये। अपने अनुभव से प्राणिमात्र को लाभ पहुँचाने के लिये प्रचार का कार्य आरम्भ किया।

महात्मा बुद्ध का सबसे मुख्य व्यावहारिक उपदेश "अहिंसा" है। 'मेरा दु:ख दूर हो जाय, चाहे वह दूसरे को दु:खी रखने से हो' यह भावना मेरे दु:ख को दूर नहीं कर सकती। गांव में हैज़े या प्लेग का रोग है तो केवल अपने घर की सफाई से बीमारी वहां से नहीं जायेगी। मैं नीरोग रहूं, इतने मात्र से मैं सुखी नहीं हो सकता। क्योंकि मेरे भाई बहिन, मेरी भार्या, पुत्र और पुत्री के रोग मुझे अपने रोग से भी अधिक दु:खी करते हैं। मैं सुखी रहूं, मेरे पास कोई दु:ख न आवे, यह स्वार्थ भावना तभी पूरी हो सकती है जब मेरे परिवार में, मेरे गांव में कोई दु:खी न हो। दु:ख की सत्ता के नाश से ही मेरा दु:ख नष्ट होगा।

शारीरिक रोग और मानसिक दु:ख बहुत संक्रामक (छूत से फैलने वाले) हैं। घर में रोग न आवे इसके लिये गांव की सफाई की आवश्यकता है। मेरे गांव में दूसरे गांव के लोगों के आने से वहां की बीमारी यहां भी फैल सकती है, इसके लिये अपने गांव को बचाने के लिये आस पास के दूसरे गांवों और शहरों की सफाई की जरूरत है। इतना ही नहीं अपितु समस्त संसार की सफाई जरूरत है। यह सफाई आरम्भ अपने घर से ही होगी। घर से ही नहीं प्रत्युत अपने से। यही अवस्था मानसिक रोग (दु:ख) की है। मेरे दु:ख का नाश पूर्ण रूप से तभी हो सकता है जब मेरे सम्पर्क में आने वाले साथियों और साथियों के साथियों (समस्त विश्व) का दु:ख दूर हो जावे। अपने अन्दर समस्त विश्व को सुखी देखने की कामना का नाम ही अहिंसा है। अहिंसा और विश्वप्रेम एक ही भाव के दो द्योतक शब्द हैं। भगवान् बुद्ध ने प्रथम उपदेश सारनाथ में अहिंसा का ही दिया था।

मनुष्य प्रत्येक कार्य विशेष फल की आशा से ही करता है। यदि उसकी आशा या चाहना पूरी हो जाय तो वह अपने अन्दर हर्ष का अनुभव करता है। चाहना के विपरीत परिणाम को देखकर शोक और दु:ख का अनुभव करता है।

इसके अतिरिक्त आंख, कान, नाक, जिह्वा और त्वचा (स्पर्शेन्द्रिय) चुपचाप चाहना के बिना भी चारों ओर अपनी पूरी दौड़ लगाते हैं। चाहना के अनुकूल तथा प्रतिकूल दोनों प्रकार के अनुभव अन्दर पहुंचाते हैं। अनुकूल अनुभवों की प्राप्ति से हर्ष और विपरीत अनुभवों की प्राप्ति से शोक जागृत हो जाते हैं।

प्रत्येक कार्य अपनी सफलता और असफलता के साथ तथा अनुभव अपनी अनुकूलता प्रतिकूलता के साथ आत्मा में विशेष छाप (संस्कार) छोड़ जाते हैं। आत्मा में बसने से इनका नाम वासना

हो जाता है। ये वासनायें ही मनुष्य को कार्य क्षेत्र में प्रेरित करती हैं।

वासनायें हमारे अन्दर भिन्न २ रुचियों चाहनाओं, कामनाओं या तृष्णाओं को उत्पन्न करती हैं। कामनाओं से उनकी प्राप्ति के लिये लालसा और लालसा से प्रेरणा उत्पन्न होती है।

भिन्न २ प्रेरणाओं—गतियों—संसरणों का नाम ही संसार है। वासनाओं की तृप्ति के लिये ही मनुष्य संग्रह और संगृहीत वस्तुओं के मोह जाल में फंस जाता है।

प्रकृति एक नटी के समान हैं संसार रूपी नाट्यशाला में यह नाना प्रकार के हास विलास और शृङ्गारों के साथ पुरुष के सन्मुख अपने नाच का प्रदर्शन करती है। मुग्ध हुआ पुरुष उसके पीछे दौड़ता है। एक जन्म में यह दौड़ पूरी नहीं होती। संस्कार या वासनायें पुरुष को दूसरा चोला पहरा देती हैं। फिर वही वासना से तृष्णा या कामना, कामना से प्रेरणा की दौड़ शुरू हो जाती है। नाना जन्म गुजर जाते हैं। यह प्रकृति नटी नित्य नये नाच दिखाती है। वे नाच वासनाओं को परिवर्धित जागृत और उत्तेजित बनाये रखते हैं। इसी चक्कर की पुनरावृत्ति होती है।

वासनाओं के सामने आशा प्रकाशस्तम्भ का काम करती है। एक बार मनुष्य विफल होता शोक उसके सामने छा जाता है। आशा रूपी ज्योति को देखकर फिर वासना उत्तेजित हो जाती है और तृष्णा (कामना), लालसा और प्रेरणा का चक्र शुरू हो जाता है।

रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु ये तीन महादुःखदायी अवस्थायें प्रत्येक व्यक्ति के आगे हर जन्म में उपस्थित होती है।

"इन अवस्थाओं पर कैसे विजय पाई जाय" यह समस्या महात्मा बुद्ध के सामने आई। इसका सरल उत्तर जो सब महापुरुषों ने पाया और महात्मा बुद्ध ने भी पाया था—"जन्म का नाश" जब जन्मही न होगा तो रोग, वृद्धावस्था और मृत्यु किसके पास आवेगी?

जन्म का नाश कैसे हो? जब इस शरीर रूपी मन्दिर में जगमगाता हुआ दीपक सदा के लिये बुझ जाय। दीपक का बुझ जाना, दीपनिर्वाण या निर्वाण—एक ही भाव के द्योतक हैं। "निर्वाण ही एक मात्र उपाय है जिससे हम इस समस्त चक्र को समाप्त कर सकते है" यह भगवान बुद्ध ने जाना और इसी का उपदेश किया।

दीपक का निर्वाण कैसे हो? उत्तर सीधा है—जब उसमें तेल न रहे। वासना या संस्कार ही इस अन्दर के दीपक के तेल हैं। वासनाओं के नाश से जन्म का नाश हो सकता है। जन्म के नाश का नाम ही निर्वाण है। त्याग ही वासनाओं के नाश का उपाय है। दुःख मूल संसार का त्याग कर भिक्षुक बनने का उपदेश महात्मा बुद्ध ने मुमुक्षु शिष्यों को दिया।

शङ्कराचार्य

आचार्य शङ्कर ज्ञान मार्ग के पथिक थे। पारमार्थिक ज्ञान ही उनका चरम लक्ष्य था। यही उनका निर्वाण और यही मोक्ष था। पारमार्थिक ज्ञान क्या है?

परम अर्थ—ब्रह्म का ज्ञान—ही परमार्थ ज्ञान है। परमार्थ का इस प्रकार का ज्ञान जहां मनुष्य अपने ध्यान को निर्विकल्परूप से ब्रह्म में केन्द्रित कर दे वही पारमर्थिक ज्ञान है।

निर्विकल्प ज्ञान उस अवस्था का नाम है जहां मनुष्य ध्यान को इस प्रकार एक वस्तु में केन्द्रीभूत

करदे कि उसमें अपना ज्ञान भी न रहे। उस ज्ञान में किसी प्रकार की लहर न रहे इस अवस्था को समझने के लिये एक स्थूल उदाहरण आपके सामने रखता हूँ।

महाभारत के इतिहास में आचार्य द्रोण जब कौरव और पाण्डवों को शस्त्र विद्या की शिक्षा दे चुके—परीक्षा के लिये—एक मैदान में ले गये। वहां एक वृक्ष की शाख पर एक पक्षी की मूर्ति टांग दी गई। आचार्य सब शिष्यों को बुलाने लगे। सर्व प्रथम युधिष्ठिर को बुलाया गया। युधिष्ठिर से कहा कि तुम उस पक्षी की आंख को लक्ष्य बनाकर तीर चलाने के लिये तैय्यार हो जाओ। युधिष्ठिर तैय्यार होकर खड़े हुए और आचार्य की आज्ञा की प्रतीक्षा करने लगे।

आचार्य ने पूछा—तुम्हें सामने पक्षी की आंख ठीक तौर पर दीख रही है?

युधिष्ठिर—हां।

आचार्य—पक्षी दृष्टिगोचर हो रहा है?

युधिष्ठिर—हां

आचार्य—मैं तथा तुम्हारे भाई तुम्हें दीखरहे हैं।

युधिष्ठिर—हां

आचार्य द्रोण युधिष्ठिर को दूर हटा देते हैं और अन्य शिष्यों को बुलाने लगते हैं। सब शिष्यों का युधिष्ठिर की तरह प्रश्नों का उत्तर सुनकर अन्त में आचार्य ने अर्जुन को बुलाया।

अर्जुन पक्षी को लक्ष्य करके धनुष बाण तैय्यार कर लेते है। और आचार्य द्रोण के पूर्वोक्त प्रश्नों के उत्तर में कहते हैं कि मुझे, आचार्य! कौरव पाण्डव तथा वृक्ष का दर्शन तो दूर रहा—पक्षी भी नहीं दीख रहा। केवल काली सी आंख की पुतली ही दृष्टिगोचर हो रही है।

आचार्य द्रोण अर्जुन को तीर चलाने की आज्ञा देते हैं तीर सीधा पक्षी की आंख को बेध देता है।

इसी प्रकार मनुष्य परम तत्व ब्रह्म के ज्ञान के लिये इस संसार से अपनी बाह्य दृष्टि हटा कर ध्यान को एकाग्र करता हुआ लक्ष्य की ओर केन्द्रित करने लगता है। जिस प्रकार अर्जुन पक्षी की आंख को बींधने के लिये अपनी दृष्टि को सब ओर से पूर्णतया हटाकर केवल पक्षी की आंख में सीमित कर लेता है, उसी प्रकार ध्यानावस्थित ब्रह्मज्ञानी प्राकृतिक जगत् से अपनी दृष्टि को हटा कर ब्रह्म के आनन्दमय रूप में सीमित कर लेता है। अन्ततः ध्यान से समाधि की उस अवस्था में पहुंच जाता है जहां "मैं" को भी भूल जाता है। केवल "आनन्द" ही रह जाता है। इस अनन्त सागर में कोई लहर नहीं। "प्रकृति" दृष्टि में नहीं। "मैं" विलीन होजाता है। केवल "आनन्द" "निर्विकल्प आनन्द" रह जाता है। यही शङ्कराचार्य का मोक्ष है।

इसी अवस्था का नाम उपनिषत्कार "नेह नानास्ति किञ्चन" मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह नानेव पश्यति" आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन" इत्यादि शब्दों से करते हैं।

मनुष्य के विचार परिवर्तनशील हैं। आज जो कुछ देखता है तथा देखे हुए का जो स्वरूप समझता है' कल विचारधारा के परिवर्तन के कारण पूर्व समझ में भी परिवर्तन हो जाता है पूर्व वस्तु का स्वरूप भी बदल जाता है। पहला देखा और समझा हुआ रूप मिथ्या हो जाता है। नवीन सत्य बन जाता है। इसी जन साधारण की धारणा को लेते हुए आचार्य शङ्कर निर्विकल्प समाधि की अवस्था में पहुँचे हुए योगी की दृष्टि में सत्य और मिथ्या का वर्णन करते हैं। निर्विकल्प समाधि में पहुँचे हुए

योगी के सामने केवल "आनन्द" ही आनन्द" है। यही उसका अन्तिम ज्ञान है। इसमें किसी नूतन परिवर्तन की अपेक्षा नहीं। इस ज्ञान के प्रति सम्पूर्ण पूर्व व्यवहार तथा ज्ञान उस योगी की दृष्टि में नहीं रहे। यही शङ्कराचार्य का अद्वैत है।

ऋषि दयानन्द

ऋषि दयानन्द ने ज्ञान और कर्म दोनों को मिला दिया। मोक्ष को प्राप्त करना मनुष्य का उद्देश्य है। उसे उस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये ईश्वर ने मनुष्य जन्म दिया है। यह मानव देह तथा संसार की समस्त विभूतियां उस उद्देश्य तक पहुँचने के लिये सहायक साधन है। अपने विचारों से हम इन सांसारिक पदार्थों को सुखदायक तथा दुःखदायक बना सकते है।

भोजन शरीर की उन्नति का मूल साधन है। अधिक भोजन शरीर का घातक है। जिस रूप में भोजन का सेवन करनाचाहिये उस रूप में न करने से वही भोजन मनुष्य देह में रोगों की उत्पन्न कर देता है।

भोजन शरीर की उन्नति का साधन बना रहे इसके लिये ज्ञान और संयम की आवश्यकता है। मनुष्य को क्या खाना चाहिये, क्या नहीं खाना चाहिये, किसरूप में खाना चाहिये? इन सब बातों का ज्ञान रहना चाहिये। अधिक मात्रा में भोजन न खाया जावे, स्वाद की दृष्टि में शरीर को हानि पहुंचाने वाले भोजन (चाट आदि) न खाये जावें, इसके लिये संयम की आवश्यकता है। भोजन शरीर की उन्नति का साधन है परन्तु उसे उन्नति का साधन बनाने के लिये ज्ञान और संयम की आवश्यकता है। इसी प्रकार संसार की समस्त ईश्वर प्रदत्त विभूतियां हमें उन्नति के मार्ग की ओर ले जावेंगी यदि हमारे अन्दर ज्ञान और संयम हो।

महात्मा बुद्ध ने निर्वाण का साधन त्याग को कहा। ऋषि दयानन्द ने वह स्थान संयम को दिया। महात्मा बुद्ध ने वैराग्य का मार्ग संसार के सामने रखा। ऋषि दयानन्द ने वैराग्य का अर्थ किया कि विशेष राग को छोड़ दो, भोग में लिप्त न रहो, भोग के वशीभूत न हो जाओ, भोग को अपने वश में रखो। ऋषि दयानन्द के मत में संसार भयङ्कर विष नहीं है। इसे त्याग कर भिक्षुक बनने की आवश्यकता नहीं है। संयम का साथ न होने पर यह विष बन जाता है। भोजन के परित्याग से शरीर सुखी न होगा। वह क्षीण होता चला जावेगा। असंयम के साथ उसका सेवन विष बन जावेगा। वह शरीर को रोगी बना देगा। संयम के साथ सेवन भोजन को अमृत "दुःख से मोक्ष" का साधन बनाए रखेगा। इसी प्रकार इस संसार को त्याग कर भिक्षुक बनने से मुक्ति का मार्ग न खुल जावेगा। संयम को छोड़कर संसार में रहने से संसार अवश्य विष बन जावेगा। संयम इसे अमृत (मोक्ष का साधन) बना देगा।

आचार्य शङ्कर के ज्ञान मार्ग की अवहेलना भी ऋषि दयानन्द ने नहीं की। उसे आदर की दृष्टि से देखा।

योग दर्शन में मोक्ष को प्राप्त करने के लिये "यम, नियम, आसन, प्राणायम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि, आठ साधन बतलाये हैं। इस अष्टाङ्ग योग साधन के द्वारा मनुष्य अपने आचार व्यवहार को पवित्र बनाता हुआ शरीर को स्वस्थ प्रसन्न (रोगशोकादि रहित) रखता हुआ इन्द्रियों को वशीभूत करता हुआ चित्त को एकाग्र करता हुआ समाधि की अवस्था को पहुँचता है।

समाधि दो प्रकार की है—सविकल्प तथा निर्विकल्प। सविकल्प समाधि की अवस्था में मनुष्य ब्रह्म में अपने ध्यान को एकाग्र कर लेता है। उसका ध्यान पूर्णतया अपने लक्ष्य ब्रह्म में ही रहता है। उसकी दृष्टि में ब्रह्म के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं रहती।

निर्विकल्प समाधि की अवस्था में "स्वयं को भी भूल जाता है।" आनन्द के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु का भान नहीं रहता।

इस प्रकार अष्टांङ्ग योग साधन के द्वारा ऋषि दयानन्द उसी लक्ष्य पर पहुँचते हैं जहां शङ्कराचार्य्य।

ऋषि दयानन्द उसी "अद्वैत" पर पहुँचते हुए भी यह नहीं भूलते कि यह निर्विकल्प समाधि की अवस्था अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्त की एकाग्रता का उच्चतम रूप है।

जिस समय अर्जुन पक्षी की आंख को बींधने के लिए धनुष बाण लेकर लक्ष्य में पूर्णतया दृष्टि को केन्द्रीभूत करता हुआ कहता है कि मुझे कौरव, पाण्डव, आचार्य द्रोण, वृक्ष तथा पक्षी नहीं दीख रहे तो उसका यह अभिप्राय नहीं है कि वे नष्ट हो गये या नहीं रहे। उसका इतना मात्र अभिप्राय है कि अर्जुन की दृष्टि में नहीं रहे। उनकी सत्ता में कोई अन्तर नहीं आता। वे वैसे के वैसे उपस्थित हैं।

इसी प्रकार निर्विकल्प समाधि में स्थित योगी अद्वैत की अवस्था में है। उसके ज्ञान में द्वैत नहीं है। इसका यह अभिप्राय नहीं कि प्रकृति और आत्मा नष्ट हो गये या नहीं रहे। इसी बात को योग दर्शनकार निम्न शब्दों में प्रकट करते हैं:

"कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्।"

कृतार्थ—निर्विकल्प समाधि में पहुंचे हुए योगी की दृष्टि में नष्ट हुआ २ भी यह प्रधान और आत्मा का संसार वास्तव में अनष्ट है। क्योंकि अन्य उस अवस्था में न पहुँचे हुए प्राणी उसका यथार्थरूप में उपयोग कर रहे हैं। इस प्रकार ऋषि दयानन्द का मोक्ष, कर्म और ज्ञान दोनों का सम्मिलित परिणाम है। मनुष्य के कर्म सीमित है, अतः मोक्ष भी अनन्त न होगा। उसकी सीमा होगी। उस सीमा के अनन्तर आत्मा पुनः इस संसार में प्रवेश करता है। इस प्रकार यह अनादि संसार का अनन्त चक्र चलता रहता है।

मोक्ष और उसका साधन

(लेखक—प्रो० वीरेन्द्र जी विद्यावाचस्पति, एम. ए, तीर्थ-चतुष्टय, साहित्याचार्य)

प्रत्येक मनुष्य इस संसार में दुःख से बचने का और सुख-प्राप्ति का अहर्निश प्रयत्न करता है। यह मनुष्य के स्वभाव के लिये अघटित घटना होगी कि कोई व्यक्ति दुःखों का पहाड़ झेलने के लिये ही कमर कस कर चल पड़ा हो। आने वाले सुख की आशा में, चाहे वह अपने स्वार्थ साधन के लिये हो या आत्मौपम्य भावना से पदार्थ साधन के लिये हो, कोई मानव कठिन से कठिन आपत्तियों और दुःखों का सामना कर सकता है; परन्तु ध्येय अन्ततोगत्वा सुख और कल्याण की उपलब्धि ही होगी। जब आदमी का लक्ष्य ही दुःख से छुटकारा और आनन्द प्राप्ति है तो यह स्वाभाविक प्रश्न उठता है कि वह दुःख से मुक्ति या आनन्द की प्राप्ति वास्तविक स्वरूप में क्या है और उसकी ओर कदम बढ़ाने के लिये क्या साधन हैं।

आम तौर से तो संसार में जिसे दुःख समझा जाता है उसका अधिक सम्बन्ध अपने शरीर से, इन्द्रियों से और अपने से सम्बद्ध प्राणियों से है। ग्रीष्म में अधिक गर्मी का लगना, हेमन्त में पाले से ठिठुरना, भूख से तड़पना, प्यास से व्याकुल होना, चोट लग जाना ये सब दुःख हैं। इनसे बचने के लिये दिन रात दौड़ हो रही है। दुर्गन्ध आना, कुरूप चीज़ों का आंख के सामने पड़ना, कटु शब्दों और गालियों का कान को विदीर्ण करना, गले सड़े और स्वादरहित पदार्थों का अरुचि उत्पन्न करना और कड़ी अस्पृश्य चीज़ों का स्पर्श का विषय बनना प्रत्येक व्यक्ति यथासंभव पसन्द नहीं करता। इनसे सुरक्षित रहने के लिये नानाविध उपाय करता है। अपने सम्बन्धियों के साथ भी घटित होने वाले दुःखों को हम अपना दुःख समझते हैं और उससे यथासंभव त्राण पाने का प्रयत्न करते हैं। पुत्र का रुग्ण होना पिता के लिये अपना ही दुःख है और उससे छूटने के लिये वह कुछ उठा नहीं रखता। संसार के अनेक पेशे तथा व्यवसाय इन्हीं दुःखों से छुट्टी दिलाने के लिये हैं अथवा इन दुःखों से छुटा कर उनके विपरीत सुखों को दिलाने वाले हैं। शरीर को हर तरह से चैन मिलना, इन्द्रियों को सुन्दर रूप रस आदि की प्राप्ति हो जाना तथा धरा धाम तथा सम्बन्धियों का संपन्न होना ये भावात्मक सुख हैं जिनके लिये जनता दिन रात कोशिश कर रही है। परन्तु क्या उपर्युक्त ही दुःख के तथा सुख के रूप हैं? थोड़े से विवेचन से मालूम हो जाता है कि नहीं। इनको तो हम स्थूल दुःख तथा सुख कह सकते हैं। इनकी अपेक्षा अधिक सूक्ष्म तथा महान् दुःख संसार में हैं तथा उन्हीं की तुलना में सूक्ष्म तथा महान् सुख भी हैं।

शरीर के सुख साधनों की पूरी उपस्थिति होने पर भी, इन्द्रियों की तृप्ति के लिये सम्पूर्ण परिस्थिति के रहने पर भी और सांसारिक वैभवों में लोटते रहने पर भी हम कई व्यक्तियों को दुःखी पाते हैं। सेठों, राजाओं तथा महाराजाओं को भी कोमल शय्या पर करवटें बदलते तथा विषण्णवदन घूमते पाते हैं। यह क्यों? उनको मानसिक दुःख का सामना करना पड़ रहा है, चित्त अशान्त है और हृदय विक्षुब्ध है। यह मानसिक और हृदयवर्त्ती दुःख उपर्युक्त सब दुःखों से बढ़ चढ़ कर है। अपमान और तिरस्कार शायद मनुष्य को इतना कष्ट देते हैं कि वह उनकी अपेक्षा कई बार मर जाना ज्यादा पसन्द करता है। पराधीनता की भावना सचेत व्यक्ति को सब बाह्य भोग विलास की सामग्रियों के रहते भी उद्विग्न बनाये रखती है। आम जनता से ऊँचे धरातल पर रहने वाले व्यक्ति इन दुःखों को महान् समझते हैं और इनसे छूटना अधिक आवश्यक समझते हैं। यहां तक कि इन दुःखों से मुक्ति पाने के लिये पहले प्रकार के स्थूल दुःखों का स्वागत करते हैं। इन सूक्ष्म दुःखों से छूटना और तदनुरूप सुख प्राप्त करना उनका ध्येय बन जाता है। मानसिक सुख, शान्ति और आनन्द स्तुत्य हैं। एक गणितज्ञ या ज्योतिषी को अपने प्रश्न और समस्या के हल करने में जो संतोष प्राप्त होता है वह शायद सम्पूर्ण भौतिक सुखों के सामने कुछ भी नहीं। एक कवि को अपनी हृदय की अनुभूति का सरस गान करने में और एक दार्शनिक को अपने मन की सूक्ष्म चिन्तनाओं में तल्लीन रहने में जो अपार सुख है वह उन्हीं के अन्तःकरण से ग्राह्य है। दूसरा व्यक्ति तो केवल उनकी बाह्य मुद्रा और तल्लीनता देख कर कुछ अनुमान ही कर सकता है।

इससे भी और अधिक ऊंचे स्तर पर चढ़ने से, व्यावहारिक जगत् से पारमार्थिक जगत् में प्रवेश करने पर, मालूम होता है कि सबसे बड़ा दुःख तो 'संसार' ही है। जितने दुःखों की हम कल्पना कर

सकते हैं उनका मूल तो यह संसार ही है। जो सुख भी हमारी दृष्टि में अब तक ऊंचे रहे हैं वे भी तो 'अविशुद्धि, क्षय और अतिशय से युक्त होने से' दुःख पक्ष में ही डाल देने योग्य है। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक दुःखों की शृंखला लगी हुई है। सुख के पीछे दुःख की छाया लगी दौड़ रही है। जरा और व्याधि तो दुःख हैं ही, मरण ता संसार में सब से बड़ा दुःख है। सब कुछ करते रहने पर भी मृत्यु के विकराल गाल से कौन बच पायेगा? इसलिये जहां हम और सब दुःखों से छूटना चाहते हैं क्या इस महान् दुःख मृत्यु को भुला सकते हैं? इस महान् दुःख से छूटने का उपाय ढूंढने वाले ऋषि, महर्षि इसीलिये हमारी दृष्टि में सब से महान् पुरुष हैं। वे केवल अपना नहीं, सम्पूर्ण मानवजाति का दुःख चिरन्तन काल के लिये दूर कर देना चाहते हैं और उस सत्य के लिये हम मानवों की समझ में कठोर से कठोर दुःखों को उठाते हैं। ये व्यक्ति भौतिक और मानसिक दुःखों से भी बढ़ कर इस आध्यात्मिक दुःख का साक्षात्कार करते हैं और उससे मुक्त होने के लिये विश्व का ध्यान आकृष्ट करते हैं। जन्म होने पर कितना मङ्गल गान गाया जाता है और बधाई का तांता लग जाता है पर मरण होने पर सब भूल जाता है, रुदन और क्रन्दन ही सुनाई पड़ता है। पर क्या हमने कभी गंभीरता से सोचा है कि मरण और जन्म ये तो जीवन के दो पहलू हैं, छोर हैं। यदि एक छोर महान् दुःख है तो दूसरा कैसे दुःख नहीं? क्या जन्म ही दुनिया के दुःखों के कारण नहीं? न होता जन्म और न होता दुःख का रोना। सांसारिक व्यक्ति ने जन्म को आनन्द समझा पर तत्ववेत्ता ने उसे महान् दुःख। लौकिक व्यक्ति अपने प्रत्यक्ष से समझता है कि सूर्य पृथिवी के चारों ओर घूम रहा है पर वैज्ञानिक का सत्य इसके विपरीत ही है। यही भेद सांसारिक और तत्ववेत्ता में है। इस जन्म से मुक्ति पाने के लिये जन्म का कारण ढूंढना पड़ेगा। यह तात्विक विवेचन और स्पष्ट कर देगा कि जन्म मरण इत्यादि बन्धन हैं। जन्म मरण हैं क्या? शरीर का प्रादुर्भाव होना, उसका सजीव रूप में अंकुरित होना जन्म है और शरीर का निर्जीव होना, नष्ट हो जाना मरण है अर्थात् शरीर का जीव से सम्बद्ध होना जन्म है और शरीर का जीव से विच्छेद हो जाना मरण है। जीव के साथ ये संयोग और वियोग होते हैं इसलिये संयोग और वियोग उतने प्रधान नहीं जितना कि जीव या जीवात्मा। जब तक हम इस जीवात्मा के दुःख और सुख का ख्याल नहीं करते, हमारी दृष्टि अन्तर्मुखी न होकर बहिर्मुखी रहती है, हम पारमार्थिक जगत् के प्राणी न बन कर व्यावहारिक या उससे भी हीन प्रातिभासिक (आपाततः प्रतीत होने वाले) जगत् के प्राणी बने रहते हैं, हमें संसार के दुःख और सुख की वास्तविक स्थिति का ज्ञान नहीं होता। हमारे सुख और दुःख के मूल्याङ्कन का मापदण्ड बिलकुल बदल जाता है जिस क्षण हमें अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् आत्मा का बोध होता है। उस समय हम कभी शारीरिक या मानसिक, आधिभौतिक या आधिदैविक, दुःखों और सुखों की निरपेक्ष कीमत नहीं लगा सकते। उनकी कीमत आत्मा की दृष्टि से सापेक्ष हो जायगी और शायद जिसे हम अब तक सुख समझते आ रहे थे दुःख प्रतीत होने लगे।

इस जीवात्मा की स्वतंत्र सत्ता को कुण्ठित करने वाले हैं जन्म और तज्जन्य दुःख; इसलिये वे उसको बन्धन में लाने वाले हैं और अगर हम अपने को स्वतन्त्र देखना चाहते हैं—'स्वराज्य' प्राप्त करना चाहते हैं—तो हमें इस बन्धन से अपने को मुक्त करना पड़ेगा। यदि जीवात्मा का स्वभाव ही जन्म, मरण हो तो वह उस से छूट नहीं सकता, क्योंकि स्वभाव का नाश पदार्थ का नाश है। जीवात्मा शरीर के बन्धन में पड़ा अपने पूर्वजन्मकृत पाप पुण्य के कार्यों से, धर्माधर्मों से और तदनुरूप शुभा-

शुभ प्रवृतित्तयों मे। इस पापपुण्य की व्यवस्था की सतत प्रवृत्ति का कारण हमारे राग-द्वेष के मूल में रहने वाला मिथ्याज्ञान है। यदि हमने अपने स्वरूप को ठीक समझा हो और उसी के अनुसार उचित कार्य किये हों तो बन्धन का प्रश्न ही नहीं उठता। इस प्रकार अनादि काल से चली आती यह मिथ्या ज्ञानमूलक दुःख परम्परा और जन्म-मरण का प्रवाह ही 'संसार' है। एक योनि से दूसरी योनि में या एक जन्म से दूसरे जन्म में अपने कर्मों के अनुसार जीवात्मा संसरण कर रहा है और जब तक इस संसरण के बन्धनदुःख से मुक्त न होगा तब तक वास्तविक मुक्ति नहीं। 'संसार-दुःख' से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। 'संसार' ही सबसे बड़ा दुःख है और उससे छुटकारा पाना हमारा कतव्य है।

परन्तु क्या केवल दुःख से छूट जाना ही ध्येय है? जिस प्रकार शारीरिक और मानसिक दुःखों से पिण्ड छुड़ा लेना ही पर्याप्त नहीं है उनके अतिरिक्त हमको भावात्मक सुख चाहियें उसी प्रकार केवल आत्मिक दुःख से अर्थात् 'संसार' से छुटकारा पा लेना ही ध्येय नहीं है, वस्तु सत्ता के रूप में आत्मिक सुख पाना ही चरम लक्ष्य है। वह सब से महान् सुख या आनन्द क्या है यह हमें देखना है।

इस लोक में प्रवृत्ति दिखाई देती है कि अधिक की प्राप्ति में सुख है, बड़े के मिलने में आनन्द है। जिसके पास सौ हैं वह हजार चाहता है, जिसके पास हजार है वह लाख चाहता है; इस तरह एक के ऊपर दूसरा बढ़ता जाता है। जिसके पास ५ बीघा जमीन है, वह दस बीघा चाहता है; जिसके पास एक देश का राज्य है वह दस देशों का राज्य चाहता है; राजा महाराजा बनना चाहता है और महाराजा सम्राट्। इस प्रकार प्रत्येक एक दूसरे से बढ़कर ससीम से असीम की ओर जाना चाहता है। इसीलिये उपनिषद् ने कहा "यो वै भूमा तत्सुखम्। नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखम्!" थोड़ा होने में सुख नहीं—महान् में ही सुख है। भूमा महान् है इसलिये भूमा को प्राप्त करना चाहिये। इस ससीम को प्राप्त करने में लौकिक पुरुष को भी आनन्द नहीं, वह भी अज्ञात गति से उस असीम की ओर बढ़ रहा है यद्यपि उसे असीम का ज्ञान नहीं, आभास नहीं। सब महाराजा नहीं हो सकते, सब सम्राट् नहीं हो सकते। इस 'संसार' में घिर 'ससीम' की परिधि से आक्रान्त होने से महान् सुख की प्राप्ति नहीं। इस संसार की सीमा का उल्लंघन कर जाने में और सब से महान् बन्धनरहित सर्वव्यापी जो उपनिषद् का वास्तविक 'भूमा' परामात्मा है उसकी प्राप्ति कर जाने में ही सब जीवात्माओं को समान रूप से महान् सुख की प्राप्ति है। उस देश और काल से अविच्छिन्न परमात्मा से अधिक और बड़ा कौन होगा इसलिये उसकी प्राप्ति ही जीवात्मा का चरम सुख है! वह सच्चिदानन्द है। जीवात्मा अपनी सत्ता और चेतनता के साथ उस अपार आनन्दभण्डार की योजना करके ही परम सुख प्राप्त कर सकता है, यह स्पष्ट लक्षित होता है। इस असीम जगत् में देह इन्द्रिय और सीमाओं का बन्धन हमें स्वतन्त्र होकर आनन्द नहीं लेने देता। एक बार जब हम इन बन्धनों को तोड़ देंगे तो हमें असीम में यथासंभव सीमारहित होकर आनन्दनिकेतन के साथ आनन्द की उपलब्धि का अवसर प्राप्त होगा। इस प्रकार सबसे महान् दुःख 'संसार' से मुक्ति और सबसे महान् सुख 'परमात्मा' की प्राप्ति ही हमारा वास्तविक ध्येय है और यही मोक्ष है।

मोक्ष के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर उसकी प्राप्ति के साधनों का अन्वेषण करना कठिन कार्य नहीं है। मिथ्याज्ञानमूलक अनुचित कर्मों का परिणाम यह संसार है। इसलिये सबसे पहला कुठाराघात मिथ्याज्ञान अर्थात् अविद्या पर होना चाहिये। यदि सत्यज्ञान हमारा मार्ग प्रदर्शन करने वाला हो,

अपने आत्मस्वरूप को पहचानने की शक्ति हम में हो तो फिर भ्रान्ति का जाल हमको पाशबद्ध नहीं कर सकता। दुर्भाग्य से इस अनादि अविद्या से ग्रस्त होकर हम अपने स्वच्छ विमल आनन्दधारा के निर्बन्ध प्रवाह से भटक कर योनियों के आवर्त में चक्कर लगाने लग जाते हैं। जो चीज जैसी नहीं है उसका वैसा ज्ञान होना अविद्या है और उसके विपरीत तात्त्विक ज्ञान विद्या है। हम शरीर को गलती से आत्मा समझ बैठे हों तो इसका परिणाम होगा कि शरीर के नष्ट होने पर अपने को मरा हुआ और सम्बद्ध होने पर अपने को उत्पन्न समझ बैठेंगे। इस गलती को दूर करने के लिये आत्मा का ज्ञान होना आवश्यक है। अपना या आत्मा का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उससे संबद्ध जगत् का यथासंभव पूर्ण ज्ञान न प्राप्त कर लें। इसलिये सत्यज्ञान प्राप्ति के लिये यथा संभव जितने अधिक विस्तार के साथ सब विषयों का हम अध्ययन करेंगे—नाना प्रकार के विज्ञान और दर्शन, लौकिक और वैदिक वाङ्मय, संक्षेप में परा और अपरा सब विद्याओं को श्रवण, मनन, निदिध्यासन तीनों प्रकार से ग्रहण कर लेंगे—उतने आत्मबोध के समीप होंगे। इसी सत्य ज्ञान और विवेक प्राप्ति के लिये एक विशिष्ट समय कम से कम २५ वर्ष का ब्रह्मचर्य रखा गया है। वह एकमात्र आत्मिक साधना का सच्चे स्वार्थ की प्राप्ति का समय है। गुरु आदि के द्वारा एक बार दिशा और गन्तव्य मार्ग का ज्ञान हो जाने पर उसका सतत अभ्यास बनाये रखना चाहिये। यह 'विवेक का अभ्यास' हमको दिङ्मूढ़ होने से बचायेगा और आत्मा के वास्तविक गुणज्ञान और चैतन्य को उद्बुद्ध रखेगा। इस विवेकाभ्यास में सहायक "वैराग्य" होगा। मिथ्याज्ञान के कारण हम अपनी हार्दिक भावनाओं को उचित नियन्त्रण में नहीं रख सकते और रागद्वेष के रास्ते में पड़ जाते हैं। रागद्वेष विवेकसूर्य के लिये बादल का काम करते हैं। वैराग्य से—विषय वितृष्ण होकर वशीकार साधना से—रागद्वेष की समाप्ति हो जाती है और विवेक सूर्य की प्रखर किरणों से मिथ्याज्ञान का अन्धकार नष्ट हो जाता है।

परन्तु कोरा ज्ञान हमको कुछ नहीं प्रदान कर सकता जब तक कि हम अपने प्रयत्न और कृति को उसके साथ नहीं मिला देते। केवल घड़े बनाने की विद्या हमें घड़ा प्रदान नहीं कर देगी, उसके लिये प्रयत्न करना पड़ेगा और मिट्टी लाकर तदनुरूप कर्म करना होगा। आत्मा का धर्म केवल ज्ञान ही नहीं प्रयत्न भी है। मिथ्या ज्ञान-मूलक अनुचित कर्मों ने जीव को जन्म के चक्र में डाल रखा है इसलिये सत्यज्ञान मूलक उचित कर्म ही हमारा उद्धार कर सकते हैं। बिना कर्म किये तो मनुष्य एक क्षण भी नहीं ठहर सकता—श्वास लेना भी तो कर्म है, सोचना भी तो एक प्रकार का कर्म है। इसलिये उचित रूप में निष्काम कर्म करना, कर्तव्य समझ कर सत्यभाषण धार्मिक अनुष्ठान आदि का करना अपरिहार्य है। ब्राह्मणों, स्मृतियों और गीता का यही मन्तव्य है। सांख्य (ज्ञान) और योग (कर्म) को बालक ही पृथक् कहते हैं। वास्तव में ये दोनों एक है। ज्ञान मार्ग, निवृत्ति मार्ग या श्रेय मार्ग से कर्म मार्ग, प्रवृत्तिमार्ग या प्रेयमार्ग को अलग कर देना एकाङ्गी धर्म पर ध्यान देना है। इस कर्म के विशेष उद्देश्य से ही गृहस्थाश्रम का विधान है। अनेक प्रकार के अभ्युदयजनक कर्मों के करने का यह उत्तम क्षेत्र है। जिस प्रकार ब्रह्मचर्य से भिन्न आश्रमों में भी ज्ञान की साधना चलती रहती है उसी प्रकार गृहस्थ से अतिरिक्त आश्रमों में भी यह कर्तव्य मार्ग चलता ही रहेगा।

ज्ञान और कर्म बिना उपासना या भक्ति के अपूर्ण हैं। धर्मज्ञान, कर्म और भक्ति के पूर्ण सामञ्जस्य पर स्थित है। बिना ज्ञान के वह अन्धा है, बिना कर्म के लूला लंगड़ा है और बिना भक्ति के

हृदय हीन और निष्प्राण है। एक की कमी भी उसे विकलाङ्ग कर देगी। हमारे मन (मस्तिष्क) और कर्मसाधक अङ्गों की शक्तिपूर्ति ज्ञान और कर्म से हो सकती है परन्तु हमारे अन्दर हृदय का भी निवास है। हृदय की मूल रागात्मिका वृत्ति इच्छा का गुण आत्मा में निहित है। उसका सुन्दर पर्यवसान सबसे महान् सुख 'परमानन्द' की उपासना या भक्ति में ही है। हमारे प्रेम का आलम्बन जब तक भगवान् नहीं बनेगा, हम संसार के प्रेम में राग द्वेष से अभिभूत होकर पड़े रहेंगे उससे विमुख करके परमानन्द की प्राप्ति का एक मात्र साधन भगवद्भक्ति ही है। इस उपासना और भगवद्भक्ति के लिये विशेष रूप में वानप्रस्थाश्रम का विधान है यद्यपि अन्य आश्रमों में भी इसका सामान्य विधान तो रहेगा ही। योगाभ्यास के द्वारा और अपनी हृदय की प्रेमानुभूति को बढ़ाने द्वारा परमात्मा की प्राप्ति सहज-साध्य है। इसलिये ज्ञान, कर्म और उपासना तीनों का भली भांति प्रतिपादन करना ही मोक्ष का साधन है। ज्ञान और कर्म जहां हमारे 'संसार' के उच्छेद में विशेष कारण होंगे, वहां उपासना या भक्ति हमें आनन्द की प्राप्ति करायेगी। इसीलिये ईशोपनिषद् ने ज्ञान कर्म और उपासना का समुच्चय ही वास्तविक कल्याण का मार्ग बताया है।

इस प्रकार जिस व्यक्ति ने ज्ञान, कर्म और उपासना द्वारा परमानन्द की प्राप्ति कर ली वह जीवन मुक्त हो गया और उसके लिये सन्यासाश्रम स्वीकार कर 'संसार' के प्रवाह से दुःखी लोगों को उन्मुक्त कर विश्वकल्याण करना और अन्त में देहपात होने पर आनन्दघन में स्वच्छन्द विचरना ही अवशिष्ट रह जाता है।

मोक्ष के इस स्वरूप और साधन को समझ कर प्रत्येक को मुमुक्षु होना ही चाहिये।

मोक्ष साधन—ज्ञान कर्म समुच्चय

[लेखक—श्री पण्डित वैद्यनाथ जी शास्त्री दर्शन व्याकरणाचार्य आचार्य,
दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय, लाहौर]

प्रत्येक मनुष्य की यह स्वाभाविक इच्छा है कि मैं दुःख से बचूं और सुख प्राप्त करूं। किसी भी कार्य में प्रवृत्त होने के पूर्व वह यह परिणाम निकाल कर ही प्रवृत्त होता है कि इसका फल अनिष्ट से बचना या इष्ट की प्राप्ति करना होगा। बिना इसका विचार किये मनुष्य की किसी भी कार्य में प्रवृत्ति नहीं होती। चाहे लोक सम्बन्धी कार्य हो चाहे परलोक सम्बन्धी, दोनों में ही इस धारणा का सन्निवेश है। लोक में योगक्षेम की सिद्धि के लिये भी प्रवृत्त हुआ मनुष्य विघ्नों से बचना और लौकिक अभ्युदय का लाभ करना चाहता है तथा पारलौकिक कर्मों में भी लगा हुआ आगन्तुक जन्म आदि विघ्नों का परिहार और निःश्रेयस का लाभ चाहता है। यही कारण है कि शास्त्राध्ययन, यज्ञ, याग, ज्ञानार्जन, योगाभ्यास आदि कर्मों के अनुष्ठान में मनुष्य तभी उद्यत होता है जब जान लेता है कि इनका फल हमारे वर्तमान दुरितों का परिहार तथा आत्यन्तिक सुख की प्राप्ति है। अन्यथा परिश्रम-साध्य इन कर्मों में मनुष्य की प्रवृत्ति हो ही नहीं सकती। चूंकि मनुष्य की प्रवृत्ति इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहार रूप फल को दृष्टिकोण में रख कर ही हुआ करती है, इसीलिये बहुधा शास्त्रकारों ने अपने शास्त्र की गूढ़ प्रक्रिया का प्रारम्भ करने से पूर्व ही फल का वर्णन कर दिया है। मनुष्य उस

फल को देख कर इनके अध्ययन आदि में प्रयत्नशील होता है। जब यह ज्ञात हो गया कि मनुष्य सुख प्राप्ति और दुःख त्याग का अभिलाषी है तब यह सहज ही में सिद्ध हो जाता है कि उसका उद्देश्य इस अभिलाषा की पूर्त्ति करना है और इसी के लिए वह संसार में प्रयत्नशील है। वे दुख क्या हैं जिनका मनुष्य परित्याग करना चाहता है? शास्त्र की प्रक्रिया से उनके तीन वर्ग हैं, आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इनमें प्रथम से तात्पर्य उन दुःखों से है जोकि अपने शरीर मन आदि साधनों में होते हैं जैसे राग, मोह, क्रोध, और पीड़ा आदि। दूसरे आधिभौतिक दुःख वे हैं जो कि अन्य प्राणियों के संसर्ग से होते है जैसे सर्प आदि से काटा जाना इत्यादि। आधिदैविक दुःख वे हैं जो दैवी शक्तियों के संबन्ध से होते हैं जैसे अति वृष्टि और अनावृष्टि आदि। यद्यपि दुःख अनेक प्रकार के हैं फिर भी शास्त्रकारों ने उपकरण भेद से उनका वर्गीकरण तीन प्रकार से ही किया है। वेदानुसार संसार तीन प्रकार का है—अध्यात्म, अधिभूत और अधिदैव। अतः उनसे होने वाला दुःख और सुख भी तीन प्रकार का ही है। ये पूर्वोक्त तीन दुःख, दुःखों के समुदाय रूप होने से महान् दुःख माने जाते हैं फिर भी इनका मूल मिथ्याज्ञान है, जिससे यह स्थिति लाभ करते हैं, इसलिये शास्त्रों में इस मिथ्या ज्ञान को ही परम दुःख कहा गया है। मनुष्य जिन दुःखों का परित्याग करना चाहता है, उनका वर्णन कर देने पर पुनः दूसरा प्रश्न समक्ष उपस्थित होता है कि वह सुख क्या है जिसकी वह प्राप्ति करना चाहता है। इसका समाधान यह होगा कि सुख भी उपकरणों के भेद से पूर्वोक्त तीन प्रकार का है—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक। इनका लक्षण तीन दुःखों के लक्षणों में दुःख के स्थान पर सुख शब्द जोड़ देने पर समान ही होगा। जैसे पूर्वोक्त तीन प्रकार के दुःख मनुष्यों को प्राप्त होते हैं वैसे ही ये त्रिविध सुख मनुष्य को संसार में प्राप्त होते हैं। यद्यपि ये तीनों प्रकार के सुख मनुष्य को संसार में प्राप्त होते हैं फिर भी वह इन्हीं मात्र से सन्तुष्ट नहीं, क्योंकि इनके मध्य में दुःखों की चोट आ जाया करती है। ये तीन प्रकार के सुख जिस कारण से सुख कहे जाते हैं वह ज्ञान है जो कि इन तीनों सुखों में काम किया करता है। पहले कहा गया कि ये तीनों सुख दुःख मिश्रित हैं अतः मनुष्य की इनसे सन्तुष्टि नहीं। फिर किस सुख से उसकी सन्तुष्टि होती है? इस पर विचार करने से पता चलता है कि ये सुख जिस सुख के अंश तुल्य हैं ऐसा कोई महान् सुख अवश्य होगा। उस महान् सुख का निर्णय इस प्रकार है—मनुष्य में कुछ न कुछ सार्वज्ञबीज नैमित्तिक रूप से है जिससे कि वह अतीन्द्रिय वस्तुओं को जानता है। उस सार्वज्ञबीज की अन्तिम पराकाष्ठा परमेश्वर में है। इसी प्रकार आनन्दबीज भी किसी न किसी मात्रा में नैमित्तिक रूप से उपस्थित है। इस बीज की भी चरम सीमा परमेश्वर में है। इसीलिये उसे आनन्दमय कहा है। वेदान्त दर्शन में "आनन्दमयोऽभ्यासात्" इस सूत्र से परमेश्वर को आनन्दमय कहा गया है। वेद में भी इसे अकाम, धीर, आनन्द से तृप्त और अमृत कहा गया है। उपनिषदें पदे पदे ब्रह्म को आनन्द-स्वरूप प्रतिपादन करती हैं। अस्तु, ब्रह्म आनन्दमय है। उसके इस आनन्द (परम सुख) की अपेक्षा पूर्वोक्त त्रिविध सुख लौकिक और दुःख मिश्रित होने से लघु हैं। अतः मनुष्य संसार में तो व्यावहारिक रूप से उन सुखों को चाहता ही है परन्तु परमार्थ में इस परम सुख परमानन्द की ही प्राप्ति करना चाहता है। इस तरह यह स्पष्ट है कि मनुष्य संसार के दुःखों की निरन्तर चोट से आहत होकर दुःखों की निवृत्ति पूर्वक जिस सुख को प्राप्त करने की अभिलाषा रखता है वह यही परमानन्द रूप सुख

है। प्रकरण को इतने तक लाने के अनन्तर यह परिणाम निकला कि मनुष्य को संसार में दु:ख तीन और अज्ञान रूप महादु:ख है जिसकी कि वह निवृत्ति चाहता और साथ ही परमानन्द रूप परमात्मस्थ सुख है, जो उसमें है नहीं और उसकी वह प्राप्ति करना चाहता है। इस दु:ख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति को ही पुरुष का प्रयोजन माना गया है।

मोक्ष का स्वरूप

ऊपर कहा जा चुका है कि दुखों की अत्यन्त निवृत्ति और सुख प्राप्ति मनुष्य का मुख्य उद्देश्य है। अब इससे मुक्ति का स्वरूप स्पष्ट हो जायगा। शब्दों में भाव को इस प्रकार व्यक्त करेंगे कि अज्ञानमूलक त्रिविध दु:ख की निवृत्ति अथवा तत्पूर्वक परमानन्दप्राप्ति मोक्ष है। इस विषय में वर्तमान समय के दार्शनिकों में बड़ा ही वाद-विवाद है। फिर भी बातें दोनों ठीक हैं ऐसा ही मानना अभिप्रेत है। दर्शनकार ऋषियों में भी शास्त्र की प्रक्रिया के कारण भेद भले ही रहा परन्तु वास्तविक सिद्धान्तभेद नहीं था। यह मैं आगे स्पष्ट करूँगा। यहाँ पर तो थोड़ा सा विचार मोक्ष के स्वरूप पर ही किया जाता है। वेद में मुक्ति विषयक अनेकों प्रमाण हैं, यहाँ पर थोड़े से दिये जाते हैं, जिनसे पता चलेगा कि वेद में मुक्ति का स्वरूप क्या है?—

१—येन देवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्। ऋ० ४।१।१।६

२—उर्वारुकमिव बन्धनात् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्। यजुः० ३।६०

३—यत्र देवा अमृतमानशानास्तृतीये धामन्नध्यैरयन्त। यजुः० ३२।१०

४—इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानशुः। ऋ० १०।६२।१

इनके अर्थ क्रमशः निम्न हैं "जिस (धर्माचरण) से ज्ञानीजन शरीर को त्याग कर अमृत की नाभि आनन्द के केन्द्ररूप प्रकाश को प्राप्त करते हैं।" "परमेश्वर के अनुग्रह से हम पका खरबूज़ा जिस प्रकार वृन्त से पृथक् होता है वैसे ही मृत्यु बन्धन से छूटें परन्तु अमृत=आनन्द से नहीं" "जिस परमेश्वर में विद्वान् जीव, मोक्ष, सुख को प्राप्त करते हुए जीव, प्रकृति से विलक्षण धाम में विचरते हैं।" जो उपासना आदि शुभ कर्म से परमात्मा की मैत्री और मोक्ष सुख को प्राप्त करते हैं" इन मन्त्रों में से प्रथम मंत्र में शरीर को छोड़ कर अमृत की नाभि=आनन्द के केन्द्र का प्राप्त करना लिखा है। शरीर दु:खमय बन्धन का उपलक्षण है और उसकी निवृत्ति के बाद आनन्द की प्राप्ति करना लिखा है। इसी प्रकार दूसरे मंत्र में मृत्यु को बन्धन कहा गया है। उससे छूटना और अमृत आनन्द भोग से न छूटना वर्णन किया गया है। उपमा ने तो और भी महत्व पूर्ण भाव व्यक्त किया है अर्थात् खरबूज़ा पक कर जिस प्रकार बन्धन (ढेंपी) से अलग हो जाता है वैसे ही बन्धन से अलग होकर आनन्द की प्राप्ति होती है। यदि दु:खनिवृत्ति मात्र ही मुक्ति होती तो फिर 'मामृतात्" पद से अमृत से न छूटने की भावना को व्यक्त करने की आवश्यकता ही क्या थी। अतः यही भाव अभिप्रेत है कि मृत्युरूप बन्धन से निवृत्त हो कर अमृत की प्राप्ति होती है। इन दोनों मंत्रों में बन्धन (त्रिविध तापादि) की निवृत्ति पूर्वक परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष कहा गया है। शेष मंत्रों में परमानन्दप्राप्ति मुक्ति है यह वर्णन किया गया है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि वेद दु:खों की अत्यन्त निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष मानता है। इसी प्रकार—

न तत्र त्वं न जरया बिभेति उभे तीर्त्वा अशनाया पिपासे शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके। कठ० १।१२।

"रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति" तै० उ० २।७।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति। मु० ३।१।३

अर्थात् उस मुक्ति अवस्था में मौत, बुढ़ापा, शोक, प्यास और भूख को पार कर मुक्त पुरुष आनन्द उठाते हैं और उस परमेश्वर को (या उसके परमानन्द) को प्राप्त कर पाप आदि से धुले हुए बन्धनरहित परमेश्वर की समता को लाभ करके आनन्दित होते हैं, इत्यादि वाक्यों से उपनिषदें भी दुःख निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति को मोक्ष बतलाती हैं। दर्शनकारों ने भी अपनी अपनी प्रक्रियानुसार मोक्ष का लक्षण किया है। सांख्य दर्शन में साधारणतया त्रिविध ताप की अत्यन्त निवृत्ति को अत्यन्त पुरुषार्थ और मुक्ति कहा गया है, पहले सूत्र में इसे पुरुषार्थ बतलाकर पुनः बाद के अध्यायों में इसे मुक्ति कहा गया है परन्तु यह है सामान्य रूप से। विशेष का विचार बाद में दिया जायगा। योग में—

"पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यम् स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति योग ४।३४ सूत्र द्वारा मुक्ति का यह स्वरूप बतलाया कि भोग अपवर्ग को पूरा किये हुए पुरुष के प्रयोजन से निःशेष हुए सत्व रजस् आदि गुणों का अपनी कारणावस्था को प्राप्त होना कैवल्य है, उसमें चेतन शक्ति, पुरुष, बुद्धि आदि के धर्मों से रहित हो अपने निखरे हुए स्वरूप में स्थित होता है। वैशेषिक दर्शन में—

"तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः" ५।२।१८।

में बतलाया गया है कि मिथ्याज्ञान के अभाव से संयोग का अभाव और उससे जन्म का न होना मोक्ष है। वैशेषिक में इसे निःश्रेयस नाम से भी पुकारा गया है। न्याय में—

"तदत्यन्तविमोक्षोपवर्गः"। १।१।२२

सूत्र द्वारा दुःख और जन्म से अत्यन्त विमुक्ति को अपवर्ग=मोक्ष कहा गया है। दूसरी जगह पर अर्थात् दूसरे सूत्र में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति से दोष की निवृत्ति, दोष की निवृत्ति से प्रवृत्ति की निवृत्ति, उसकी निवृत्ति से जन्म का अभाव और जन्म के अभाव से अपवर्ग होता है, यह लिखा है। वेदान्त में—

"भोगमात्रसाम्यलिङ्गाच्च" ४।४।२१

सूत्र से बतलाया गया है कि जीव की मुक्ति अवस्था में ब्रह्म के साथ केवल आनन्द भोग मात्र की समता रहती है। शेष धर्मों की नहीं। इसी प्रकार अन्य सूत्रों से भी इसी प्रकरण में ब्रह्मानन्द प्राप्ति को व्यास ने मुक्ति माना है हम ने यहाँ संक्षेप में ही दर्शनों के प्रमाण देने की चेष्टा की है। दर्शनों के इन प्रमाणों का निरीक्षण करने के बाद यह पता चलता है कि मुक्ति दो प्रकार की मानी गयी है। एक दुःखात्यन्तनिवृत्ति और दूसरी परमानन्दप्राप्ति। चार दर्शनों में दुःखात्यन्त निवृत्ति

मोक्ष है और वेदान्त में ब्रह्मानन्द प्राप्ति, ऐसा भेद यद्यपि प्रतीत होता है फिर भी यह जानना चाहिये कि इनमें कोई भी सिद्धान्त भेद नहीं अपितु प्रक्रिया और शब्द का भेद है। जब वेद में दुःखनिवृत्तिपूर्वक ब्रह्मानन्द प्राप्ति को मोक्ष माना है तो वेद को मानने वाले दर्शन उसके विपरीत कैसे मान सकते हैं और परस्पर आपस का मतभेद क्यों कर हो सकता है। यह तो नवीनों की कृपा है कि उन्हों ने यह सिद्ध करके कि दुखात्यन्तनिवृत्तिमात्र ही मोक्ष है तत्पूर्वक ब्रह्मानन्द प्राप्ति नहीं, आदि पर वाद-ववाद चलाकर मतभेद खड़ा किया। यहाँ पर यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि नवीनों का ही खड़ा किया हुआ यह मतभेद है तो फिर इन दर्शनों में आनन्द प्राप्ति का खण्डन क्यों किया गया है। इसका समाधान यह है कि प्रथम तो दुःखात्यन्त निवृत्ति को मुक्ति प्रतिपादन करने वाले दर्शनों में मूलरूप से आनन्द प्राप्ति पक्ष का खण्डन किया नहीं गया है। हाँ यदि किसी एक (अर्थात् सांख्य) में ऐसा आ भी गया है तो वह अन्य भाव का द्योतक है, ब्रह्मानन्द प्राप्ति का निषेधक नहीं। रही बात यह कि ब्रह्मानन्द प्राप्ति का वर्णन क्यों नहीं किया? उसका उत्तर यह है कि प्रक्रियाभेद के कारण। सांख्य में—

"नानन्दाभिव्यक्तिर्मुक्तिर्निर्धर्मकत्वात्" ५।७४

अर्थात् पुरुष के निर्धर्म होने मे आनन्द की अभिव्यक्ति रूप मुक्ति नहीं", जो यह कहा है वह ब्रह्मानन्द प्राप्ति का निषेध नहीं अपितु जीव के नित्य सुख की अभिव्यक्ति होती है इसका निषेध है। कई एक आचार्य यह मानते थे कि जिस प्रकार मुक्ति में जीव की महिमा बढ़ जाती है उसी प्रकार उसका नित्य सुख भी अभिव्यक्त हो जाता है और उससे वह सुखी हो जाता है। इस पक्ष का खण्डन सांख्य के इस सूत्र में किया है न कि ब्रह्मानन्द प्राप्ति का। यदि दुःखात्यन्तनिवृत्ति को ही मुक्ति मान कर ब्रह्मानन्द प्राप्ति का खण्डन करना ही सांख्याचार्य को अभिप्रेत होता तो वह—

"समाधिसुषुप्तिमोक्षेषुब्रह्मरूपता" ५।११६

अर्थात् समाधि, सुषुप्ति और मोक्ष में ब्रह्मरूपता होती है यह सूत्र न लिखते। जैसे सांख्य ने इस पूर्वोक्त सूत्र द्वारा इन कथित आचार्यों के विचार का खण्डन किया है उसी प्रकार वात्स्यायन ने भी न्याय १।१।२२ सूत्र के भाष्य में जीव के स्वकीय नित्यसुखाभिव्यक्तिवाद का विस्तार से खण्डन किया है। हाँ, जिस प्रक्रियाभेद से ब्रह्मानन्दप्राप्ति का खण्डन न करते हुए दुःखात्यन्त निवृत्ति को ही मुक्ति कहा, वह प्रक्रिया भेद यह है कि दर्शन का विषय लक्षण द्वारा सब का भेदात्मक स्वरूप वर्णन करना है। अतः मिश्रण जो आत्मा की प्रकृति के साथ है उसको अलग करके प्रकृति, आत्मा और परमात्मा के वास्तविक स्वरूप को अलग अलग रख दिया। ब्रह्मानन्द की प्राप्ति कोरे अध्यात्म शास्त्र का विषय है अतः दृश्य, अदृश्य के सम्बन्धमात्र का वर्णन करने वाले दर्शनों ने उसका वर्णन नहीं किया। यह विषय उपनिषदों का था। यही कारण है कि वेदान्त का सम्बन्ध उपनिषदों से था अतः उसने इसका भी वर्णन किया। दूसरी विशेष प्रक्रिया यह है कि विशेषतया ये दर्शन हेय, हेयहेतु, हान और हानोपाय इन्हीं विषयों का वर्णन करते हैं। योगदर्शन में यही प्रक्रिया स्वीकार की गई है और न्याय में भी यही प्रक्रिया बर्ती गई है जैसा कि भाष्यकार वात्स्यायन के प्रथम सूत्र भाष्य से स्पष्ट होता है। रहे सांख्य और वैशेषिक, उनमें भी सांख्य की योग और वैशेषिक की न्याय से समानता होने के कारण यही प्रक्रिया बर्ती गयी प्रतीत होती है। दुःखमय संसार हेय, प्रधान और पुरुष का संयोग हेय-हेतु, संयोग की अत्यन्त निवृत्ति हान और सम्यक् दर्शन हानोपाय है। इन्हीं चारों का प्रतिपादन करने

की प्रक्रिया का अवलम्बन करने से इन दर्शनों ने दुःखात्यन्तनिवृत्ति तक का ही वर्णन किया। उसके आगे होने वाली ब्रह्मानन्द की प्राप्ति का वर्णन नहीं किया। वास्तव में दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्दप्राप्ति का नाम मोक्ष है यह इस प्रकरण में सिद्ध किया गया।

वेद उपनिषद् और दर्शनों से यह प्रतिपादन करते हुए अपने आचार्ययतिवर दयानन्द की सम्मति भी उल्लेख कर दी जाती है जिससे यह विदित हो जायगा कि ऋषि ने किस प्रकार सब का समन्वय किया और सिद्धान्त रूप से सार सामने उपस्थित कर दिया। महाराज जी अपनी पुस्तक आर्योद्देश्यरत्नमाला में लिखते हैं—मुक्ति अर्थात् जिससे सब बुरे काम और जन्म मरण आदि दुःख सागर से छूट कर सुखरूप परमेश्वर को प्राप्त होके सुख ही में रहना है वह मुक्ति कहाती है।

आचार्य ने सब का निचोड़ रख दिया। मुक्ति के इस स्वरूप के विचार करने के बाद आगे उसकी प्राप्ति के साधन पर विचार किया जायगा।

मोक्षप्राप्ति के साधन

मोक्ष का स्वरूप दर्शाया गया। अब उसकी प्राप्ति के साधनों का विचार किया जाता है। पूर्व यह कहा जा चुका है कि तापों (दुःखों) का मूल महादुःख अज्ञान है उसकी निवृत्ति करना ही उचित है। उसकी निवृत्ति से दुःखों की निवृत्ति हो जायगी क्योंकि अज्ञानरूप कारण के नाश हो जाने पर कार्य का भी नाश हो जायगा। पुरुष को संसार में जो कुछ भी बन्ध है वह अज्ञान से है अतः उस अज्ञान की ही निवृत्ति करने के विधान शास्त्रों में बताये गये हैं। कई एक भक्तनामधारी, जिन को अन्धविश्वासमयी कोरी भक्ति ही प्यारी है यह समझते हैं कि सिर्फ कर्म से ही मिथ्याज्ञान की निवृत्ति हो जायगी तथा उसकी निवृत्ति होने से पुरुष बन्धनमुक्त होकर सर्वथा मुक्त होजायगा। ऐसे विचार वालों के विषय में यही कहना चाहिये कि वे फिर भक्ति के स्वरूप को जानते ही नहीं। वास्तव में परम गुरु परमेश्वर में समस्त कर्मों का अर्पण करना भक्ति है यही वास्तविक कर्मयोग है और यह बिना ज्ञान के हो सकता ही नहीं। कर्म का करना दो ही प्रकार से बन सकता है ज्ञानपूर्वक या अज्ञानपूर्वक। यदि ज्ञानपूर्वक कर्म भक्तिवादियों को स्वीकार है तो फिर यह कि केवल कर्म दुःखनिवर्तक और बन्ध के कारणों का शिथिल करने वाला है बन नहीं सकता क्योंकि ज्ञान साथ में लगा हुआ है। यदि अज्ञानपूर्वक कर्म को मुक्ति का कारण स्वीकार करें तो फिर बन्धन ही बढ़ता जायगा। क्योंकि अज्ञानपूर्वक किये कर्मों का फल अवश्य होता है और वह होता भी है कटु। ऐसी अवस्था में फलों की उत्पत्ति बनी रहने से मोक्ष प्राप्ति नहीं हो सकेगी। कई लोग यह मानते हैं कि मुक्ति कोरे ज्ञान से प्राप्त होती है कर्म को उसके लिये आवश्यकता नहीं। उनसे पूछना चाहिए कि क्या बिना कर्म किये कभी ज्ञान की सिद्धि हो सकती है—कदापि नहीं। ज्ञान के बिना कर्म में कुशलता नहीं आसकती और न बिना कर्म कौशल के सदसद्विवेचनात्मक ज्ञान ही प्रादुर्भूत हो सकता है। यह किसी भी दशा में संभव नहीं कि मनुष्य बिना कर्म किये सिर्फ ज्ञान के सहारे पर ही रह सकें। बड़े बड़े ज्ञानियों को भी कर्म करना ही पड़ता है। यह क्यों? इसलिये कि शरीर का धर्म ही कर्म करना है। शरीर में प्रकृति के जो गुण काम कर रहे हैं वे बिना कर्म में प्रवृत्त किये नहीं रह सकते। इसलिये यह केवल कोरा ज्ञानवाद भी बन्धन को तोड़कर मुक्ति देने में समर्थ नहीं। अब यहाँ पर कुछ विशद विचार करने के लिये प्रसंग का उत्थापन किया जाता है। वर्तमान कालिक प्रचलित भक्तिवाद और कोरे ज्ञानवाद का निराकरण कर देने पर भी यह विचारणीय

रहेगा कि मुक्ति के साधन कौन से हैं ! यहाँ पर वैदिक मर्यादा के उद्धारक आचार्य दयानन्द का मत दिया जाता है जो कि वास्तव में इस विचारसरणी के चलाने का आरम्भ बिन्दु और मुक्ति साधन क्या है ? इन प्रश्नों का उत्तर होगा। महर्षि ने अपने मन्तव्यों का वर्णन करते हुए "स्वमन्तव्यामन्तव्य-प्रकाश में लिखा है कि" मुक्ति के साधन ईश्वरोपासना अर्थात् योगाभ्यास, धर्मानुष्ठान, ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्ति, आप्त विद्वानों का संग, सत्यविद्या, सुविचार और पुरुषार्थ आदि हैं।" महर्षि के इन शब्दों में महान् आशय छिपा है। वह है ज्ञान और कर्म का समुच्चय। उनकी दृष्टि से ज्ञान और कर्म दोनों मिलकर मुक्ति के देने वाले हैं केवल ज्ञान या कर्म नहीं। ज्ञान कर्म का समुच्चय बन्धन का तोड़ने वाला है यह पक्ष कहाँ तक सारपूर्ण या निःसार है, इस पर विचार करना आवश्यक है। यद्यपि पूर्व यह लिखा जा चुका है कि केवल कर्म या केवल ज्ञान मुक्ति के हेतु नहीं, फिर भी—

लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः

इस न्याय का अनुसरण कर के लक्षण प्रमाण से इसकी सिद्धि का कुछ प्रयत्न किया जाता है। जहाँ तक वेदों का इस विषय से सम्बन्ध है वे ज्ञान कर्म समुच्चयवाद के ही प्रतिपादक हैं; केवल ज्ञान या केवल कर्म नहीं। वेदों के विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान ये चार विषय ही प्रकट करते हैं कि उनमें केवल ज्ञान या केवल कर्म का प्रतिपादन नहीं। बिना ज्ञान के कर्म और कर्मज्ञान के बिना उपासना तथा उसके बिना विशेष ज्ञान की सिद्धि नहीं। वेद ज्ञानकर्मसमुच्चय के प्रतिपादक हैं यह बात निम्न प्रमाणों से स्पष्ट हो जायगी:—

१—विद्यांचाविद्यांच यस्तद्वेदोभयंसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते॥ यजुर्वेद ४०।१४

२—येनदेवाः स्वरारुरुहुर्हित्वा शरीरममृतस्य नाभिम्।
तेन गेष्म सुकृतस्य लोकं धर्मस्य व्रतेन तपसा यशस्यवः॥ अ० ४।११।६

३—अव्यसश्च व्यचसश्च बिलं विष्यामि मायया।
ताभ्यामुद्धृत्य वेदमथ कर्माणि कृण्महे। अ॰वे० १६।६८।१

४—कस्त्वा युनक्ति स त्वा युनक्ति कस्मै [illegible] युनक्ति तस्मै त्वा युनक्ति।
कर्मणे वां वेषाय वाम्॥ यजुः १ [illegible]

५—कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतंसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥ यजुः ४०।२

इन के क्रमशः अर्थ नीचे दियेजाते हैं—

१—जो मनुष्य अविद्या=कर्म और विद्या=ज्ञान दोनों को साथ साथ जानता है। वह कर्म से मृत्युरूपी बन्धन को पार करके ज्ञान से अमृत=मोक्षानन्द को प्राप्तकरता है। २—निष्काम ज्ञानीजन जिसके द्वारा शरीर को छोड़कर मोक्ष के केन्द्र आनन्द प्रकाश को प्राप्त करते हैं, उस धर्माचरण व्रत और तप से यशस्वी होकर सुकृत के लोक को हम प्राप्त करें। ३—अव्यापक और व्यापक (जीव, प्रकृति और परमेश्वर) के भेद को बुद्धि=ज्ञान द्वारा खोलता हूँ। उन दोनों से अपने

अनुभव को ऊपर उठा कर अनन्तर कर्मों को करता हूँ।

४—तुझको (शरीर में) कौन जोड़ता है ? परमेश्वर जोड़ता है । किस के लिये जोड़ता है ? परमेश्वर की प्राप्ति के लिये जोड़ता है। और कर्म तथा ज्ञान के लिये जोड़ता है। ५—हे जीव कर्म को करता हुआ तू सौ वर्ष तक जीने की इच्छा कर। इस प्रकार निष्काम कर्म करने वाले तुझमें कर्म लिप्त न होगा। इससे विपरीत (मार्ग) नहीं।

इन मंत्रों में से पहले मंत्र में कहा कहा गया है कि कर्म और ज्ञान को साथ साथ लेकर चलना चाहिए। ऐसा करने से कर्म द्वारा बन्धन को तोड़कर ज्ञान द्वारा मोक्ष सुख की प्राप्ति होती है। दूसरे मंत्र में धर्माचरण को मुक्ति प्राप्त करने का साधन बतलाया गया है। तीसरे मंत्र में ईश्वर जीव प्रकृति के भेद को ज्ञान से जानकर अनुभव को बढ़ाते हुए कर्म करने का विचार प्रगट किया गया है । चौथे मंत्र में मनुष्य का शरीर में आने का उद्देश्य बतलाते हुए परमेश्वर प्राप्ति और उसके साधन कर्म और ज्ञान का अनुष्ठान करना बतलाया गया है और पांचवें में मनुष्य को एकमात्र मार्ग निष्काम कर्म बतलाया गया है और यह भी दर्शाया गया कि इस प्रकार किया कर्म फल देने वाला नहीं होता। इन सभी मंत्रों का भाव यही है कि मोक्ष ज्ञान और कर्म से प्राप्त होता है, शरीर में रह कर जीव दोनों को ही धारण करे और ज्ञान से किया कर्म फलदाता नहीं होता। यदि कर्म का मोक्ष में उपयोग न होता तो इस प्रकार जीवन भर कर्म करने का उपदेश करने की ज़रूरत क्या थी। कर्म से ज्ञान की सिद्धि और ज्ञान पूर्वक किये कर्म से मोक्ष प्राप्ति होती है। वेद ने यहाँ ज्ञान कर्म के समुच्चय को स्पष्ट ही मोक्ष का साधन बतलाया। उपनिषदों में प्रथम ईशोपनिषद् जो यजुर्वेद का चालीसवां अध्याय है उसमें दूसरे मंत्र में जीवन भर कर्म करने का उपदेश होते हुए भी शेष उपनिषदों में ज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति का वर्णन है। कठोपनिषद् २।१४ में नचिकेता ने यमाचार्य से कहा कि हे आचार्य ! अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात् कृताकृतात् अर्थात् धर्म अधर्म से अन्य तथा किये और न किये कर्म से अन्यत्र जो अध्यात्मतत्व आप जानते हैं वह मुझे बतावें, इस वाक्य से यह व्यक्त होता है कि अध्यात्मतत्व कर्म से परे है। वह कर्म से लब्ध नहीं हो सकता। मुण्डकोपनिषद् २।७ प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दति मूढा: जरामृत्युं ते पुनरेवापि यन्ति ॥ इस मंत्र में यज्ञ कर्मों को संसार सागर तारने में असमर्थ बतलाया गया है और इनको ही श्रेय मानने वालों को मूढ़ कहा गया है। आगे २।१० में इष्ट और आपूर्त कर्मों को ही श्रेष्ठ मान कर उसके अधिक मोक्षसुख की सत्ता को न स्वीकार करने वाले को निकृष्ट लोक की प्राप्ति लिखी है। इन वाक्यों से कई आचार्य यही समझते हैं कि उपनिषदें कर्म का खण्डन करती हैं। परन्तु विचार करने से पता चलता है कि ये मोक्षसाधन निष्काम कर्म का खण्डन नहीं कर रही हैं अपितु सकाम कर्म जो फल द्वारा बन्धन का हेतु है उसका ही खण्डन करती हैं। हां यह ठीक है कि ये ज्ञानमार्ग की प्रतिपादिका हैं। क्योंकि इनका विषय ही यही है । यदि ये मोक्ष के लिये कर्म की साधनता को न स्वीकार करतीं तो उसकी प्राप्ति के साधन तप, भक्ति और उपासना को महत्व न देतीं, परन्तु दिया है इससे ही प्रगट है कि ये निष्काम कर्म को ज्ञान के साथ मुक्ति का साधन मानती हैं। दूसरे जब वेद ज्ञान कर्म के समुच्चय को मुक्ति का साधन मानता है तो फिर वेद से ही निकली उपनिषदें स्वत:प्रमाण वेद का खण्डन किस प्रकार कर सकती हैं। यदि करतीं भी तो इन्हीं की अप्रमाणता होती, वेद की बात तो सिद्ध ही रहती। अब रहे दर्शन उनका यहाँ पर मत दिया

जाता है। न्याय में ज्ञान से निःश्रेयस माना गया है। गौतमी न्याय के दूसरे ही सूत्र से इस का प्रमाण मिल जाता है। वह इस प्रकार से कि दुःखरूप बन्ध पुरुष को जन्म लेने से प्राप्त होते हैं, जन्म तब होता है कि जब प्रवृति बनी रहती है। प्रवृत्ति राग और द्वेष से हुआ करती है और राग द्वेष मिथ्याज्ञान के कारण से होते हैं यह दुःख से लेकर मिथ्याज्ञान पर्यन्त का चक्र ही वास्तव में संसार है, चूंकि इस सब प्रपंच का कारण मिथ्याज्ञान है और उसकी निवृत्ति ज्ञान से ही होसकती है अतः ज्ञान मोक्ष का कारण है। वैशेषिक दर्शन में भी बन्धन कारण मिथ्याज्ञान को ही माना गया है। जैसा कि—

"तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः"

इस सूत्र में वर्णन किया गया है। सांख्य में बन्धो विपर्ययात्, ज्ञानान्मुक्तिः इन सूत्रों द्वारा बन्ध का कारण अज्ञान को मानकर ज्ञान से मुक्ति मानी गयी है। योग से भी प्रकृति पुरुष का ज्ञान कैवल्य का कारण है फिर भी सारी प्रक्रिया उसकी कर्म पर निर्भर करती है, इसलिये कर्म का खण्डन नहीं। वेदान्त दर्शन में ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय सेही मुक्ति मानी गयी है। जैसा कि—

"अग्निहोत्रादि तु तत्कार्यायैव तद्दर्शनात्" ४।१।१६

इस सूत्र से अभिव्यक्त होता है। यद्यपि ज्ञान से मुक्ति प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों ने ज्ञान को विशेषता दी है फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि वे ज्ञान के साथ कर्म को मुक्ति का साधन नहीं मानते। वेदान्त तो स्पष्ट ही उपासना अग्निहोत्रादि कर्मों को मुक्ति का साधन मानता है। योग में स्पष्ट ही २।१ में तप, स्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधान=परमगुरु परमेश्वर में कर्मफल के त्याग को क्रिया—योग अर्थात् कर्मयोग कहा गया है। यह क्रियायोग=कर्मयोग चित्त को समाहित करता है। इस प्रकार यह भी निष्काम योगाभ्यासादि कर्मों को ज्ञान के उदय का कारण मानते हुए मुक्ति का साधन कर्म को स्वीकार करता है। रहे सांख्य वैशेषिक और न्याय। ये ज्ञान पर इसलिये बल देते हैं कि मिथ्याज्ञान का निवारक ज्ञान ही है। अतः उसकी मोक्ष के प्रति मुख्य कारणता है। पूर्व कहा जा चुका है कि प्राचीन दर्शनों में प्रक्रियाभेद होते हुए भी सिद्धान्तभेद न था। लेकिन नवीनों ने अपनी लीला से भेद और विरोध दिखला दिया। यहाँ भी वैसी ही बात है। प्राचीनों का मतभेद न होते हुए भी नवीनों ने भेद पैदा किया। कई नवीन दार्शनिकों ने ज्ञान कर्म के समुच्चय का खण्डन करके ज्ञान को मुक्ति कारण सिद्ध किया है। यह प्रोत्साहन इन को स्यात् सांख्य के इस सूत्र—

"नियतकारणत्वान्न समुच्चय विकल्पौ" ३।२५।

से प्राप्त हुआ होगा। परन्तु उनका यह भ्रम है! इस में वास्तव में ज्ञान को मोक्ष का मुख्य कारण माना गया है। अतः मुख्यकारणता का वर्णन करते हुए यह बतलाया गया है कि मुक्ति का मुख्य-कारण समुच्चय और विकल्प नहीं। यदि कर्म मोक्ष के लिये ज्ञान के सहायक रूप से स्वीकृत न होता तो सांख्यकार कभी भी।

"स्वकर्मस्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्" ३।३५ तथा

"साधारणासनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः" ३।३३

आदि सूत्रों द्वारा यह प्रतिपादन न करते कि अपने आश्रमों में विधान किये कर्म स्वकर्म है और उनके तथा धारणा और आसन के द्वारा ध्यान की सिद्धि होती है। इससे यह स्पष्ट है कि सांख्य

ज्ञान कर्म दोनों को स्वीकार करता है। सामान्यरूप से यहां यह बात समझनी चाहिये कि ज्ञान को मोक्ष साधन मानने वाले दर्शन यदि कर्म का उसके साथ सहयोग न मानते तो, जिस ज्ञान को वे बन्ध का निवर्तक मानते हैं उसकी सिद्धि के लिये योगाभ्यासादि का करना स्वीकार न करते, परन्तु इसका स्वीकार सभी ने किया है। जब योग आदि स्वयं कर्ममय हैं तो फिर कर्म का निषेध हो ही कैसे सकता है। उदाहरण के लिये इन दर्शनों के प्रमाण दिये जाते हैं। सांख्य तो योग का ही पोषक है अतः वह वैराग्य और अभ्यास को मानता है और योग के ध्यान धारणा आदि अंगों को भी मानता है।

"वैराग्यादभ्यासाच्च" ३। ३६। "धारणामनस्वकर्मणातत्सिद्धि" ३।३३

आदि सूत्र प्रमाण है। न्याय के—

"अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः" ४।२।४२ तथा "तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्मविध्युपायैः" ४।२।४६

आदि सूत्रों में अपवर्ग की प्राप्ति के लिये यम नियम आदि का पालन करना लिखा है। इसी प्रकार वैशेषिक ६।२।२ में ब्रह्मचर्य, गुरुकुलवास, वानप्रस्थ, यज्ञ, दान आदि को अपवर्गसाधन माना गया है। इसके अतिरिक्त तात्विकज्ञान जो स्वयं जीव का स्वाभाविकमात्र ज्ञान नहीं अपितु नैमित्तिक ज्ञान है और मोक्ष का दाता है, उसकी सिद्धि भी इन दर्शनों ने योग आदि निष्काम कर्मों के द्वारा मानी है। क्योंकि बिना कर्म ज्ञान की प्राप्ति होना कठिन है।

इतने विचार से यह सिद्ध हो गया कि ज्ञान को मुक्तिसाधन मानने वाले दर्शन भी उस ज्ञान की प्राप्ति और अपवर्ग की सिद्धि का उपाय कर्मयोग को स्वीकार करते हैं। अब यह विचार करना शेष है कि नवीनों ने फिर ऐसा होते हुए भी ज्ञानकर्म समुच्चय को मोक्ष साधन होने का खण्डन क्यों किया? इसका समाधान यह है कि उनको भ्रम था। वह भ्रम यह था कि कर्म फल पैदा करने वाला है अतः कर्म का ज्ञान के साथ समुच्चय मानने पर मोक्ष में भी जन्म आदि की प्राप्ति का प्रसंग होगा। नवीनों के तद्विषयक प्रकरणों का परिशीलन करने पर यही मुख्य तर्क उनमें दृष्टिगत भी होता है। परन्तु यह निःसार और भ्रमपूर्ण है कि सभी कर्म फल देने वाले ही होते हैं। पाप और सकाम कर्म फल देने होते हैं निष्काम कर्म नहीं। वेद का यह सिद्धान्त है कि मिथ्याज्ञान से किये कर्म फलदाता हैं, ज्ञानपूर्वक किये कर्म मोक्ष के दाता हैं, जन्मादि फल के दाता नहीं। यहां सिद्धान्तरूप से मानने की बात यही हुई कि अज्ञानपूर्वक किये गये कर्म जन्म, दुःख बन्धन, आदि फलों के उत्पादक हैं, ज्ञानपूर्वक किये कर्म नहीं। मनुष्य जब ज्ञान द्वारा मिथ्याज्ञान को शुद्ध करके कर्म करता है तब वे कर्म फल द्वारा बन्धन के हेतु न होकर मोक्ष तक पहुंचाते हैं, बुद्धि से शुद्ध किये कर्म करने का वर्णन ऋ० ३।८।५ में है। "पुनन्तिधीरा अपसो मनीषा" वाक्य से मिलता है अर्थात् धीर लोग मनीषा=बुद्धि से अपसः=कर्मों को शुद्ध करते हैं। ऐसे ज्ञानपूर्वक कर्म से बन्धन को तर जाते हैं। जब कि इनको परमेश्वर में अर्पण कर देते हैं, इसका वर्णन ऋ० ७।३२।१३ में मिलता है। यथा **पूर्वीश्चन प्रसृतयस्तरन्ति यं तं य इन्द्रे कर्मणाभुवत्**। अर्थात् उसको पूर्व के बन्धन पार कर जाते हैं। (छोड़ जाते हैं) जो परमेश्वर में ज्ञान से शुद्ध कर्म को अर्पण करते हुए करता है। यदि सभी कर्म फल वाले होते तो बन्धन के हेतु होने से आजीवन कर्म करने का उपदेश ही वेद क्यों करता। इसके अतिरिक्त वेद ने स्वयं भी कह दिया है

कि इस प्रकार निष्काम या अज्ञानपुट से रहित कर्म लिप्त नहीं होता। वास्तव में अज्ञान मूल में जब तक बना है तब तक ही कर्मों का फल है जब अज्ञानमूल ज्ञान से कट जाता है तो स्वयं कर्म फलदाता नहीं। यदि कर्म स्वभावतः बन्धन पैदा करने वाला या फलदाता होता तो हमारे शरीर के उन कर्मों का भी फल होना चाहिये जोकि बिना इच्छा (unvoluntarily) किये गये हैं। यहाँ पर कोई यह शंका भी उठा सकता है कि जब अज्ञानपूर्वक किये कर्मों का ही फल होता है, वह भी इसलिये कि अज्ञानरूप मूल बना हुआ है तो फिर अग्निहोत्र, दानादि वा इष्ट और आपूर्त जो सकाम भावना से किये कर्म हैं उनका फल क्यों होता है ? क्योंकि वे तो जान कर ही किये गये हैं, इसका उत्तर यह है कि सकाम कर्म में भी अज्ञान का मूल विद्यमान है। इसलिये वे फल वाले होते हैं।

वह इस प्रकार कि राग और द्वेष अज्ञान से पैदा होते हैं यह नियम है। चूंकि सकाम कर्म में फल की इच्छा बनी होने से राग मौजूद है इसलिये उसका भी फल बन्धनरूप होता है। निष्काम कर्म ज्ञानपूर्वक बिना राग, द्वेष के होते हैं। अतः उनका सकाम की भाँति फल नहीं होता। वे फल न देते हुए मोक्ष के प्रापक होते हैं। योगभाष्यकार व्यास के एक प्रमाण से यह बात बहुत ही स्पष्ट हो जायगी। व्यास के शब्द ये हैं—

"यथा तुषावनद्धाः शालितण्डुला अदग्धबीजभावाः प्ररोहसमर्था भवन्ति नापनीततुषा-बीजभावा वा तथा क्लेशावनद्धः कर्माशयो विपाकप्ररोही भवति नापनीतक्लेशो न प्रसंख्या-नदग्धक्लेशबीजभावो वेति।"

अर्थात् जिस प्रकार छिलके से युक्त धान के चावल न जले बीज भाव वाले ही अंकुर पैदा करते हैं केवल चावल नहीं, उसी प्रकार क्लेशरूप अज्ञान से युक्त कर्माशय फल पैदा करते हैं क्लेश-रूपी अज्ञानरहित कर्म नहीं। इस प्रमाण से यह बात भली-भाँति सिद्ध हो गई कि अज्ञानमूलक कर्म ही फल देते हैं ज्ञानमूलक नहीं। अतः यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि ज्ञानपूर्वक किये गये निष्काम कर्म तात्विक ज्ञान के साथ दुःख निवृत्ति करते हुए परमानन्द की प्राप्ति के साधन बनते हैं। जो लोग कर्म बिना सिर्फ ज्ञानमात्र से ही मोक्ष मानते हैं उनसे पूछना चाहिए कि निवृत्ति और प्राप्ति किसके धर्म हैं, यदि कहें कर्म के, तो फिर दुःख की निवृत्ति और परमानन्द की प्राप्ति में भी इसकी साधनता माननी ही पड़ेगी। यदि कहें कि ये दोनों ज्ञानमात्र के ही धर्म हैं तो लोक में झूठ को जानते हुए भी झूठ से और दुःखदायी वस्तु को दुःख का कारण जानते हुए भी उससे निवृत्ति तथा अच्छी वस्तु को जानते हुए भी बिना प्रयत्न या कर्म किये उसकी प्राप्ति क्यों नहीं होती। इसलिये ज्ञानमात्र त्याग और प्राप्ति का कारण नहीं। ज्ञान से वस्तुओं का स्वरूप जाना जाता है और कर्म से उसका त्याग या ग्रहण हुआ करता है, चूँकि मुक्ति में भी दुःख की निवृत्ति और आनन्द की प्राप्ति करनी होती है अतः उसमें भी ज्ञान के साथ कर्मसाधन की अपेक्षा है। ज्ञान के द्वारा याथात्म्य जाना जाता है और कर्म द्वारा दुःख का त्याग कर सुख को अपनाया जाता है। इसलिये जहाँ ज्ञान मुक्ति का दाता है वहाँ कर्म भी उसका सहकारी होकर मुक्ति का साधन है। इसलिये वेदों में कर्म और ज्ञान दोनोंको मुक्ति का साधन माना गया है। आचार्य दयानन्द ने भी अपने वाक्यों से इसी भाव को दर्शाया है। लेख को अधिक न बढ़ा कर यहां पर निष्कर्ष निकालते हुए इतना ही कहना पर्याप्त है कि मिथ्या ज्ञान जन्य दुःखों की निवृत्तिपूर्वक परमानन्द की प्राप्ति का नाम मोक्ष=अपवर्ग=मुक्ति=निःश्रेयस है तथा उसकी प्राप्ति का साधन ज्ञान और कर्म का समुच्चय है।

'दर्शनों में परस्पर अविरोध*'

(लेखक—वेदालङ्कार श्री पं० विद्यासागर जी शास्त्री, पंचतीर्थ, साहित्यदर्शनाचार्य्य, मुख्यपंडित सरस्वती विद्यालय, बरेली)

विषय-प्रवेश

भारतीय वाङ्मय के अमर रत्नों में दार्शनिक ग्रन्थरत्न अपना एक विशेष स्थान रखते हैं। उनके आलोक से आज भी भारतीय वाङ्मय जगमगा रहा है। उन्होंने अनेक अन्धकारमय मानसमन्दिरों को आलोकित किया है। अतएव देशी तथा विदेशी दोनों प्रकार के विद्वान उनकी गरिमा गान करते नहीं थकते। आज योग पर कितने ही नवीन दृष्टिकोणों से विचार हो चुका है यह स्वाध्यायशील व्यक्तियों से छिपा नहीं है। सांख्य के प्रकृतिवाद को दृष्टि में रखकर अनेक तुलनात्मक ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं। वेदान्त संसार के लिये ऋषियों की अपूर्व देन है। यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो स्पष्ट प्रतीत होता है कि वैदिक साहित्य के बाद यदि कोई साहित्य-खण्ड ऐसा है जो आज भी हमारे पूर्वजों की कीर्ति को अक्षुण्ण रख रहा है है तो वह दार्शनिक साहित्य ही है। ऐसा होने पर भी इसके विषय में अनेक प्रकार के विवाद हैं। एक ६ दर्शन मानते हैं, तो दूसरे १२, कोई किन्हीं को आस्तिक दर्शन मानते हैं तो कोई इनमें परस्पर विरोध मानते हैं उनकी दृष्टि से इनका समन्वय हो ही नहीं सकता। दूसरे इनमें अविरोध स्वीकार करते हैं, वे कहते हैं कि इनका परस्पर समन्वय हो सकता है। इन विचारों में से अन्तिम विषय की आलोचना करना ही इस लेख का मुख्य उद्देश्य है। प्रसंगवश अपेक्षा होने पर यथास्थान अन्यान्य विषयों पर भी प्रकाश डाला जायगा।

दर्शन

दर्शनों का समन्वय कराने के पहिले यह जान लेना आवश्यक है कि दर्शन किसे कहते हैं। यद्यपि ज्ञान तथा ज्ञान के साधनों को दर्शन कहते हैं तथापि प्रकृत में तत्वों के ज्ञान के साधनों को दर्शन कहेंगे। इस प्रकार तत्वज्ञान के साधन ही दर्शनपदवाच्य हुए किन्तु लोक व्यवहार में उन साधनों के ज्ञापक ग्रन्थों को भी दर्शन कह देते हैं। इसलिये तत्वज्ञान के साधन तथा उन साधनों के प्रतिपादक ग्रन्थ दोनों ही दर्शन कहाये। यहां पर प्रश्न स्वभावतः ही उठता है कि तत्व किसे कहते हैं। शास्त्र में तत्व का निर्वचन किया गया है "तनोतीति तत्त्वम्" अथवा "ततं विश्वमनेन तत्तत्वम्" आशय यह कि जगत् का मूल कारण ही तत्त्व है क्योंकि वही संपूर्ण जगत् में व्याप्त है। यह किन्हीं की दृष्टि से एक है, यह किन्हीं की दृष्टि से दो और किन्हीं की दृष्टि से तीन। अब दर्शन का अर्थ होगा 'वे ग्रन्थ जिनमें जगत् के मूल कारण पर विचार किया जाय'। मूल कारण पर विचार करने का आशय यही है कि यह जगत् क्यों बना ? किससे बना ? किसने बनाया ? क्यों बनाया ? इत्यादि प्रश्नों पर गम्भीर विचार उपस्थित करना।

दार्शनिक विचारों की उत्पत्ति

इस प्रकार के प्रश्नों पर कौन विचार किया करता है और क्यों यह भी एक विचारणीय विषय

---

* यह लेख लेखक के अप्रकाशित बृहत् ग्रन्थ 'दार्शनिक वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास' के एक अंश का संक्षेप है।

है। यह तो स्पष्ट ही है कि इन विषयों पर वही विचार करेगा जो इस रहस्य से अपरचित है और यह बात भी निश्चित ही है कि इस विषय का ज्ञान भी मनुष्यों को ही नहीं है। ईश्वर तो सर्वज्ञ है, आप्तकाम है उसे इस झगड़े में पड़ने की क्या आवश्यकता ! इसलिये जगत् में रहने वाले उसमें रहकर सुख दुःख उठाने वाले मनुष्य ही अज्ञात वस्तु की खोज में प्रवृत्त होते हैं और सोचने लगते हैं मैं कौन हूँ ? यह जगत् क्या है ? इससे मेरा क्या संबन्ध है ? आदि २। किसी अज्ञात वस्तु से परिचय होने पर उसके विषय में जिज्ञासा होना स्वाभाविक ही है। यह जिज्ञासा उस समय और भी प्रबल रूप धारण कर लेती है जब हमारा सम्बन्ध उस वस्तु से अनुकूल रूप से न होकर प्रतिकूल रूप से हो अर्थात् हमें उससे दुःख मिले। दुःख का कारण है 'इच्छाप्रतीघात'। इच्छाप्रतीघात का अर्थ है हमारी इच्छा के अनुकूल कार्य में रुकावट होना। इस इच्छाप्रतीघात के होने पर हम उसके कारणों पर विचार प्रारम्भ कर देते हैं और इस विचारका प्रारंभिक बिन्दु यही होता है कि इस दुःख का कारण कैसे निवृत्त हो। जब जब ऐसी अवस्था होती है तब तब ऐसा ही विचार उत्पन्न होता है। इस प्रकार हमारी प्रवृत्ति इस दुःख के कारण की निवृत्ति के कारणों को ढूँढने की ओर हो जाती है और उन उपायों को ढूँढ कर हम उस वर्तमान दुःख की निवृत्ति कर भी लेते हैं। किन्तु फिर नये २ दुःख उत्पन्न होते हैं और फिर उनकी निवृत्ति होती है। यही दशा जब अनेक बार होती है तब हमारा विचार विशेषविषयक न होकर सामान्यविषयक हो जाता है। तथा इसका स्वरूप होता है "दुःखों की निवृत्ति सदा के लिये कैसे हो" इसी तरह संसार की वस्तुओं के साथ अनुकूल तथा प्रतिकूल सम्बन्ध होने पर अन्य भी बहुत से प्रश्न उठने लगते हैं जिनका उत्तर पाने के लिये मनुष्य व्याकुल हो जाता है और शांति पाने के लिये तरह तरह के विचार प्रारम्भ कर देता है। यही विचार दर्शन के मूल हैं इसीलिये दार्शनिक तत्वों और उनके ज्ञान के साधनों में अनैक्य होना स्वभाविक ही है। यह भी इसी का परिणाम है कि भारत में भिन्न दार्शनिक प्रस्थान बनें।

नास्तिक दर्शन

यह दर्शन साधारणतया दो प्रकार के हैं एक आस्तिक दूसरे नास्तिक। दर्शनों के सम्बन्ध में नास्तिक पद की परिभाषा "नास्तिको वेद निन्दकः' (मनु० २-१०) यही माननोय है। इसीलिये परलोक और पाप पुण्य की सत्ता को स्पष्ट स्वीकार करने वाले बौद्ध और जैनों को नास्तिक दर्शनों में गिना जाता है। इन्हीं नास्तिक दर्शनों को शुद्धतार्किक दर्शन कह सकते हैं क्योंकि यह दर्शन केवल तर्क के द्वारा संसार के मूल तत्वों पर विचार करते हैं वे किसी प्रयोजन के लिये वेद का सहारा नहीं लेते अपितु तर्कप्रसिद्ध वेदविरुद्ध भी बहुत सी बातें मान लेते हैं। इनका वेदों पर सर्वथा विश्वास नहीं है। इनमें से बहुतों का कहना तो यह है कि वेदों की रचना बहुत से स्वार्थियों ने अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये की है। इन नास्तिकों के मुख्यभेद तीन हैं—(१) चार्वाक, (२) बौद्ध, और (३) जैन। इनमें से बौद्धों के फिर चार भेद हैं—(१) सौत्रान्तिक, (२) वैभाषिक, (३) योगाचार और (४) माध्यमिक। इस प्रकार कुल मिल कर ६ नास्तिक प्रस्थान हैं।

आस्तिक दर्शन

आस्तिक दर्शन सामान्यतः दो प्रकार के हैं—(१) श्रौत और (२) तार्किक। श्रौत दर्शन वे कहाते हैं जो मूल तत्व के अन्वेषण में केवल श्रुति को ही प्रमाण मानते हैं। यही दर्शन वैदिक दर्शन भी कहे जाते

हैं। यह लोग परोक्ष विषय में सर्वथा श्रुति को ही मुख्यता देते हैं। यदि श्रौतार्थ युक्ति या लोकविरुद्ध प्रतीत होता हो तो वे उसका उपपादन करते हैं, तदनुकूल युक्तियों का संग्रह करते हैं न कि श्रौतार्थ को युक्तियों के अनुकूल ढालते हैं। इस प्रकार के श्रौत दार्शनिक दो ही हैं पूर्वमीमांसाकार जैमिनि और उत्तर मीमांसाकार बादरायण। तार्किक आस्तिक वे कहाते हैं जो मूलतत्व के अन्वेषण में तर्क को मुख्यता देते हैं। इनका कहना है कि तर्क अर्थात् युक्ति द्वारा जो अर्थ सिद्ध होता है वही ठीक है साथ ही यह लोग आस्तिक होने से श्रुति की भी सर्वथा उपेक्षा नहीं कर सकते इसलिये अपने अनुकूल श्रुति का व्याख्यान करते हैं और इस प्रकार तर्कप्रसिद्ध विषय को श्रुति से मिला देते हैं। इन दार्शनिकों के सामान्यत: ५ भेद हैं—(१) नैयायिक, (२) वैशेषिक, (३) सांख्य, (४) योग, तथा (५) शैव। कोई कोई शैव और वैशेषिकों को एक ही मानते हैं। दूसरे शैवों को वैशेषिक का एक भेद मानते हैं।

दर्शनों की संख्या तथा गणना में उनकी स्थिति

दर्शन शब्द का प्रयोग उल्लिखित अर्थों में कब से होने लगा। कहां तक इसका मूल मिलता है इन विषयों पर आलोचनात्मक दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि उपनिषद् काल से इसकी प्रवृत्ति हुई। बृहदारण्यक उपनिषत् में यह वाक्य आता है—

"आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" (बृ० २।४।५)

इस वाक्य में दर्शन शब्द का प्रयोग ज्ञान के अर्थ में हुआ है। यही दर्शन पद क्रमश: ज्ञान, ज्ञान के साधन तथा उन साधनों के बोधक ग्रन्थों के लिये भी प्रयुक्त होने लगा और अब इसी अर्थ में इतना रूढ़ हो गया है कि दर्शन शब्द सुनते ही एक विशेष प्रकार के साहित्य का बोध होने लगता है।

दर्शनों की संख्या जिस रूप में अब उपलब्ध होती है प्रारम्भ में ऐसी नहीं थी और न तब दार्शनिक विचार ग्रन्थाकार रूप में प्रसिद्ध हुए थे। फिर भी यह निश्चित ही है कि भिन्न भिन्न विचारक अपने अपने विचारों के अनुकूल प्रवचन किया करते थे और उनका एक एक समुदाय बनता जाता था। ब्राह्मण तथा उपनिषदों का ध्यानपूर्वक मनन करने से पता चलता है कि उस समय भी अनेक दार्शनिक थे और वे अपना एक एक समुदाय रखते थे तथा परस्पर वादविवाद भी किया करते थे। इस प्रवचन शैली का अन्त सूत्रशैली ने किया जबकि मनुष्य अल्पबुद्धि होने लगे उनके ज्ञान के लिये विचारों को लेखबद्ध करना आवश्यक हो गया तथा प्रवचनकर्त्ताओं ने भी अपने विचारों को जो अब तक भली भांति विकसित हो चुके थे एक सुसंबद्ध रूप देना चाहा। किन्तु दर्शन ६ हैं यह व्यवस्था कब से चली और क्यों चली यह बताना अत्यन्त दुष्कर है। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि ईसा की नवीं शती से पूर्व ही यह व्यवस्था प्रचलित हो चुकी थी क्योंकि इस शती में छहों दर्शनों के नाम तथा व्यवस्थित रूप का दर्शन होता है। दर्शन कितने हैं इस विषय पर आस्तिक तथा नास्तिक दोनों ही लेखकों ने लेखनी उठाई है। इनमें से बहुतों ने तो संख्या ६ ही रक्खी है किन्तु इस संख्या में किन ६ की गणना है इसमें बड़ा विवाद है। कुछ एक ने संख्या ६ भी मानी है।

(क) ईसा की १२वीं शती के उत्तरार्ध में होने वाले 'षड्दर्शनसमुच्चय'* के रचयिता हरिभद्रसूरि

---

*षड्दर्शनसमुच्चय चौखम्बा संस्करण।

लिखते हैं:—

बौद्धं नैयायिकं सांख्यं जैनं वैशेषिकं तथा। जैमिनीयं च नामानि दर्शनाममून्यहो ॥

इन्होंने न्याय, वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा ये चार आस्तिक तथा बौद्ध और जैन यह दो नास्तिक दर्शन मिलाकर ६ संख्या पूरी की है।

(ख) ईसा की १३वीं शती में होने वाले जिनदत्तसूरि अपने ग्रन्थ 'विवेक विलास' में, जिसका कि हस्तलेख गवर्मेंएट संस्कृत कालिज बनारस के पुस्तकाकय, सरस्वती भवन में रक्खा है,* लिखते हैं:—

जैनं मैमांसकं बौद्धं सांख्यं शैवं च नास्तिकम्। स्वस्वतर्कविभेदेन जानीयाद्दर्शनानि षट् ॥

इन्होंने सांख्य, मीमांसा, शैव यह तीन आस्तिक, दो जैन और बौद्ध जिनको कि लेखक नास्तिक कोटि में नहीं गिनता, तथा एक नास्तिक चार्वाक इस प्रकार कुल मिलाकर ६ दर्शन माने हैं। यहां पर यह समझ लेना चाहिये कि लेखक शैवपद से वैशेषिक का ग्रहण करता है तथा केवल चार्वाक को ही नास्तिक मानता है।

(ग) १४वीं शती ईसवीं में होने वाले मलधारि राजशेखर सूरि यह ६ संख्या इस प्रकार पूरी करते हैं:—

जैनं सांख्यं जैमिनीयं योगं वैशेषिकं तथा। सौगतं दर्शनान्येवं नास्तिकन्तु न दर्शनम् ॥

अर्थात् वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, बौद्ध और जैन यह ६ दर्शन है। नास्तिक चार्वाक दर्शन ही नहीं है। इन्होंने भी बौद्धों और जैनों को आस्तिक माना है तथा चार्वाक को दर्शन ही नहीं माना है।

(घ) १५वीं शती में होने वाले मल्लिनाथ के पुत्र प्रतापरुद्रयशोभूषण की टीका में लिखते हैं:—

पाणिनेर्जैमिनेश्चैव व्यासस्य कपिलस्य च अक्षपादस्य कणादस्य।

इनकी विशेषता यह है कि (१) सब आस्तिक दर्शनों का ही उल्लेख किया गया है।

(२) योग को निकालकर उसके स्थान में छठा पाणिनि दर्शन जोड़ दिया गया है।

(ङ) ईसा की ६वीं शती में होने वाले न्यायमञ्जरी के कर्ता जयन्तभट्ट 'षट्तर्की' कहकर तीन आस्तिक (१) न्याय (२) वैशेषिक (३) सांख्य तीन नास्तिक (१) चर्वाक (२) बौद्ध (३) जैन पर ६ तर्क मानते हैं। (न्यायमञ्जरी पृ० ४ लाजरस संस्करण)।

(च) डा० सतीशचन्द्र विद्याभूषण अपने ग्रन्थ भारतीय तर्क का इतिहास(History of Indian logic) ग्रन्थ के पृ० १२३ पर हयशिर पांचरात्र से एक श्लोक उद्धृत करते हैं:—

गौतमस्य कणादस्य कपिलस्य पतञ्जलेः। व्यासस्य जैमिनेश्चैव दर्शनानि षडेवहि ॥

इन्होंने ६ प्रसिद्ध अस्तिक दर्शनों का ही उल्लेख किया है।

(छ) × प्रपंचहृदयकार ८ दर्शनों का उल्लेख करते हैं तीन नास्तिक चार्वाक, बौद्ध, जैन, और पांच न्याय, वैशेषिक, सांख्य, पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा आस्तिक। उनका लेख यह है—

---

* गत शताब्दी में गुजराती-अनुवाद सहित बम्बई से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ था। इसकी एक प्रति पंजाब-विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में है। (सम्पादक)

× प्रपंचहृदय-त्रिवेन्द्रमसंस्करण।

इतिक्रमेण लोकायतार्हतबुद्धाक्षपादकणादकपिलजैमिनिबादरायणानामभिमतमिह प्रदर्शितम् (प्र० हृ० पृ० ६) ।

(ज) सर्वसिद्धान्तसंग्रह* जिसके लेखक आद्यशंकराचार्य से भिन्न कोई शंकराचार्य हैं जैसा कि उनके:—

भाष्यं चतुर्भिरध्यायैर्भगवत्पादविनिर्मितम् ।

चक्रे विवरणं तस्य तद्वेदान्तं प्रचक्षते । (स० सि० सं० १।२२)

इस लेख से प्रतीत होता है । इन्होंने नव दर्शनों का उल्लेख किया है किन्तु संग्रह में 'वेदव्यासपक्षः' लिखकर एक दसवां और भी बढ़ा दिया है । इनका लेख है:—

अक्षपादः कणादश्च कपिलो जैमिनिस्तथा । व्यासः पतञ्जलिश्चैते वैदिकाः सूत्रकारकाः ॥
बृहस्पत्यार्हतौ बुद्धो वेदमार्गविरोधिनः । एतेष्वधिकृतान् वक्ष्ये सर्वे शास्त्रप्रवर्तकाः ॥

(सं० सि० सं० १-२३,२४)

इसमें ६ प्रसिद्ध आस्तिक तथा ३ प्रसिद्ध नास्तिक दर्शनों का उल्लेख है । पहलों को वैदिक तथा दूसरों को अवैदिक वेदमार्ग विरोधी कहा गया है और यह बताया गया है कि ये सब शास्त्र प्रवर्तक हैं ।

(झ) सर्वदर्शनसंग्रहकार+ आचार्य सायण ने १६ दार्शनिक सम्प्रदायों का उल्लेख किया है । इनके संग्रह में ६ आस्तिक दर्शन न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त । आस्तिक पक्ष में ही वेदान्त के भिन्न दृष्टि से दो व्याख्याता रामानुज और मध्व । शैवसम्प्रदाय के नाकुलीश, पाशुपत, प्रत्यभिज्ञा, रसेश्वर, यह चार भेद, एक पाणिनि कुल मिलाकर १३ आस्तिक दर्शन, चार्वाक, बौद्ध, जैन, तीन नास्तिक, इस प्रकार कुल १६ दर्शन हैं ।

(ञ) प्रस्थानभेद के कर्ता मधुसूदन सरस्वती न्याय, वैशेषिक, मीमांसा, वेदान्त इन चार का तो शास्त्र शब्द से पृथक् उल्लेख करते हैं शेष सांख्य, योग, पाशुपत, वैष्णवादिकों का धर्मशास्त्र में अन्तर्भाव करते हैं । उन चार में भी वैशेषिक का न्याय में तथा वेदान्त का मीमांसा से अन्तर्भाव करके केवल दो ही शास्त्र मानते हैं ।

(त) स्वामी दयानन्द प्रसिद्ध ६ आस्तिक तथा प्रसिद्ध ३ नास्तिक इस प्रकार कुल नव दर्शन मानते हैं । इस विषय में सत्यार्थप्रकाश तृतीय समुल्लास तथा द्वादश समुल्लास में उनका लेख द्रष्टव्य है ।

इन सब मतों का परिशीलन करने पर हम निम्न परिणाम पर पहुँचते हैं कि:—

१. न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त यह ६ आस्तिक तथा चार्वाक, बौद्ध, जैन तीन नास्तिक कुल मिलाकर नव दार्शनिक प्रस्थान हैं । स्वामी दयानन्द का भी यही मत है ।

२. श्री रामानुजाचार्य तथा श्रीमध्वाचार्य अपनी २ दृष्टि से ब्रह्मसूत्र के व्याख्याकार हैं । आचार्य

---

*सर्वसिद्धान्तसंग्रह—प्रेमसुन्दर बोस द्वारा परिशोधितसंस्करण ।

+सर्वदर्शन संग्रह—आनन्दाश्रमसंस्करण १६२८.

× प्रस्थानभेद—सर्वदर्शन संग्रह के साथ मुद्रित आनन्दाश्रमसंस्करण सन् १६२८.

सायण के समय वल्लभ तथा निम्बार्क सम्प्रदायों के वेदान्त सूत्र पर व्याख्यान अभी बने ही नहीं थे अन्यथा उनका भी पृथक् दर्शन दृष्टि से उल्लेख हुए बिना न रहता। पाणिनिदर्शन का जिस प्रकार उल्लेख है उससे वह शब्दब्रह्माद्वैतवादी प्रमाणित होते हैं अतः इनकी भी दार्शनिक दृष्टि का आधार ब्रह्मसूत्र या वेदान्त सूत्र ही हैं जैसे भगवान् शंकर के ब्रह्माद्वैतवाद का आधार ब्रह्मसूत्र हैं। आशय यह कि वेदान्त कहने से सभी तत्सम्बद्ध दार्शनिक सम्प्रदाय आ सकते हैं। शैवादि चार सम्प्रदाय वैशेषिकके ही अवान्तर भेद हैं उनका अन्तर्भाव वैशेषिक में हो सकता है। इस प्रकार अन्त में वे ही नव प्रस्थान बच जाते हैं और हम इन्हीं नव प्रस्थानों पर विचार करेंगे।

दर्शनों का समन्वय

अभी ऊपर बताया जा चुका है कि—दर्शन भिन्न भिन्न व्यक्तियों की जगत् के मूल-कारणविषयक दृष्टियां (Visions) हैं। जिसने जिस दृष्टि से देखा वैसा ही कहा इसलिये इनमें परस्पर अनैक्य है। यह है भी स्वाभाविक, यदि विचारक किसी एक वस्तु पर भी विभिन्न दृष्टियों से विचार करेंगे तो अवश्य ही विभिन्न परिणामों पर पहुँचेंगे। अब जब कि दर्शन भिन्न २ दृष्टि से किये गये विचार हैं तो फिर उनके समन्वय की चिन्ता करना व्यर्थ है। कोई बुद्धिमान् व्यक्ति न्याय और व्याकरण का समन्वय नहीं करता, नाहीं गणित और साहित्य का। फिर इनका ही परस्पर समन्वय क्यों किया जाय ? इसका उत्तर यह है कि समन्वय पद का अर्थ तथा समन्वय करने वालों का दृष्टिकोण समझ लेने पर उक्त आशंका के लिये स्थान ही नहीं रहता।

समन्वय पद के अर्थ

समन्वय करने वालों में कुछ का कथन है कि १. यद्यपि यह विचारकों की विभिन्न दृष्टियां हैं तथापि उनका विषय एक ही है। अतः हम उन दृष्टियों को किसी क्रम में बैठा सकते हैं, उनकी व्यवस्था कर सकते हैं। उनमें विरोध या अविरोध का विचार करना इनका प्रयोजन नहीं है। इन व्यवस्थापकों ने आस्तिक तथा नास्तिक दोनों दर्शनों को मिलाकर व्यवस्था की है और यह व्यवस्था इसी दृष्टि से की गई है जैसा कि अभी उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया जायगा।

२. क्रमशः लोग यह भूलते गये कि दर्शन तो भिन्न भिन्न व्यक्तियों के भिन्न भिन्न दृष्टि से किये गये विचार हैं। उधर ऋषि की परिभाषा में सर्वज्ञता प्रवेश करती गई। दर्शनकार ऋषिपदवी पा चुके थे तब एक नया झमेला उत्पन्न हुआ—

सर्वज्ञों की उक्तिओं में विरोध कैसा ? उन सब को तो एक ही बात कहनी चाहिये। अब समन्वय का अर्थ हो गया "विरोध का अभाव"

यह भी तीन प्रकार से दिखाया गया—

(क) उद्देश्य अविरोध प्रतिपादन द्वारा (ख) ग्रन्थकारों के ग्रन्थों का भिन्न तात्पर्य प्रतिपादन द्वारा (ग) ग्रन्थों के विषयभेद प्रतिपादन द्वारा।

इस अन्तिम प्रकार के समर्थक स्वामी दयानन्द हैं। उनका कहना यह है कि सृष्टि के ६ कारण होते हैं उनमें से एक एक का व्याख्यान एक एक आस्तिक दर्शन करता है इसलिये उनमें विरोध कुछ भी नहीं सम्भवतः। स्वामी जी ने यह उत्तर विरोध मानने वालों को दिया है अतः 'विरोध नहीं है' ऐसा

लिखा गया है। अन्यथा इस दृष्टि से विचार करने पर न विरोध है न अविरोध; चूंकि सबका विषय ही भिन्न है। एकविषयक एकदेशिक एककालिक भावाभावप्रकारक विमर्श होने पर ही विरोध हो सकता है। यहां तो सबका विषय ही भिन्न है। अब स्पष्ट हो गया कि दर्शनों का समन्वय क्यों किस २ प्रकार किया जाता है। आगे इस विषय का उदाहरणों द्वारा स्पष्टीकरण किया जाता है:—

समन्वय—क्रमिक व्यवस्था की दृष्टि से

१. जब कि समन्वय का अर्थ है 'एक विषय पर विभिन्न विचारकों के विभिन्न दृष्टि से किये गये विचारों को क्रम में बैठा देना'

आत्मा एक विषय है इस पर सब ने विचार किया—

(१) चार्वाक ने स्थूल दृष्टि से विचार किया और स्थूल दर्शियों के लिये शरीर को ही आत्मा कहा और शेष प्रक्रिया भी इसी दृष्टि से बनाई।

(२) बौद्ध इससे कुछ ऊँचे उठे तथा इस विषय में कुछ अधिक ऊंचा सिद्धान्त रक्खा और कहा कि शरीर आत्मा नहीं अपितु शरीर में जो चैतन्य अथवा ज्ञान है वही आत्मा है और चूंकि यह उत्पन्न और विनष्ट भी होता है अत: क्षणिक भी है ही।

(३) जैन इससे भी ऊँचे उठे। उन्होंने अधिक उन्नत दृष्टिकोण से विचार किया और कहा कि है तो ज्ञान ही आत्मा किन्तु वह क्षणिक न होकर स्थायी है।

(४) इससे भी अधिक उन्नत दृष्टि से विचार किया न्याय वैशेषिक ने। उन्होंने कहा—आत्मा एक नित्य स्थिर पदार्थ है वह ज्ञान नहीं अपितु ज्ञान का आश्रय है, शरीरादि से भिन्न है कर्ता भी है और भोक्ता भी। न देह नाश से इसका नाश होता है और न देह की उत्पत्ति से इसकी उत्पत्ति।

(५) सांख्य ने इस विषय में इससे भी अधिक उन्नत दृष्टिकोण से विचार किया और कहा आत्मा एक स्थिर नित्य पदार्थ है शरीरादि से भिन्न भी है तथापि वह वास्तव में न कर्ता है न भोक्ता। वह स्वरूपत: असङ्ग निर्गुण तथा ज्ञानस्वरूप है। उसमें जो कर्तृत्व भोक्तृत्वादि प्रतीति होती है वह प्रकृति के संग से होती है स्वाभाविक नहीं।

(६) वेदान्त ने इससे भी ऊंची बात कही और उसका अन्तिम स्वरूप बतला दिया।

संसार में वस्तु स्थिति है भी ऐसी ही। बच्चे और बहुत मामूली आदमी शरीर को ही आत्मा समझते हैं। कुछ अधिक बुद्धिमान व्यक्ति शरीरातिरिक्त चैतन्य की भी प्रतीति करते हैं और उसे ही आत्मा मानते हैं। अधिक बुद्धिशाली उसमें कुछ स्थिरता की प्रतीति भी करते हैं। और अधिक बुद्धि-वैभवशाली ज्ञान को आत्मा न मानकर ज्ञान के आश्रय को आत्मा मानते हैं, इनकी दृष्टि से वही कर्ता भोक्ता भी है, सांसारिक दृष्टि से यही सत्य भी है। और अधिक तर्कणा करने वालों ने कहा कि आत्मा देहादि से भिन्न तो अवश्य है, नित्य भी है, सांसारिक दृष्टि से वह कर्ता भोक्ता भी है किन्तु यह बात वास्तविक नहीं क्योंकि यदि शरीर न हो तो न वह कर्ता बन सके न भोक्ता। इसलिये यही प्रमाणित होता कि कर्तृत्व भोक्तृत्व शरीर सम्बन्ध से ही आरोपित होते हैं और अन्तिम विचारकों ने उसके यथार्थ रूप को स्पष्ट कर दिया। इस प्रकार सब ने अधिकारी भेद से एक ही आत्मतत्व का प्रतिपादन किया है। क्योंकि सूक्ष्म विषय में बुद्धि का एकदम प्रवेश होना असम्भवप्राय होता है। अत: स्थूल से सूक्ष्म

की ओर जाना होता है। इस प्रकार विभिन्न विचारकों के विभिन्न दृष्टिकोण से किये गये विचारों को एक समुचित क्रम में बैठा दिया गया अर्थात् उनका समन्वय कर दिया गया।

एक और उदाहरण लीजिये—

संसार में हम देखते हैं कि वस्तुएं बनती हैं और वे किन्हीं कारणों से बनती हैं अर्थात् संसार में 'कार्यकारणभाव' है। इस विषय में भी दर्शनों ने भिन्न २ वादों का आश्रय लिया है। संक्षेप शारीरक में एक कारिका आती है—

आरम्भवादः कणभक्षपक्षः संघातवादस्तु भदन्तपक्षः।
सांख्यादिपक्षः परिणामवादो वेदान्तपक्षस्तु विवर्तवादः।

आशय यह कि—बौद्ध इस विषय में संघातवाद का आश्रय लेते हैं। उनका कहना यह है कि कारणों के संघात=समुदाय को ही कार्य कहते हैं। वैशेषिकादि आरम्भवाद का आश्रय लेते हैं। उनका आशय यह है कि यद्यपि कारणों का सङ्घात ही कार्य है किन्तु किसी नियत क्रम में आने पर। अर्थात् कारण किसी नियत क्रम में संहत होकर कार्य को उत्पन्न करते हैं। सांख्यादि परिणामवाद का आश्रय लेते हैं। उनका कहना यह है कि कारण ही कार्यरूप धारण करता है। अद्वैत वेदान्त इस विषय में 'विवर्तवाद' का आश्रय लेता है। वह कहता है कारण में परिवर्तन प्रतीत तो होता है किन्तु वह परिवर्तन वास्तविक नहीं है। उसकी सत्ता केवल प्रतीति में ही है। इस उदाहरण पर दृष्टिपात करने से कितना स्पष्ट प्रतीत होता है कि एक ही तत्व का स्थूलतर स्थूल एवं सूक्ष्म तथा सूक्ष्मतम दृष्टि से कितना अच्छा प्रतिपादन है। ये हैं समन्वय के प्रथम अर्थ के उदाहरण। इसी प्रकार अन्य विषयों का भी समन्वय किया जा सकता है। उपनिषत् में भी अन्नमय से प्रारम्भ करके आनन्दमय तक क्रमिक उच्चता देकर पांच कोशों का प्रतिपादन इसी दृष्टि से किया गया है।

समन्वय अविरोध की दृष्टि से

२. समन्वय का दूसरा अर्थ है विरोध का अभाव या पारस्परिक विरोध का न होना। इस दृष्टि से समन्वय करने वालों ने केवल ६ आस्तिक दर्शनों को ही सन्मुख रक्खा है।

(क) एकोद्देश्यक दृष्टि से अविरोध—इन ग्रन्थों में विरोध दो प्रकार से हो सकता है एक उद्देश्य की दृष्टि से दूसरा उद्देश्य के प्रतिपादक साधनों की दृष्टि से। अब यदि इनका उद्देश्य में अविरोध है तो उसके प्रतिपादक साधनों में विरोध होने पर भी कोई क्षति नहीं। अद्वैतवाद का प्रतिपादन करते हुए वेदान्तियों ने अवच्छेदवाद, प्रतिबिम्बवाद, अजातवाद आदि नानावादों का आश्रय लिया है फिर भी उनमें विरोध नहीं माना जाता इसी प्रकार का अविरोध दर्शनों में भी है। दर्शनों का मुख्यप्रतिपाद्य विषय है 'मोक्ष' इसी को निःश्रेयस या अपवर्ग भी कहते हैं। इस मोक्ष की प्राप्ति कराना प्रत्येक दर्शन का उद्देश्य है इससे सब दर्शन सहमत हैं।

इसका स्पष्टीकरण इस प्रकार हो सकता है मोक्ष के विषय में सब दर्शन एक मत है। साथ ही, यह मोक्ष ज्ञान से होता है यह भी सर्वसम्मत है तथा यह ज्ञान भी उसी का होना चाहिये जिसके अज्ञान से बन्ध हुआ है और यह अज्ञान आत्मविषयक है। अतः आत्मज्ञान से मोक्ष होता है यह परिणा

निकला। अब यह देखना है कि भिन्न २ मार्गों में चलने वाले दर्शन इस उद्देश्य में किस प्रकार एक मत होकर सहायक होते हैं।

(१) वैशेषिक साधर्म्य वैधर्म्य का तत्वज्ञान कराकर आत्मा को अन्य सब पदार्थों से भिन्न रूप से स्थापन करके उसे मोक्ष का उपयोगी बनाता है।

(२) न्याय प्रमाणादि द्वारा उस ज्ञातस्वरूप का मनन कराकर उसके मोक्ष का सहयोगी बनता है।

(३) सांख्य योग उस मत (मननविषयीकृत) आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन कर तथा उसके निदिध्यासन के मार्ग को बताकर मोक्ष में सहायक होते हैं।

(४) मीमांसा वैदिक कर्मकाण्ड द्वारा उस आत्मा की स्वरूप शुद्धि करके उसे ज्ञानोपयोगी बना कर मोक्ष में सहायक है।

(५) फिर वेदान्त उसके स्वरूप का यथार्थ दर्शन करा उसका मोक्ष ही कर देता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भिन्न भिन्न मार्गों का अवलम्बन करने वाले दर्शन किस प्रकार एक ही उद्देश्य के सहायक होते हैं।

मधुसूदन सरस्वती का कहना यह है कि सब दर्शनों का तात्पर्य अद्वितीय परमेश्वर के प्रतिपादन में है। क्योंकि वे मुनिगण सर्वज्ञ थे कुछ भ्रान्त थोड़े ही थे जो परस्पर विरुद्ध बातें कहते किन्तु बहिर्मुख पुरुषों की एकदम पुरुषार्थ में प्रवृत्ति नहीं हो सकती इसलिये प्रकार भेद दिखाये गये हैं*।

(ख) भिन्नतात्पर्यक दृष्टि से अविरोध—ग्रन्थकारों का तात्पर्य भिन्न २ होने से अविरोध है। इस आशय से जिन्होंने विचार किया है उन्होंने भी केवल ६ आस्तिक दर्शनों पर ही विचार किया है। इनका कहना है कि न्याय का तात्पर्य प्रमाण प्रतिपादन में है। इसलिये उसका उसी अंश में प्रामाण्य है अन्य विषयों में उसका उसका कोई प्रामाण्य नहीं। इसी प्रकार वैशेषिक का तात्पर्य साधर्म्य वैधर्म्य प्रतिपादन में, सांख्य का आत्मा के असंगत्व प्रतिपादन में, योग का योग के साधक यमनियमादि बतानेमें, मीमांसा का कर्मकाण्ड परक श्रुतिओं का अर्थ निर्णय करने में, वेदान्त का परमतत्व मोक्ष का प्रतिपादन करने में तात्पर्य है। इस प्रकार इन ग्रन्थों का तात्पर्य ही भिन्न है। अतएव उनमें विरोध का विचार भी लाना अनुचित है। अपने २ विषय में सब प्रमाण हैं। लोक में भी यही व्यवस्था है आंख का रूप के विषय में प्रामाण्य है रस विषय में नहीं। किस ग्रन्थ का तात्पर्य किस विषय में है अथवा कौन ग्रन्थ किस विषय का प्रतिपादक है इसका निर्णय तात्पर्य निर्णायक लिङ्गों द्वारा किया जाता है। वे षडविध लिङ्ग निम्न हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वताफलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।

(ग) भिन्न विषय प्रतिपादक दृष्टि से अविरोध—ग्रन्थों के भिन्न २ विषय का प्रतिपादक होने से उनमें अविरोध है। जिन्होंने इस प्रकार विरोध का समाधान किया है उन्होंने भी ६ आस्तिक दर्शनों को ही सन्मुख रक्खा है। उनका आशय यह है कि छहों दर्शन भिन्न २ विषय का प्रतिपादन करते हैं। इस प्रकार विरोध का निराकरण करने वाले स्वामी दयानन्द हैं। आपका कहना यह है

---

* प्रस्थान भेद पृ० ६ संस्करण पूर्वोल्लिखित।

कि सृष्टि ६ कारणों से बनी है। प्रत्येक दर्शन एक २ कारण की व्याख्या करता है अतः उनमें विरोध नहीं है। वे लिखते हैं—"सृष्टि के छः कारण हैं उन में से एक एक कारण की व्याख्या एक एक शास्त्रकार ने की है इसलिये उनमें कुछ भी विरोध नहीं"।

इस प्रकार उनका विषय ही भिन्न है अतः उनमें विरोध हो ही नहीं सकता। यह हैं समन्वय के प्रकार जो कि भिन्न २ दृष्टिकोणों से किये गये विचारों को समनुगत करते हैं। शमित्योम्।

मुक्ति से पुनरावृत्ति

(पं० गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०)

अन्यान्य धर्मों के आधुनिक आचार्यों में ऋषि दयानन्द को छोड़ कर कोई भी ऐसा नहीं है जो मुक्त आत्माओं का संसार में फिर लौटना मानता हो। और इन आचार्यों के मत में प्राचीन ऋषि मुनि भी पुनरावृत्ति को स्वीकार नहीं करते थे। इस प्रकार ऋषि दयानन्द का मत इस विषय में सब से भिन्न है।

यद्यपि मुक्ति की इच्छा सब को है। तथापि मुक्ति क्या वस्तु है इसका लोगों को थोड़ा सा भी ज्ञान नहीं है। आश्चर्य की बात है कि जिस वस्तु को हम चाहते हैं उसको पहचानते नहीं। कल्पना कीजिये कि मैं बाज़ार में मलमल लेने जाता हूँ। मैंने मलमल की बड़ी प्रशंसा सुनी है। मलमल बड़ी अच्छी चीज़ है। मेरे मन में मलमल के लिये बड़ी उत्कण्ठा है। परन्तु मैं नहीं जानता कि मलमल किस जाति से सम्बन्ध रखती है और उसका निज स्वरूप क्या है? ऐसी दशा में यदि मुझे कोई मलमल के स्थान में कबूतर दे देवे तो मैं कैसे पहचानूँगा कि यह मलमल नहीं है। मुक्ति के विषय में भी वही अवस्था है। प्रति वर्ष लाखों पुरुष गंगा में स्नान करने जाते हैं। इनमें अधिकांश की वास्तविक इच्छा यही होती है कि गंगा स्नान से मुक्ति मिलेगी यदि ऐसा न हो तो इतने नर-नारी यात्रा की घोर यातनाओं को सहन करके वहाँ न जावें। परन्तु क्या उनको मालूम है कि मुक्ति क्या वस्तु है जिसकी प्राप्ति के लिये वह इतना कष्ट उठा रहे हैं। वह इतना तो समझते हैं मुक्ति कोई ऐसी वस्तु है जिसका सम्बन्ध परलोक से है और वह मृत्यु के पश्चात् ही मिल सकती है परन्तु यदि उनको पता लग जावे कि जो गंगा में स्नानार्थ प्रवेश करता है उसकी तत्काल ही मुक्ति हो जाती है तो मेरा विचार है कि लाखों में एक मनुष्य भी गंगा स्नान करने न जावे या मार्ग से ही बिना स्नान किये लौट आवे। क्यों? इसलिये कि मुक्ति-विषयक भावना अत्यन्त अनिश्चित और कुहरे के समान है। यही कारण है कि मुक्ति प्रायः चोर बाज़ार की वस्तु रही है। कोई पहचानता तो है ही नहीं कि मुक्ति क्या चीज है। इसलिये भिन्न २ मुक्ति के दुकानदार भिन्न वस्तुओं को मुक्ति के नाम से चला देते हैं। जितना धोखा मुक्ति के विषय में है उतना शायद ही किसी अन्य के विषय में हो।

यह विचारने के लिये कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है या नहीं हम को मुक्ति के वास्तविक स्वरूप को जानना होगा। तभी हम जान सकेंगे कि मुक्ति के पश्चात् हमारा क्या होगा।

कहा जाता है कि मुक्ति वह अन्तिम ध्येय है जिसके लिये मनुष्य को जीवन भर यत्न करना चाहिये। अर्थात् हमारे जीवन यात्रा की अन्तिम मंजिल मुक्ति है। यदि यह ठीक है तो हमको यह भी

देखना होगा कि हम यात्री क्या हैं। यात्री, यात्रा और मंजिल यह तीनों ही तो निश्चित होने चाहिये, यात्रा की मंज़िल यात्री के स्वरूप के ही तो अनुरूप होगी।

मुक्ति का अर्थ है छूटना। इसका उलटा है बन्ध। अतः बन्ध और मोक्ष दोनों एक दूसरे के विपरीत हैं, यों तो मुक्ति या मोक्ष निषेधात्मक शब्द हैं अर्थात् बन्ध न रहने को मुक्ति कहते हैं। परन्तु वास्तव में बन्ध उस अवस्था का नाम है जब स्वतन्त्रता न रहे। इसलिये यह भी देखना होगा कि स्वतन्त्रता के बाधक क्या क्या हेतु हैं।

यह सुनकर पाठकवर्ग को आश्चर्य होगा कि वेदों में मुक्ति या मोक्ष शब्द दृष्टि-गोचर नहीं होता। केवल नीचे के मन्त्र में 'मुच्' धातु के एक लकार का प्रयोग आया है—

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्धनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनान्मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्॥

यहां ईश्वर से प्रार्थना की गई है जिस प्रकार पका फल अपने बन्धन से बिना किसी पीड़ा के छूट पड़ता है इसी प्रकार मैं भी जब इस शरीर रूपी बन्धन से छूटूं तो मुझे किसी प्रकार का क्लेश न हो। और मैं अमृत से न छूटूं।

संभव है कि मुक्ति या मोक्ष का भाव यहीं से लिया गया हो। परन्तु पिछले दार्शनिकों ने मुक्ति के विषय में जो मीमांसा की है वह इस मन्त्र से कुछ अधिक सम्बन्ध नहीं रखती। वेदों में मुक्ति के स्थान में 'परमपद' या इसी प्रकार अन्य शब्द आये हैं। जैसे—

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।

इससे ज्ञात होता है कि ब्रह्म के परमपद को पहुँचना ही जीवन का ध्येय है।

जीवन के ध्येय को समझने के लिये जीव के स्वरूप पर दृष्टि डालनी होगी क्योंकि जीव के स्वरूप पर ही उसके अन्य व्यवहार और व्यापार को आश्रित करना होगा। कोई वस्तु उस कार्य को सम्पादित नहीं कर सकती जिसकी उसके भीतर बीजशक्ति नहीं है। इसी प्रकार जीव उस परमपद की प्राप्ति नहीं कर सकता जो उसके आन्तरिक स्वरूप में बीज रूप से विद्यमान नहीं है। आप आंख की दर्शन-शक्ति को पराकाष्ठा तक ले जा सकते हैं क्योंकि आंख में बीज रूप से दर्शन-शक्ति विद्यमान है। यदि आप दांत को उन्नतशील बना कर उससे देखने का काम लेना चाहें तो दांत को दर्शन-यंत्र नहीं बना सकते। क्योंकि दांत में दर्शन-शक्ति का बीजमात्र भी नहीं है। गेहूँ का बीज सर्वोत्कृष्ट गेहूँ हो सकता है और बबूल का बबूल, अन्यथा नहीं। इसलिये मोक्ष या परमपद के विषय में ऊहापोह करने से पूर्व हम को जीव के स्वरूप की ओर जाना चाहिये।

जिस प्रकार मोक्ष के विषय में अनेकों भ्रम हैं उसी प्रकार जीव के विषय में भी मतैक्य नहीं है। आइये कुछ आचार्यों की विचार धाराओं का अनुसरण करें और देखें कि वे किधर जा रही हैं। सब से पूर्व चारवाक को लीलिये। चारवाक के शास्त्र के प्रथम तीन सूत्र यह हैं:—

१. अथ तत्त्वं व्याख्यास्यामः।
२. पृथिव्यप्तेजो वायुरिति तत्वानि।
३. तेभ्यश्चैतन्यं किण्वादिभ्यो मदशक्तिवत्।

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु इन चार तत्वों के संघात से चेतना उत्पन्न होती है। जैसे जौ आदि के द्वारा शराब में नशा आ जाता है।

चारवाक के समस्त सूत्र उपलब्ध नहीं हैं अतः यह नहीं कहा जा सकता कि जीव की चेतनता उत्पन्न करने के लिये यह चारों तत्व किस प्रकार मिल गये और किस प्रकार अलग किये जा सकते हैं। परन्तु यदि इनके अलग होते ही चेतनता का भी अन्त हो जाता है तो मृत्यु ही निषेधात्मक मुक्ति है। बन्ध का अन्त यहीं हो जाता है। क़ैद का अन्त ही क़ैदी का अन्त है क्योंकि क़ैदी क़ैद से इतर नहीं। यह मुक्ति पशु-पक्षियों को भी अनायास ही उपलब्ध है। इसके लिये किसी प्रयत्न, सदाचार, जप, तप की आवश्यकता नहीं। योगी और भोगी दोनों ही एक से। ऐसी मुक्ति से पुनरावृत्ति के प्रश्न का भी कोई सम्बन्ध नहीं। यह प्रश्न ही असंगत है। जो है ही नहीं वह लौटेगा क्या? चारवाक महोदय इस दार्शनिक नीव पर आचार शास्त्र की भित्ति किस प्रकार स्थापित करते थे यह ज्ञात नहीं, परन्तु इनके दर्शन के अनुसार परमपद कोई वस्तु नहीं। नाश का ही नाम मुक्ति है। जीवन आता है न जाता है। केवल तत्वों के विशेष संघात का नाम जीव रख लिया है। यह संघात एक अर्थ में फिर भी लौटता है क्योंकि एक बार जीवन समाप्त करके तत्वों का जो संघात तितिर बितिर हो गया और तत्व अपने मूल रूप में आ गये वह फिर मिलकर दूसरा जीवन बना देते हैं। शायद चारवाक ऐसा तो नहीं मानते कि जिन तत्वों ने एक बार चेतनता उत्पन्न कर दी वह फिर कभी दूसरी चेतनता उत्पन्न न कर सकेंगे। यह दूसरी बात है कि इस चेतनता को पुरानी चेतनता का कोई ज्ञान हो।

अब बौद्धों को लीजिये। महात्मा बुद्ध ने जीव के अस्तित्व को कहीं पर स्पष्ट रीति से स्वीकार नहीं किया। उन्होंने उच्छेदवाद और शाश्वतवाद दोनो से इनकार किया है। परन्तु नागसेन आदि बौद्ध दार्शनिकों ने 'जीव' की तात्विक सत्ता से खुले रूप से इनकार किया है। बौद्धों की दृष्टि में चैतन्य दीपक की लौ के समान क्षणिक है। और इस लौ का सर्वथा बुझ जाना ही निर्वाण है। जीव की सत्ता को झमेले में डाल कर बौद्धों ने 'निर्वाण' के स्वरूप को भी झमेले में ही छोड़ दिया है। वस्तुतः क्षणिकवाद में न तो मुक्ति को कोई स्थान है न उसके पश्चात् पुनरावृत्ति को। निर्वाण शब्द ही उनकी अनिश्चितता को प्रकट करने के लिये पर्याप्त है। चारवाक मुक्ति के लिये प्रयास नहीं करता। बुद्ध जीवन की आचारता पर अत्यन्त बल देता है। परन्तु मुक्ति के पश्चात् जीव रहता है या नहीं और यदि रहता है तो किस अवस्था में, इसकी कोई दार्शनिक विवेचना नहीं है। वस्तुतः बौद्ध-विचार क्षणिकत्व के गहरे गर्त में डूब जाता है और साधारण जनता के लिये केवल भ्रममूलक ऊटपटांग mythology ही शेष रह जाती है।

भारतीय धार्मिक सम्प्रदायों में सबसे अधिक मान शांकर मत का है। शंकर स्वामी जगत् के मिथ्यात्व और जीव ब्रह्म की एकता के मानने वाले हैं। इनके मत में जीव को कोई विशेष स्थान नहीं। न जीव कभी ब्रह्म से इतर था, न अब है, न कभी रहेगा। जीव का जीवन भ्रम मूलक है। अविद्यावश जीव ने अपने को जीव समझ लिया है। वस्तुतः यह ब्रह्म ही है। जिस दिन यह ज्ञान हो जायगा उसी दिन मुक्ति हो जायगी। अर्थात् जीवत्व की भावना की निवृत्ति और ब्रह्म होने के ज्ञान की उत्पत्ति ही मुक्ति है। मुक्ति के पश्चात् जीव जीव रहता ही नहीं, फिर पुनरावृत्ति का प्रश्न ही नहीं उठ सकता। वस्तुतः देखा जाय तो शांकर वेदान्त की मुक्ति और बौद्ध तथा चारवाकों

की मुक्ति के स्वरूप में कोई भेद नहीं, उनके साधनों में भेद है। बात यह है कि शंकर स्वामी के मन में दो बातें काम कर रही थीं। एक तो वेदों के उद्धार की भावना। दूसरी बौद्ध दर्शन का प्रभाव। उनके गुरु श्री गोविन्दाचार्य और दादागुरु गौड़पादाचार्य दोनों नागार्जुन के माध्यमिक सूत्रों से अत्यन्त प्रभावित थे। युक्तियों में यह दोनों दर्शन अत्यन्त समीप हैं, वही दृष्टान्त, वही विचार शैली। केवल सिद्धान्तों में भेद है। शंकर स्वामी ने अपने सिद्धान्त उन्हीं युक्तियों के आधार पर बनाये और वेद तथा उपनिषदों के वाक्यों का उन्हीं के अनुसार व्याख्यान किया। वैदिक कर्मवाद, वैदिक पुनर्जन्मवाद, वैदिक मुक्ति इनके शून्यवाद के साथ एक विचित्र सम्मिश्रण प्रतीत होता है जो मायावाद के रूप में आविर्भूत हुआ है। शंकर स्वामी के दार्शनिक मत का खण्डन यामुनाचार्य से लेकर निम्बार्काचार्य और उनके शिष्यों द्वारा बलपूर्वक किया गया जिसमें यह दिखाया गया कि शांकरमत में मुक्ति के लिये कोई स्थान ही नहीं है। क्योंकि जो कारण बन्ध के बताये जाते हैं उनकी निवृत्ति होना असम्भव है। शंकर स्वामी का ब्रह्म निर्विशेष चैतन्य है। निर्विशेष चैतन्य का उपाधियों द्वारा आच्छादन किस प्रकार होवे और यदि हो जाय तो उपाधियों की निवृत्ति किस प्रकार हो। माधवमुकुन्द ने "परपक्षगिरिवज्र" में अकाट्य युक्तियों द्वारा इसका प्रतिपादन किया है। परन्तु हम यहाँ इस बात की मीमांसा नहीं कर रहे कि शांकर मत में मुक्ति असंगत है या नहीं। हमारा तो केवल इतना ही प्रयोजन है कि शांकर मत में जीव के व्यक्तित्व का अस्तित्व ही नहीं है केवल भ्रममात्र है। मोक्ष में वह भ्रम भी दूर हो जाता है। अतः न जीव रहा, न मोक्ष, न उससे लौटना। यह भी नहीं कहा जा सकता कि अमुक ऋषि, मुनि या आचार्य की मुक्ति हो गई क्योंकि माया अब भी अपना कार्य कर रही है और अनेकों जीव जो वास्तव में ब्रह्म हैं अपने को जीव मान रहे हैं। दूसरी बात यह है कि यदि उपाधियों का आश्रय अन्तःकरण हैं तो बन्ध और मुक्ति प्रति क्षण होती रहती है और क्षणिक मुक्ति का अर्थ ही पुनरावृत्ति है। परन्तु पुनरावृत्ति का प्रश्न मुख्यतया उनके विषय में उठता है जो जीवों के निज अस्तित्व को स्वीकार करते हैं। यदि जीव अनुत्पन्न और अमर हैं तो प्रश्न यह है कि इन जीवों के बन्ध का क्या कारण है और मोक्ष का क्या साधन है और इस प्रकार प्राप्त किये हुए मोक्ष का स्वरूप क्या है। फिर देखना होगा कि इस मोक्ष से कभी पुनरावृत्ति होगी या नहीं।

यदि जीव को अनुत्पन्न और अमर माना जाय तो प्रश्न यह उठता है कि बन्ध अनादि है या सादि। यदि बन्ध अनादि है तो वह अनन्त भी होगा क्योंकि अभाव (प्रागभाव) को छोड़कर और कोई ऐसी चीज या अवस्था नहीं जिसका आदि न हो अन्त हो। ऐसी दशा में मुक्ति की संभावना भी न रहेगी। यदि बन्ध का आदि है तो उसके कोई कारण होंगे। जीव न तो स्वभाव से बद्ध है न स्वभाव से मुक्त। 'शुद्ध-बुद्ध-मुक्त स्वभाव' शब्द का प्रयोग जीव के लिये भूल से किया जाता है। यह विशेषण तो ब्रह्म ही पर लागू होता है। प्रतीत होता है कि इस शब्द के प्रयोग का चलन नवीन वेदान्तियों से चला है। यदि जीव स्वभाव से शुद्ध स्वभाव से बुद्ध और स्वभाव से मुक्त है तो कोई चीज इसको अशुद्ध, और अमुक्त बना ही नहीं सकती, परन्तु ऐसा मानना वास्तविकता के विरुद्ध है। हम में अशुद्धि, अज्ञान और बद्धता है। हम प्रतिक्षण इस का अनुभव करते हैं। और इससे छूटने का प्रयत्न करते हैं। इस से स्पष्ट है कि हम स्वभावतः मुक्त नहीं हैं। परन्तु यदि यह माना जाय कि हम स्वभाव से बद्ध हैं तो भी

नहीं बनता। क्योंकि अपना स्वभाव किसी को बुरा नहीं लगता और न उस से छूटने की प्रवृत्ति होती है। हम कोशिश उसी वस्तु के लिये करते हैं जिस की प्राप्ति को सम्भव समझते हैं। जीवों की प्रवृत्ति और प्रकृति दोनों से ज्ञात होता है कि बन्ध स्वाभाविक नहीं है। जब बन्ध और मोक्ष दोनों स्वाभाविक न रहे तो नैमित्तिक होंगे और इन के निमित्त कारण पर विचार करना होगा।

ऋषि दयानन्द जीव के वही लक्षण मानते हैं जो गोतम ने न्याय में माने हैं अर्थात् सुख, दु:ख, इच्छा, द्वेष ज्ञान, प्रयत्न। सूत्र में आत्मा शब्द है। परन्तु 'सुख दु:ख' शब्द प्रकट करते हैं कि यहाँ आत्मा से जीव अभिप्रेत है परमात्मा नहीं। कणाद मुनि ने आत्मा के लक्षणों में निमेष उन्मेष आदि का भी परिगणन किया है। परन्तु यह लक्षण बाह्य हैं अन्तरिक नहीं। केवल शरीर से संबन्ध रखने के कारण आत्मा के स्वरूप को नहीं बताते। कुछ क्रियाओं की ओर ही संकेत करते हैं। गोतम मुनि की बताई हुई छ: बातें भी स्वरूप नहीं लिङ्ग मात्र हैं। परन्तु उनसे स्वरूप का ठीक ठीक पता लग जाता है।

आत्मा के दो लिङ्ग बताये गये हैं सुख और दु:ख। परन्तु सुख और दु:ख दोनों एक साथ विद्यमान नहीं रहते। आत्मा जिस क्षण सुखी है उस क्षण दु:खी नहीं और जिस क्षण दु:खी है उस क्षण सुखी नहीं इस से कुछ लोग समझते हैं कि सुख और दु:ख दोनों आत्मा के गुण नहीं। परन्तु यदि यह आत्मा के गुण नहीं तो किस के गुण होंगे? वायु में उष्णता अग्नि से आती है, इसलिये कह सकते हैं कि उष्णता वायु का स्वाभाविक गुण तो नहीं परन्तु नैमित्तिक गुण है। उष्णता अग्नि का स्वाभाविक गुण है और अग्नि से आने के कारण ही वायु का नैमित्तिक गुण हो जाती है। नैमित्तिक गुण वही है जो किसी अन्य निमित्त का स्वाभाविक गुण हो। इसलिये यदि सुख और दु:ख को आत्मा का नैमित्तिक गुण माना जाय तो यह बताना चाहिये कि सुख दु:ख किस निमित्त का स्वाभाविक गुण हैं? जड़ प्रकृति न सुखी है न दु:खी, ब्रह्म में भी दु:ख नहीं फिर दु:ख आत्मा का न स्वाभाविक गुण ठहरता है नैमित्तिक। यह एक ऐसी उलझन है जिस का सुलझाना आवश्यक है।

इस उलझन को सुलझाने में एक बात सहायक होगी। यह ठीक है कि आत्मा या सुखी होगा या दु:खी! परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि आत्मा न सुखी हो न दु:खी! दु:ख जब न होगा तो सुख होगा और सुख जब न होगा तो दु:ख होगा। यह बात यों तो बहुत ही साधारण प्रतीत होती है परन्तु दार्शनिक दृष्टि से महत्व की है। सुख के अभाव का नाम दु:ख और दु:ख के अभाव का नाम सुख नहीं है। जिस वस्तु में दु:ख का सर्वत्र अभाव है जैसे पत्थर, उसको सुखी नहीं कह सकते। इसी प्रकार जिसमें सुख का अभाव है अर्थात् पत्थर, उसे दु:खी नहीं कह सकते। कुछ लोगों का यह आपत्ति हो सकती है कि यदि सुख का अभाव दु:ख और दु:ख का अभाव सुख नहीं तो दोनों एक ही समय एक ही स्थान में क्यों नहीं ठहर सकते। परन्तु यह आपत्ति निराधार हैं। दो शत्रुओं का एक स्थान में अभाव हो सकता है परन्तु युगपत् भाव नहीं। सुख दु:ख उसी प्रकार शत्रु हैं जैसे व्याकरण में आदेश और उसका स्थानी या जैसे पिचकारी में वायु और जल। जब वायु निकलता है तो जल भरता है, जब जल निकलता हैं तो वायु आ जाता है। सुख और दु:ख सापेक्षिक भी नहीं है। यहाँ भी बहुधा समझने में भूल हो जाती है, लोग सुख और दु:ख को सापेक्षिक इसलिये समझ लेते हैं कि वे दु:ख के साधन को दु:ख और सुख के साधन को सुख समझ लेते हैं, जिनको हम सुख के साधन

या दु:ख के साधन कहा करते हैं वह व्यभिचारी साधन हैं। अर्थात् यह सोलह आना सत्य नहीं कि उनसे सुख ही हो या दु:ख ही हो। सुख के साधन किसी किसी को सुखी और किसी किसी को दु:खी भी करते हैं, और दु:ख के साधन भी किसी किसी को सुखी भी करते हैं। अत: सुख और दु:ख की मीमांसा करते समय साधनों पर विचार नहीं करना चाहिये।

हम ऊपर कह चुके हैं कि जब आत्मा को सुख न होगा तो दु:ख अवश्य होगा और जब दु:ख न होगा तो, सुख अवश्य होगा। इसलिए पता चला कि सुख और दु:ख आत्मा के किसी एक ही गुण के दो प्रकारों के नाम हैं। इस गुण को हम भोक्तृत्व कहेंगे। भोक्तृत्व आत्मा का स्वाभाविक गुण है। इससे आत्मा कभी मुक्त नहीं हो सकता। इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति पर सुख होना भी भोक्तृत्व है और अनिष्ट पदार्थों की उपलब्धि पर दु:ख होना भी भोक्तृत्व है। यदि आत्मा में भोक्तृत्व न होता तो उस को न तो सांसारिक पदार्थ कुछ सुख दे सकते न वह मोक्ष सुख की ही इच्छा अथवा प्राप्ति कर सकता।

परन्तु आत्मा में केवल भोक्तृत्व ही नहीं है। इसमें ज्ञान भी है। ज्ञान शब्द के विषय में भी बहुत सा भ्रम है। कुछ लोग समझते हैं कि आत्मा स्वभावत: ज्ञानी है. अज्ञान किसी निमित्त से आ जाता है, परन्तु अज्ञान का अर्थ चाहे ज्ञान का अभाव लो या मिथ्याज्ञान, दोनों बातें स्वभावत: ज्ञानी को नहीं सता सकती। प्रथम तो स्वाभाविक ज्ञानी सर्वज्ञ होगा। क्योंकि किसी को जाने और किसी को न जाने, इसकी व्याख्या किस प्रकार हो सकेगी, दूसरे ज्ञानी के ज्ञान का तिरोभाव हो ही कैसे सकता है? दीपक और दूसरी वस्तुओं के बीच में परदा रख सकते हैं परन्तु दीपक और उसके प्रकाश के बीच परदा कैसे डाला जा सकता है? जो जीव स्वभाव से ज्ञानी है वह अज्ञानी या मिथ्या ज्ञानी हो ही नहीं सकता। अत: हमको स्वीकार करना पड़ता है कि ज्ञान का अर्थ यहां ज्ञात वस्तुओं का भण्डार नहीं अपितु ज्ञातृत्व शक्ति है। यह शक्ति उसको जड़ पदार्थों से अलग करती है। प्रत्येक जीव में ज्ञातृत्व है। ज्ञात वस्तुओं को मात्रा घटती बढ़ती रहती है। हम यत्न करने से प्रतिदिन नई वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करते रहते हैं। शिक्षा का भी यही प्रयोजन है। उपलब्ध ज्ञान का क्षय भी उसी प्रकार होता रहता है जैसे उपलब्ध धन का। मिथ्या ज्ञान की भी उसी प्रकार उपलब्धि होती रहती है जैसे कभी कभी कोष में खोटे रुपये आ जाते हैं। परन्तु ऐसा कभी नहीं होता कि जीव का ज्ञातृत्व नष्ट हो जाय। मेरे विचार से गोतम जी महाराज ने ज्ञान को इसी अर्थ में लिया है।

इस प्रकार जीव के दो गुण ज्ञात हो गये एक भोक्तृत्व, दूसरा ज्ञातृत्व, परन्तु एक तीसरा गुण और है। इसको न्यायदर्शन में प्रयत्न कहा है। प्रयत्न का अर्थ है कार्य्य-शीलता। जड़ पदार्थ अचर है। जीव चर हैं। अचरों में चरत्व भी जीव का दिया हुआ होता है। चैतन्य का मुख्य लक्षण है, उसकी चरता। प्राण, अपान, निमेष, उन्मेष आदि भी जीव के चरत्व के कारण हैं। इसको हम कर्तृत्व कह सकते हैं। इच्छा और द्वेष में कर्तृत्व, ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व का सम्मिश्रण रहता है। इच्छा क्या है? इस का विश्लेषण कीजिये। हम को भान है कि अमुक वस्तु हम को सुख पहुंचा सकती यदि वह हमारे पास होती। इस में ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व दोनों काम कर रहे हैं। यदि हम में केवल ज्ञातृत्व होता और भोक्तृत्व न होता तो उनके लेने की इच्छा भी न होती। जिस वस्तु का ज्ञान है परन्तु जिसके भोगने की भावना नहीं है उसको लेने की इच्छा भी नहीं होती। हम जानते हैं कि सर्प के मुख में विष है। परन्तु जब तक हम उस विष के भोगने की भावना न करें उसकी इच्छा भी न

करेंगे। परन्तु याद रखना चाहिये कि इच्छा में केवल ज्ञातृत्व और भोक्तृत्व ही नहीं हैं उसमें चरःब अर्थात् कर्तृत्व का भी अंश है और पुष्कल अंश है। यह सभी का अनुभव है कि इच्छा होते ही प्राणी यदि भौतिक रूप से नहीं तो मानसिक रूप से तो अवश्य ही दूषित वस्तु तक पहुंच जाता है। यदि इच्छा न हो तो कोई कार्य हो ही नहीं सकता।

अकामस्य क्रिया काचिद् दृश्यते नेह कर्हिचित्।

यद् यद्धि कुरुते किञ्चित् तत् तत् कामस्य चेष्टितम् ॥ (मनु० २।४)

वस्तुतः इच्छा कर्तृत्व का पहला सिरा है। जो बात बात इच्छा के विषय में कही गई वही द्वेष के साथ भी लागू होती है। बात वही है। इच्छा सुख की भावना से आरम्भ होती है और द्वेष दुःख की भावना से। और दोनों भोक्तृत्व से। यदि जीव भोक्ता न होता तो उसमें न इच्छा होती न द्वेष।

इस प्रकार हमने जीव के तीन गुणों का पता लगा लिया अर्थात भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व। परन्तु यहाँ पर एक प्रश्न उत्पन्न होता है। इन में से कौन २ से गुण हैं जो ब्रह्म को जीव से अलग करते हैं ? जीव में ज्ञातृत्व हैं ? ब्रह्म में भी ज्ञातृत्व हैं। जीव में कर्तृत्व है ब्रह्म में भी कर्तृत्व है। शायद आप कहें कि जीव में भोक्तृत्व है। परन्तु ब्रह्म में भोक्तृत्व नहीं क्योंकि वेद भी कहता है:—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति ॥ (ऋ० १।१६४।२०)

अर्थात् जीव तो इस वृक्ष के फल को भोगता है और ब्रह्म नहीं।

परन्तु ब्रह्म को भोक्तृत्व से शून्य कहना ठीक नहीं। वेद मन्त्र में यह नहीं कहा गया कि ब्रह्म में भोक्तृत्व नहीं। वेदमंत्र तो केवल इतना कहता है कि ब्रह्म इस वृक्ष के पिप्पल को नहीं खाता। ब्रह्म तो स्वयं ही आनन्द स्वरूप है। वह अपने ही आनन्द से आनन्दित रहता है।

शायद लोग कहेंगे कि हमने ऐसा कह कर ब्रह्म को भोगी बना दिया। यह तो ब्रह्म का घोर अनादर है। परन्तु याद रखना चाहिये कि हमने भोग शब्द को बाजारू अर्थ में नहीं लिया। साधारण भाषा में तो भोगी विषयी पुरुष को कहते हैं जो सांसारिक विषयों में सुख की तलाश करता है। जो योग के आनन्द को चख रहा है उसको भोगी नहीं कहते। परन्तु यह तो साधारण भाषा का प्रयोग मात्र है। दार्शनिक विचार करते समय तो हम को इस से ऊँचा उठना पड़ेगा ईश्वर का आनन्द न तो उसके कर्तृत्व में आता है न ज्ञातृत्व में। यह तो उसी कक्षा की चीज है जिसकी सुख। हम ऊपर कह चुके हैं कि सुख और सुख के साधनों में भेद है। उपनिषत्कारों ने तो यहां तक कहा है कि जल के पीने से हम को सुख इसीलिये होता है कि हमारी वृत्ति जल से हट कर भीतर की ओर हो जाती है। कुछ विद्वानों ने सुख और आनन्द में यह भेद किया हैं कि सुख में दुःख का सम्मिश्रण रहता है, आनन्द में नहीं। परन्तु सम्मिश्रण का क्या अर्थ है ? सुख और दुःख मिल कैसे सकते हैं ? और उनके मिलने से तीसरी क्या चीज़ उत्पन्न होगी ? यदि कहो कि आनन्द और दुःख से मिलकर सुख बनता है तो भी हमारी ही बात ठीक होगी अर्थात् आनन्द भोक्तृत्व है। सुख और दुःख का उसी प्रकार सम्मिश्रण हो ही नहीं सकता जैसे दूध और शकर मिलते हैं, न उस प्रकार जैसे आक्सीजन और हाइड्रोजन मिलकर जल

बनता है। दुःखमिश्रित सुख का अर्थ केवल यही है कि जो वस्तु हम को इस क्षण सुख देती है वह वस्तु दूसरे क्षण में दुःख देने लगती है। ईश्वर दूसरी वस्तुओं के आश्रय से सुख ग्रहण नहीं करता इसलिये वहां दुःख का प्रसंग भी नहीं उठता। इसलिये ईश्वर को आनन्दस्वरूप भी कहा है और सुखस्वरूप भी। स्वानुभूति ही उसका आनन्द है।

आप कहेंगे कि तुम्हारे इतने कथन ने प्रश्न को और जटिल कर दिया अर्थात् जीव और ब्रह्म में क्या भेद है यदि ज्ञातृत्व, भोक्तृत्व, और कर्त्तत्व तीनों में पाये जाते हैं।

भेद है और बड़ा स्पष्ट भेद है। इसी भेद का सम्बन्ध मुक्ति के प्रश्न से हैं। ब्रह्म को अनन्त और विभु कहा है। जीव सान्त और अणु है। ईश्वर में पूर्ण आनन्द, पूर्ण ज्ञान और पूर्ण कर्तृत्व है, जीव में नहीं। इसलिये मुझे जीव का इससे अच्छा लक्षण नहीं मिला—

जीवो भोक्तृत्व ज्ञातृत्व कर्तृत्ववानणुः।

जीव का अणुत्व ही जीव के बन्ध, जीव के मुमुक्षत्व और जीव के मोक्ष कारण है। ईश्वर नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-स्वभाव होने से न बद्ध है, न मुमुक्षु और न मुक्त। जब हम ईश्वर को मुक्त-स्वभाव कहते हैं तो यहां मुक्त का प्रयोग सापेक्षिक दृष्टि से ही करते हैं। स्वामी दयानन्द ने सत्यार्थ प्रकाश में एक प्रश्न उठाया है कि ईश्वर रागी है या विरक्त। और इस प्रश्न का उन्होंने जो उत्तर दिया है वह यहां भी लागू होता है।

यहां चलते हुये एक बात और स्पष्ट कर दी जाय। प्रायः कहा जाता है कि '**ब्रह्मविद् ब्रह्म एव भवति**' अर्थात् मुक्त अवस्था में जीव भी ब्रह्म हो जाता है। परन्तु उपनिषद् के इस वाक्य का अर्थ 'एव' के स्थान में 'इव' ही करना होगा। वेदान्त दर्शन के एक सूत्र में इस बात को बहुत अच्छी तरह व्यक्त किया है:—

जगद् व्यापारवर्जं प्रकरणादसंनिहितत्वाच्च। वे० सूत्र ४।४।१७

श्री शंकराचार्य जी इसके भाष्य में लिखते हैं:—

जगदुत्पत्त्यादिव्यापारं वर्जयित्वाऽन्यदणिमाद्यात्मकमैश्वर्यं मुक्तानां भवितुमर्हति। जगद् व्यापारस्तु नित्यसिद्धस्यैवेश्वरस्य।

अर्थात् मुक्त जीवों को अन्य शक्तियां तो आ जाती हैं परन्तु वह सृष्टि की उत्पत्ति आदि नहीं कर सकते। न सूर्य्य, चन्द्र बना सकते हैं, न लोक-लोकान्तरों का पालन या संहार कर सकते हैं, यह काम तो नित्य सिद्ध ईश्वर ही करता है। यहां दो बातें स्पष्ट हैं। मुक्ति में जीव ब्रह्म नहीं हो जाता। दूसरा "अहं ब्रह्मास्मि" की अनुभूति मोक्ष का साधन नहीं है।

अब देखना चाहिये कि जिसको मोक्ष या परमपद कहा जाता है वह किस अवस्था का नाम है। जो लोग किसी स्थान विशेष की प्राप्ति को मुक्ति कहते हैं वह तो सर्वथा ही भ्रांत हैं। चाहे चौथा, सातवां, आस्मान हो, चाहे चन्द्र या सूर्य्य लोक या शिला विशेष। परन्तु यदि एक जीव किसी स्थान विशेष में जा सकता है तो सिवाय क़ैद के और अवस्थाओं में वहां से आ क्यों नहीं सकता? यह तो समझ में आ सकता है कि किसी को नरक से बाहर निकलने न दिया जाय क्योंकि नरक बन्दीगृह है। परन्तु स्वर्ग में क़ैद करने का तो कोई प्रयोजन ही नहीं। फिर भी दार्शनिक सिद्धान्त तो यही है

कि जिसका आरम्भ है उसका अन्त भी है। प्रध्वंसाभाव को छोड़ कर अन्य कोई दृष्टान्त ऐसा नहीं है जो इसका खण्डन कर कर सके। अभाव को दृष्टान्त मानने में कई आपत्तियां हैं जो लोग प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव को लेकर उपर्युक्त दार्शनिक सिद्धान्त का खण्डन करते हैं वह भूल करते हैं। इस हेत्वाभास को हम बीज गणित के एक समीकरण से दिखाते हैं:—

कल्पना कीजिये कि—

क्ष=०

∴ १०० क्ष=०

और २ क्ष=०

∴ १०० क्ष=२ क्ष

क्ष का दोनों में भाग दे दीजिये

∴ १००=२

यहां समीकरण के सभी नियम ठीक ठीक लगाये गये हैं। हेत्वाभास का स्थान केवल एक है। वह यह कि क्ष को ० के बराबर मान लिया गया है। अर्थात् 'क्ष' अभाव का नाम है। यदि 'क्ष' भाव का नाम होता तो कभी यह अव्यवस्था उत्पन्न न हो सकती। इसी प्रकार भाव और अभाव समकक्ष न होने के कारण भाव में अभाव का दृष्टान्त काम नहीं करता। एक और बात है जिसकी ओर दार्शनिकों का ध्यान नहीं गया। प्रागभाव को अनादि सान्त और प्रध्वंसाभाव को सादि अनन्त कहने वालों ने यह नहीं सोचा कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव हैं क्या वस्तु और उनका यह नाम क्यों पड़ा। इनके नाम से ही प्रगट होता है कि प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव एक अनित्य (सादि और सान्त) वस्तु के आदि और अन्त के नाम हैं। और उसी की अपेक्षा से रक्खे गये हैं। घट के जन्म से उसका नाम घट का प्रागभाव है और उसके मरण का नाम घट का प्रध्वंसाभाव। यदि इन अनित्य (सादि और सान्त) वस्तुओं को छोड़ दीजिये तो न प्रागभाव ही कुछ ठहरता है और न प्रध्वंसाभाव। इसलिये यदि स्वर्ग का आदि है तो अन्त अवश्य ही मानना पड़ेगा। और पुनरावृत्ति सिद्ध हो जायगी।

परन्तु हम इसको यहीं छोड़कर परमपद के स्वरूप पर विचार करते हैं। हम कह चुके हैं कि जीव में भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व हैं। और जीव अणु है। इसकी अल्पता या अणुता उसको प्रेरित करती है कि वह भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व में उत्कृष्टता उत्पन्न करे। हम यदि प्राणियों की प्रवृत्तियों का निरीक्षण करें तो हमको विदित होगा कि जीव के समस्त व्यापार इन्हीं तीन हेतुओं से होते हैं अर्थात् या तो भोक्तृत्व में उत्कृष्टता हो जाय या ज्ञातृत्व में या कर्तृत्व में या तीनों में। अच्छा विकास वही कहलाता है जिसमें इन तीनों का साम्य और समावेश हो। विषमता प्राय: दोष ही समझी जाती है। ज्ञान शून्य भोग या भोग शून्य कर्म या कर्म शून्य ज्ञान संभव भी नहीं और यदि विषमता अधिक हो तो अनिष्ट भी समझे जाते हैं। कल्पना कीजिये कि एक मनुष्य अधिक ज्ञानी है परन्तु गन्दी वस्तुओं में आनन्द लेता है या महा आलसी है तो उसको विकसित नहीं कह सकते। अनुमान यही होता है कि उसके ज्ञान में कोई दोष है। सच्चा ज्ञान तो वही है जिसमें सच्चा आनन्द और सच्ची कार्य्यशीलता हो। प्राय: लोग अन्ध विश्वास को भक्ति समझते हैं। इसीलिए भक्ति मार्ग, ज्ञानमार्ग और कर्म मार्ग तीन भिन्न २ मार्ग मान लिए गये हैं। भक्त वही समझा जाता है जो तर्क और ज्ञान शून्य हो

और किसी कार्य्य को न करता हो। यह भूल है। यह तीन मार्ग नहीं अपितु काण्ड हैं। अर्थात् सच्चे विकास में तीनों अर्थात् भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व का साम्य है (मुण्डक उपनिषद् कहती है :—

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम्, कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय, निरंजनः परमं साम्यमुपैति ॥

पाठक गण 'परमं साम्यं' पर विचार करें। उपनिषद् कहती है कि परब्रह्म के साक्षात्कार से यह साम्य प्राप्त होता है। इस साम्य को आप मुक्ति भी कह सकते है और 'परमपद' भी। परन्तु इस से भी अधिक ध्यान देने की यह बात है कि इस श्लोक में ब्रह्म के किस किस गुण का साक्षात्कार कहा है—'ब्रह्म-योनिम्' अर्थात् ज्ञान का भण्डार और भ्रम या अविद्या से सर्वथा रहित। 'कर्त्तारम्' अर्थात् 'क्रिया शीलता' का आदि स्रोत और 'रुक्मवर्णम्' शुद्ध, पवित्र, मलीनता आदि दोषों से रहित शुद्ध विमल आनन्द का स्वरूप। जीव को इन्हीं गुणों की तो आवश्यकता है। इन्हीं गुणों का धारण करना परमात्मा का साक्षात्कार है और परमात्मा का साक्षात्कार ही इन गुणों का धारण करना है, सूर्य्य को देखना और सूर्य्य के प्रकाश का आनन्द उठाना एक ही बात है। गायत्री मंत्र में कहा है कि हम ईश्वर को 'धीमहि' या धारण करें। ईश्वर को धारण करने का अर्थ ही ईश्वर के गुणों का धारण करना है। वे गुण क्या हैं? सायुज्य और सानुज्य मुक्ति नहीं अपितु ज्ञातृत्व भोक्तृत्व और कर्तृत्व का शुद्ध और विकसिततम रूप। जब यह प्राप्त हो जायगा और साम्य पराकाष्ठा को पहुँच जायगा तो इसी को परम पद या मोक्ष कहेंगे, जब तक इस साम्य में कमी रहती है मनुष्य कर्मवीर या विद्वान् या सुखी कहला सकता है परन्तु वह मोक्ष से कोसों दूर है। संभव कि वह मोक्ष की यात्रा का यात्री हो।

अब एक और विचार कीजिये। ईश्वर के भोक्तृत्व, कर्तृत्व और ज्ञातृत्व की क्या विशेषता है जिसको जीव को अपने में उत्पन्न करना चाहिये। जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व में क्या त्रुटि है जिस को दूर करने से ईश्वर के गुणों का सामीप्य प्राप्त हो सकता है।

इसकी विवेचना के लिये दार्शनिक बाल की खाल निकालने की आवश्यकता नहीं। केवल प्राणियों के सामान्य व्यापार का निरीक्षण करना है। वास्तविक दर्शन तो यही है कि हम प्राणियों की सामान्य प्रवृत्तियों और प्रगतियों का निरीक्षण कर सकें। तत्व की खोज के लिए संसार से बाहर किसी सागर की खोज व्यर्थ है हमको अपने स्वरूप और ईश्वर के स्वरूप दोनों का दर्शन यहीं होगा। उपनिषद् कहती है :—

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नो अनीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यतीशमन्यं तस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥ (मु० उ० ३०)

अर्थात् जिस संसार रूपी वृक्ष पर तुम बैठे हो उसी पर तुम्हारा प्रभु भी है। वह अन्यत्र नहीं है, यहीं है। दुःख उसी समय तक है जब तक तुम अपने को देखते हो अपने प्रभु को नहीं। यदि तुम को उस प्रभु के भी दर्शन हो गये और तुम ने उसके गुणों को धारण कर लिया फिर तो शोक का नाम नहीं रहेगा। यही तो साम्य है। यही परम पद है।

अच्छा अब एक बार पीछे लौटिये। ईश्वर में भोक्तृत्व है। जीव में भी भोक्तृत्व है, परन्तु ईश्वर

'स्वानुभूति' से आनन्दित है उसे अपने बाहर कहीं से आनन्द उधार नहीं लाना पड़ता। यदि मुक्त जीव में भी यह शक्ति उत्पन्न हो जाय कि मैं अपने भीतर ही आनन्द का अनुभव करने लगूं तो मैं ईश्वर के समीप हो जाता हूँ, और कितना जितना मैं स्वानुभूति में अधिक आनन्द लेता हूँ उतना ही मैं उन लोगों की अपेक्षा उत्कृष्ट हूँ जो अन्य वस्तुओं में आनन्द खोजते हैं। शराबी का शराब में आनन्द तलाश करना और एक विद्वान् का विद्या में आनन्द खोजना। दोनों में क्या भेद है ? पहले की अपेक्षा दूसरे की आनन्द मनाने की रीति विशद है। शास्त्रों में पांच कोश बताये गये हैं। अन्नमय कोश सब से स्थूल है। इस कोश से सम्बन्ध रखने वाले साधन भी स्थूल हैं, उनका सुख भी स्थूल है। जो मनुष्य विज्ञानमय कोष में विचरता है वह अपने आनन्द को विशद बनाता है, ज्ञान से केवल ज्ञान की पिपासा ही नहीं दूर होती अपितु ज्ञान द्वारा आनन्द भी होता है, वह आनन्द स्वादयुक्त भोजन से अधिक विशद है। हमारे विकास की एक कसौटी यह है कि हम को सुख की इच्छा के लिये किस प्रकार के पदार्थों की प्राप्ति की इच्छा होती है।

अब अपनी ज्ञातृत्व शक्ति पर विचार कीजिये। परमात्मा को ज्ञान के लिये चार या आठ प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती, हमको होती है। और ज्यों ज्यों हम को शिक्षा और अभ्यास द्वारा ज्ञान प्राप्ति के साधनों को विशद बनाने की शक्ति आ जाती है त्यों त्यों हमारे प्रमाणों में भी विशदता होती जाती है। भूसे के तोलने की तराजू और स्वर्ण के तोलने की तराजू में भेद है। दोनों को हम प्रत्यक्ष प्रमाण ही कहेंगे परन्तु प्रमेय की सूक्ष्मता के लिये प्रमाण की सूक्ष्मता अनिवार्य है। शिक्षित मनुष्य किसी पुस्तक को पढ़ने में अर्ध शिक्षित की अपेक्षा आंख से कम काम लेता है। इसी प्रकार आप्त पुरुष थोड़े में ही अवलोकन से अधिक ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। और योगी को इन प्रमाणों की संकेत मात्र ही आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार हमारी ज्ञातृत्व शक्ति उत्तरोत्तर उन्नति करती जाती है। इसकी पराकाष्ठा का नाम परमपद है।

कर्तृत्व के विषय में भी इसी प्रकार भेद है। ब्रह्म की अनन्तता और जीव की अणुता ब्रह्म के कर्तृत्व और जीव के कर्तृत्व में भी भेद उत्पन्न कर देती है। आनन्द स्वरूप ब्रह्म क्रिया तो करता है परन्तु अपने आनन्द की वृद्धि के लिये नहीं, न दुःख के कम करने के लिये। इसी को वेदान्त में **'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्'** कहा है। इसका यह अर्थ नहीं कि ब्रह्म का कार्य निष्प्रयोजन है, प्रयोजन तो है परन्तु अपना प्रयोजन नहीं। ईश्वर जो कुछ करता है जीव की उन्नति के लिये, परन्तु मनुष्य या अन्य प्राणी जो कुछ करते हैं वह अपने सुख के बढ़ाने या दु;ख के कम करने के लिये। उनकी मुख्य प्रवृत्ति दुःख सुख से सम्बन्ध रखती है अपनी उन्नति से भी नहीं। शराबी समझता है कि शराब से उसे सुख मिलेगा या दुःख कम हो जायगा उसे यह भी परवाह नहीं कि मेरी उन्नति अर्थात् विकास के लिये शराब साधक हैं या बाधक। इस प्रकार अविकसित जीव की क्रिया स्वसुख अथवा स्वदुख के ही सम्बन्धित होती है स्व-उन्नति से भी नहीं, पर-उन्नति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। परन्तु शिक्षित की प्रवृत्ति अपने सुख दुःख से उठकर स्व-विकास की ओर झुकने लगती हैं। और स्वविकास से पर-विकास की ओर। जीव के कर्तृत्व की उन्नति की यही कसौटी है, इसका यह अर्थ नहीं कि जीव को सुख की आवश्यकता नहीं। सुख की इच्छा उन्नति का हेतु नहीं, परन्तु उन्नति से सुख मिलेगा ही। रिमेका के प्रसिद्धअ कवि लांगफैलो ने ठीक कहा है :—

नॉट इंजोयमैंट एण्ड नॉट सौरो।
इज़् अवर डैस्टिण्ड एण्ड और वे।
बट् टू ऐक्ट दैट् ईच टू मौरो।
फाइण्ड्स अस बैटर दैन टू डे।

अर्थात् हमारे जीवन का अन्तिम ध्येय सुख या दुःख का भोग नहीं है अपितु वह कर्तृत्व है जिसके द्वारा आगे आने वाला दिन गत दिवस की अपेक्षा हम को अधिक उन्नतिशील पा सके।

यह उन्नति या विकास क्या है? न तो दुःख का नाश न सुख की प्राप्ति। अपितु 'परमं साम्यम्' अर्थात् समन्वित विकास। यह बात नहीं कि इस विकास से सुख की प्राप्ति या दुःख का नाश नहीं होता। होता है, अवश्य होता है। परन्तु भेद दृष्टिकोण का है। कोई जीने के लिये खाते हैं, कोई खाने के लिये जीते हैं 'जीना और खाना दोनों में समान हैं। परन्तु भेद मनोवृत्ति का है। जो जीने के लिए खाता है वह जीता भी अधिक है और खाता भी अधिक है क्योंकि न जियेगा तो खायगा ही क्या? परन्तु जो खाने के लिये जीता है वह स्वास्थ्य को बिगाड़ कर खाने के आनन्द से भी वंचित रह जाता है। इसी प्रकार जो पर-उन्नति में तत्पर है उसकी स्व-उन्नति भी होती है और उसको सुख भी प्राप्त होता है। इसलिये पर-उन्नति में तत्पर रहना और निष्काम कर्म करना ही मोक्ष का साधन बताया है, यजुर्वेद में कहा है:—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतँ समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे। (यजु० ४०।२)

अर्थात् मनुष्य को कर्म करते ही सौ वर्ष जीने की इच्छा करनी चाहिये। इसी प्रकार वह कर्म में लिप्त नहीं होगा। परोपकार के कर्म बन्धन नहीं हैं, स्वार्थ के कर्म बन्धन हैं। अतः निष्काम कर्म ही मोक्ष के साधन हैं। निष्क्रिय होना मोक्ष का साधन नहीं। क्रियाहीन पुरुष सर्वथा क्रिया हीन तो रह नहीं सकता क्योंकि कर्तृत्व उसका स्वाभाविक गुण है। परन्तु वह कर्म के बन्धन में जकड़ जाता है। स्वार्थ उसको सताने लगता है। उसकी उन्नति रुक जाती है और वह दुःखी हो जाता है। यह बात नहीं है कि परोपकारी को सुख की प्राप्ति न हो, परोपकारी और निष्काम कार्य्य करने वाले से अधिक आनन्द तो किसी को होता ही नहीं। यह तो अक्षय आनन्द है। परन्तु वह सुख की खोज नहीं करता। तण्डुल के खोजी को भूसी तो मिल ही जाती है। कोई भूसी के लिए खेती नहीं करता। परोपकारी का कर्तृत्व ईश्वर के कर्तृत्व के सदृशतम होता है। उपासक वही है जो ईश्वर के निकट बैठा हो। यही उपासना है यही ईश्वर को धारण करना है। निष्काम कर्म मनुष्य को ईश्वर के सदृश बना देता है। जो मनुष्य जितना परोपकारी और निस्स्वार्थ है, उतना ही मुक्ति के निकट हैं, उतना ही सदाचारी है। और जब भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व पराकाष्ठा को पहुंच जाते हैं तो जीव मुक्त हो जाता है। यही उसका परमपद है। यह पद प्राप्त होते ही—

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुंडक ३०)

अद्भुत ज्ञान, अद्भुत आनन्द और अद्भुत कर्म परायणता प्राप्त हो जाती है।

अब हम अपने मौलिक प्रश्न की ओर आते हैं। इस प्रकार जिसको परम पद की प्राप्ति हो गई अर्थात् जिसने भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व और कर्तृत्व के साम्य की पराकाष्ठा को प्राप्त कर लिया क्या वह जीव फिर लौट कर संसार के बन्धन में आता है?

हमारा उत्तर यह है कि वह संसार के बन्धन में तो नहीं आता परन्तु संसार में आता है। शरीर धारण करता है और उस शरीर के द्वारा अन्य बद्ध जीवों को अपना विकास करने में साधक होता है पथिक के रूप में नहीं अपितु पथप्रदर्शक के रूप में। यदि ऐसा न हो तो जीव का एक गुण अर्थात् कर्तृत्व तो निष्फल ही हो जाय। वह मुक्ति क्या जिसमें एक गुण नष्ट हो जाय। तिपाई के तीन पावों में से एक पावा तो टूट ही गया। यह उन्नति तो न हुई अवनति ही हुई। यदि कोई पुरुष कान की सुनने की शक्ति को बढ़ाने के लिये आंख फोड़ ले तो उसे बुद्धिमान कौन कहेगा? लोगों ने समझ रखा है कि जीव केवल भोग का एक बण्डल है। ज्यों ही सुख की प्राप्ति हो गई उसकी यात्रा समाप्त हो गई। वह उन्नति के शिखर पर बैठा है, परम आनन्द भोग रहा है, उसको किसी की परवाह नहीं। ऐसे ही लोगों ने स्वर्ग में केवल भोग्य पदार्थों की ही कल्पना की है। वहाँ प्रत्येक वस्तु अनायास मिलती है और बिना मूल्य के यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी चाहे उनको 'हूर' कहिये चाहे गोमिका बात वही है। ऐसे ही लोगों के लिए तो एक उर्दू कवि ने कह ही डाला—

> ज़ाहिद को कौन कहता वह हक़ परस्त है।
> हूरों पै मर रहा है वह शहवत परस्त है॥

जो इसलिये मुक्ति चाहते हैं कि शराब पीने को मिले, आनन्द हो चाहे नशा न भी हो। स्त्रियां भोग को मिलें और गृहस्थ या सन्तान का झंझट न रहे। जब इच्छा हो सिद्रा और तूबा के वृक्षों की शाखायें झुक कर अपने मीठे फलों को हमारे मुंह तक पहुंचा देवें अथवा कामधेनु गाय हर समय हमारा मुंह मीठा करती रहे और हम को उसके चारा घास की भी चिन्ता न हो। ऐसे पुरुष अपनी ऐसी भावना मात्र से अपने को मुक्ति के अयोग्य सिद्ध कर देते हैं। जिनको साधारण मुमुक्षुत्व भी प्राप्त नहीं हुआ अपितु सदाचार के सामान्य तल से भी गिरे हुए हैं वह उन्नति से बहुत दूर हैं। जिसको आनन्द के भोग में दूसरों की परवाह नहीं रही वह उन्नति के शिखर पर है ही नहीं' उस ने भूल से अपने को ऐसा समझ रक्खा है। वह तो पौराणिक त्रिशंकु के समान बीच में लटक रहा है। स्वामी दयानन्द जी महाराज ने सत्यार्थ प्रकाश में कहा है:—

"जो तुमसे कोई पूछे कि आंख के होने में क्या प्रयोजन है? तुम यही कहोगे, देखना। तो जो ईश्वर में जगत् की रचना करने का विज्ञान, बल और क्रिया है उसका क्या प्रयोजन बिना जगत् की उत्पत्ति करने के" (समु० ८)

हम भी महर्षि की युक्ति का अनुसरण करके कहते हैं कि "जीव में जो उसका गुण कर्तृत्व है उसका क्या प्रयोजन यदि उस से परोपकार करने के लिये मुक्ति के पीछे लौटे न?" यह ठीक है कि बद्ध अवस्था में वह कर्म करता रहा। परन्तु बद्ध अवस्था के कर्म तो स्वार्थमय और ईश्वर के कर्मों से विपरीत थे। पूर्ण निष्कामतया परोपकार की योग्यता तो अभी प्राप्त हुई है। जो मनुष्य कौड़ी कौड़ी

जोड़ने की दशा में तो दान करता था परन्तु परमकोष का स्वामी होकर दान को भूल जाय उसको तो प्रशंसा की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता। यदि मुक्ति में पहुंच कर कोई जीव ऐसा है जो सोचता है अब तो परम आनन्द के भण्डार के ऊपर बैठे हैं, हम को किसी की क्या पड़ी, तो ऐसे स्वार्थी को स्वार्थ के अपराध में ही मुक्ति से निकाल कर नीचे फेंक देना चाहिये। वह उस संसार में रहने के योग्य है जहां प्रत्येक जीव आपाधापी में लगा हुआ है। मोक्ष जैसी सर्वोत्कृष्ट अवस्था तो और ही प्रकार की होनी चाहिये। स्वामी दयानन्द ने मुक्ति से पुनरावृत्ति के पक्ष में कई युक्तियाँ दी हैं। ये युक्तियां पूर्वपक्षियों की भावनाओं के अनुरूप दी गई हैं। जैसे:—

(१) 'जीव का सामर्थ्य शरीरादि पदार्थ और साधन परिमित हैं पुनः उसका फल अनन्त कैसे हो सकता है?'

यह मुक्ति कर्म-शास्त्र से सम्बन्ध रखती है। जो जैसा करेगा वह वैसा पायेगा। फल कर्म के अनुसार होना चाहिये। यदि कर्म सान्त है तो फल अनन्त कैसा? कुछ लोग कह सकते हैं कि मुक्ति ज्ञान से होती है, कर्म से नहीं। परन्तु यह भूल है। ज्ञान भी तो बिना कर्म के नहीं हो सकता। इसकी विवेचना 'कर्तृत्व' के साथ की जा चुकी है।

(२) 'अनन्त आनन्द को भोगने का असीम सामर्थ्य, कर्म और साधन जीवों में नहीं, इसलिये अनन्त सुख नहीं भोग सकते।'

आनन्द के भोग के लिये भी पात्रता चाहिये। गङ्गा में जल बहुत है परन्तु आप तो उतना ही ला सकते हैं जितना आपके पात्र में समा सकता है। ईश्वर तो अनन्त आनन्द का भण्डार है परन्तु जीव में यह सामर्थ्य नहीं।

(३) "जिन के साधन अनित्य हैं उनका फल नित्य कभी नहीं हो सकता"

जो चीज़ साधनों द्वारा प्राप्त की जाती है वह नैमित्तिक होती है। नैमित्तिक वस्तु का आश्रय निमित्त के ऊपर रहता है। अतः नैमित्तिक वस्तु नित्य हो ही नहीं सकती। यह तो स्पष्ट दार्शनिक सिद्धान्त है।

(४) 'जो मुक्ति में से कोई भी लौटकर जीव इस संसार में न आवे तो संसार का उच्छेद अर्थात् जीव निश्शेष हो जाने चाहियें'

परन्तु यह बात ऐतिह्य प्रमाण के विरुद्ध है। यह सृष्टि का प्रवाह अनन्त काल से चला आता है। इस समय भी पशु पक्षी कीट पतङ्ग आदि अनन्त जीव विद्यमान हैं। फिर यह कल्पना कैसे करली जाय कि जीवों का एक दिन अवश्य अन्त हो जायगा। और परमात्मा के कर्तृत्व गुण के सफल करने के लिये किसी सृष्टि-निर्माण की अवश्यकता रहेगी ही नहीं। न यह कहा जा सकता है कि अनन्त काल से अबतक किसी को मुक्ति नहीं मिली, यदि मुक्ति एक प्राप्य वस्तु है तो बहुतों को प्राप्त हुई होगी।

(५) यदि यह प्रश्न किया जाय कि **"जितने जीव मुक्त होते हैं उतने ईश्वर नये उत्पन्न करके संसार में रख देता है इसलिये निश्शेष नहीं होते" तो इसका उत्तर यह है कि 'जो ऐसा होवे तो जीव अनित्य हो जायें क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है उसका नाश अवश्य होता है, फिर तुम्हारे मतानुसार मुक्ति पाकर भी विनष्ट होजायें, मुक्ति अनित्य होगई।"**

यह युक्ति इतनी स्पष्ट है कि मीमांसा की अवश्यकता नहीं।

(६) 'मुक्ति के स्थान में बहुत सा भीड़ भड़क्का हो जायगा।'

इस युक्ति के सुनने से हंसी अवश्य आती है। परन्तु इस में उत्तर का दोष नहीं। पूर्वपक्ष का दोष है। क्योंकि बहुत से लोग मुक्ति को स्थान विशेष से संबन्धित करते हैं। जहाँ स्थान है वहाँ स्थान की सीमा भी है। सीमा है तो अन्त हैं। और अन्त है तो भीड़ भड़क्का हुआ ही'

(७) "दुःख के अनुभव के विना सुख कुछ भी नहीं होसकता।"

जो जीव सदा मुक्ति के स्थान में रहेंगे वह नित्य सुख भोगते भोगते दुःख को सर्वथा भूल ही जायेंगे। फिर उनको सुख के मूल्य का भी भाव नहीं रहेगा।

(८) "जो ईश्वर अन्तवाले कर्मों का अनन्त फल देवे तो उसका न्याय नष्ट हो जाय"

यह भी कर्म का सिद्धान्त है जैसी शंका नं० १। भेद केवल इतना है कि नं० १ में नियम का उल्लेख है और नं० ८ में नियन्ता का। सिद्धान्त सर्वतंत्र ही है।

(९) अल्पज्ञ अल्प सामर्थ्य वाले जीव पर अनन्त सुख का भार धरना ईश्वर के लिये ठीक नहीं"।

यहां दो शब्द दिये हैं। पहला 'अल्पज्ञ' जो जीव के ज्ञातृत्व की सीमा बताता है। दूसरा 'अल्प सामर्थ्य, जो जीव के कर्तृत्व की सीमा का बोधक हैं। जब दो गुण सीमित हुये तो तीसरा 'आनन्द' कैसे असीम और अनन्त हो सकता है ? फिर तो 'साम्य' न रहकर विषमता आ जायगी।

कुछ लोग शायद कहें कि सुख के भोगने में सामर्थ्य का क्या प्रश्न ? परन्तु जिस प्रकार दुःख असह्य होसकता है उसी प्रकार सुख भी असह्य होसकता है। सुखी मनुष्य के आपे से बाहर हो जाने की अधिक संभावना है। अनन्त आनन्द को परमात्मा ही पचा सकता है जीव नहीं। हम संसार में नित्य देखते हैं कि वैभव अथवा उच्चपद को पचाने वाले बहुत कम हैं।

(१०) "जो परमेश्वर नये जीव उत्पन्न करता है तो जिस कारण से उत्पन्न होते हैं वह चुक जायगा"।

ईश्वर तो उत्पादक ही होगा उपादान तो दूसरा ही होगा। यदि उपादान प्राकृतिक नहीं तो वह उपादान ही नहीं। विना उपादान के उत्पत्ति कैसी ? यदि प्राकृतिक उपादान मानो तो दो प्रश्न उत्पन्न होंगे। क्या ईश्वर अब तक जो जीव हैं उनके बनाने में समस्त उपादान व्यय कर चुका या कुछ शेष है ? यदि समाप्त कर चुका तो नये जीवों के लिये उपादान कहाँ से आयेगा ? यदि कुछ शेष है तो शेष उपादान इतने दिनों निष्फल पड़ा रहा। यह क्यों ? उस उपादान का प्रयोजन ही क्या जो अनन्तकाल से व्यर्थ ही शेष पड़ा हुआ है ?

(११) "जब वहां से आना ही न हो तो जन्मकारागार से इतना ही अन्तर है कि वहां मजूरी नहीं करनी पड़ती।"

यह उत्तर उन लोगों के लिये है जिनकी दृष्टि जीव के भोक्तृत्व पर है। कर्तृत्व को सर्वथा भुलाये हुए हैं। यतः पूर्व पक्ष सर्वथा लौकिक था अतः उत्तर भी उसी प्रकार का दिया गया। लोक में

देखा जाता है कि जो सुख जबरदस्ती दिया जाय वह दुःख हो जाता है। बच्चे मिठाई पसन्द करते हैं। परन्तु यदि उनको कहा जाय कि मिठाई खानी ही पड़ेगी अन्यथा दण्ड मिलेगा तो वह मिठाई मज़ेदार नहीं रहेगी। कामी पुरुष काम की तृप्ति को अच्छा समझता है। परन्तु यदि उससे कहा जाय कि तुम को काम की तृप्ति जबरदस्ती करनी पड़ेगी न करोगे तो १०० कोड़े लगेंगे। तो वह कामी पुरुष भी सुख के स्थान में दुःख का अनुभव करेगा।

(१२) **"ब्रह्म में लय होना समुद्र में डूब मरना है।"**

यह तो स्पष्ट ही है। 'लय' एक एक प्रसिद्ध शब्द है परन्तु उसका अर्थ बहुत कम लोग समझते हैं। एक वस्तु दूसरी वस्तु में कैसे लय होती है। यदि 'लय' का अर्थ 'उपचय' है तो जीव ब्रह्म में लय हो ही नहीं सकता क्योंकि ब्रह्म में 'उपचय' का क्या अर्थ? यदि 'जीव' अपना अस्तित्व खो देता है तो 'डूब मरने के समान' हुआ ही। ऋषि ने यहां यह नहीं कहा कि जैसे नदियां समुद्र में लय होती हैं क्योंकि वहां तो उपचय स्पष्ट ही है। जो जल नदियों का समुद्र में गिरता है वह नष्ट नहीं होता केवल स्थान परिवर्त्तन करता है। परन्तु यदि कोई मनुष्य समुद्र में जाकर डूब जाता है तो वह अवश्य नष्ट हो जाता है। मुक्ति नाश का नाम नहीं। नाश या लय को न तो 'परमधाम' कह सकते हैं न 'आनन्दधाम'।

(१३) अब यह प्रश्न करते हैं कि जब मुक्ति जन्म मरण के सदृश है तो इसके लिये श्रम करना व्यर्थ है, इसका उत्तर ऋषि दयानन्द ने यह दिया है कि प्रथम तो **"मुक्ति जन्म मरण के सदृश नहीं"** मरण दुःख है और जन्म भी दुःख। मुक्त पुरुष न तो मुक्ति के होने पर दुःखी होता है न पुनरावृत्ति के समय। शरीर धारण करने और शरीर त्यागने के नाम दुःख नहीं। शरीर को बलात् छोड़ने और बलात् आरम्भ करने से दुःख होता है। नये कपड़े पहनने और पुराने कपड़े उतारने में किसी को दुःख नहीं होता। परन्तु जो क़ैदी है उसको नये पहनने और पुराने उतारने दोनों में दुःख होता है क्योंकि वह दोनों बातें उसकी दुःखमयी अवस्था से सम्बद्ध हैं। जिसको तत्वज्ञान हो गया उसको शरीर का होना या न होना या बदलना कैसे दुःख देगा? वहां तो दृष्टि कर्त्तव्य की ओर है। और आनन्द के भाव और अभाव की भावना भी उसी दृष्टि से है। यह ठीक है कि शरीर धारण करने का नाम जन्म है और शरीर परित्याग का मरण। परन्तु जन्म मरण के साथ दुःख का सम्बन्ध लौकिक साधारण जन्म मरण की अपेक्षा से है। संसार में लिप्त पुरुष के जन्म मरण दुःख के हेतु होते ही हैं सांसारिक ज्ञानी पुरुषों को अज्ञानियों की अपेक्षा कम दुःख होता है और परम योगियों को अत्यन्त कम। फिर मुक्त पुरुषों को तो दुःख होना ही न चाहिये। हम सब संसारी भी यही कामना किया करते हैं कि हमारा अन्त शान्तिमय हो क्योंकि अन्त तो अवश्यम्भावी है। फिर मुक्ति तो बड़ी उत्कृष्ट अवस्था है। जब कुत्ते की मौत और योगी की मौत में भेद है और योगी की मौत सब मरना चाहते हैं, कुत्ते की मौत कोई मरना नहीं चाहता तो मुक्ति को साधारण मृत्यु के और पुनरावृत्ति को साधारण जन्म के सदृस मानना भूल ही तो है। रहा श्रम का प्रश्न। उसके लिये स्वामी दयानन्द कहते हैं कि—

"जब क्षुधा, तृषा, क्षुद्र धन, राज्य, प्रतिष्ठा, स्त्री सन्तान आदि के लिये उपाय करना आवश्यक है तो मुक्ति के लिये क्यों न करना?"

इस प्रकार ऋषिवर ने तर्क का उत्तर तर्क से, मनोविज्ञान का मनोविज्ञान से, विनोद का विनोद से, भावुकता का भावुकता से और लौकिक स्वार्थ दृष्टि का लौकिक स्वार्थ दृष्टि से देकर यह सिद्ध कर दिया है कि मुक्ति से पुनरावृत्ति होती है।

वस्तुतः यदि मुक्ति अनन्तकाल के लिये हो तो मुक्त जीवात्मा परमात्मा के नियन्त्रण से ही बाहर हो जावें। परमात्मा का जीवों पर एक ही नियन्त्रण है अर्थात् कर्मों का फल देना। यदि कर्म बन्द हो गये तो उनका फल भी बन्द होगा ही। फिर जीव ईश्वर के आश्रित ही न रहेंगे। वह ऐसी अवस्था में पहुँच जायँगे जहां से ईश्वर भी उनको हटा नहीं सकता।

अब हम थोड़ा सा शब्द प्रमाण के विषय में विचार करेंगे। पुनरावृत्ति के पक्ष में स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद का नीचे लिखा मंत्र दिया है:—

कस्य नूनं कतमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। को नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च।

अग्नेर्वयं प्रथमस्यामृतानां मनामहे चारु देवस्य नाम। स नो मह्या अदितये पुनर्दात् पितरं च दृशेयं मातरं च॥ ऋ० १।२४।१,२

प्रश्न—हम लोग किसका नाम पवित्र जानें? कौन नाशरहित पदार्थों के मध्य में वर्तमान देव सदा प्रकाशस्वरूप है हम को मुक्ति सुख का भोग कराकर पुनः इस संसार में जन्म देता और माता तथा पिता का दर्शन कराता है॥१॥

उत्तर—हम इस स्वप्रकाश स्वरूप अनादि सदा मुक्त परमात्मा का नाम पवित्र जानें जो हमको मुक्ति में आनन्द भोग करा कर पृथिवी में पुनः माता पिता के सम्बन्ध में जन्म देकर माता पिता का दर्शन कराता है। वही परमात्मा मुक्ति की व्यवस्था करता सब का स्वामी है॥२॥

यद्यपि सायणाचार्य ने इन मन्त्रों को शुनः शेप की पौराणिक गाथा से सम्बन्धित किया है और वैदिक शब्दों के यौगिक होने, वेदों में इतिहास न होने, और वेद मन्त्रों में 'शुनः शेप' की पौराणिक कथा का कुछ भी संकेत न होने के कारण यह माननीय नहीं हो सकता तथापि सायण के निम्न शब्द प्रकट करते हैं कि स्वामी दयानन्दकृत अर्थ असंगत नहीं हैं।

"को देवो नः अस्मान् मां मुमूर्षुं पुनरपि मह्यै महत्यै अदितये पृथिव्यै दात् दद्यात् तेन दानेनाहममृतः सन् पितरं च मातरं च दृशेयं पश्येय" मिति।

यहां "पुनरपि" और "अमृतः सन्" शब्द विशेष विचार के योग्य हैं। यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि सायणाचार्य पुनरावृत्ति के पक्ष में हैं तथापि 'अमृत हो जाने के पश्चात् माता और पिता को देखना कैसे हो सकता यदि पुनरावृत्ति न होती। सायणाचार्य के समय में दो बातें प्रसिद्ध थीं एक तो शुनः शेप की पौराणिक गाथा, दूसरे मुक्ति से न लौटने का सिद्धान्त। सायणभाष्य में वाक्य-विपर्यय इसी धारणा के कारण हुआ है। वेद में कोई ऐसा मंत्र नहीं है जो पुनरावृत्ति का खण्डन करता हो।

स्वामी दयानन्द जी ने दूसरा प्रमाण सांख्य दर्शन का दिया है:—

इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः। (सांख्य १।१५९)

"अत्यन्त विच्छेद बन्ध मुक्ति का कभी होता।"

न्याय दर्शन का सूत्र—

'तदत्यन्तविमोक्षोपवर्ग' (१।१।२२)

पुनरावृत्ति का खण्डन नहीं करता। यहाँ तो दुःख के अत्यन्ताभाव का ही उल्लेख है। हम भी मानते हैं कि मुक्ति में दुःख का लेश मात्र भी नहीं होता। परन्तु इससे पुनरावृत्ति तो असिद्ध नहीं ठहरती।

वेदान्त दर्शन का अन्तिम सूत्र "अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्" बहुधा भ्रम उत्पन्न करने का कारण हुआ है। लोक समझते हैं कि "नहीं लौटता नहीं लौटता" दोबार इसीलिए कहा कि लौलने का कोई भी प्रसंग न रहे। परन्तु यह भूल है। यह दर्शनों की शैली है कि अध्याय या पाद के अन्तिम सूत्र को दुहराते ही हैं। यह विषय के प्राबल्य का सूचक नहीं अपितु अध्याय या पाद की समाप्ति का सूचक है। परन्तु यही वाक्य छान्दोग्य उपनिषद् के अन्त में आते हैं;—

"आत्मनि सर्वेन्द्रियाणि सम्प्रतिष्ठाप्याहिꣳ सन्त्सर्व्वभूतान्यन्यत्र तीर्थेभ्यः स खल्वेवं वर्तयन् यावदायुषं ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते न च पुनरावर्त्तते न च पुनरावर्त्तते।"

यहां "यावदायुषं" पद 'वर्तयन्' के पश्चात् और "ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते के पहले पड़ा है। यहां सर्वदा आदि शब्द नहीं है। 'यावदायुषं' यदि 'वर्त्तयन्' के पूर्व होता तो 'इस जीवन पर्यन्त' ऐसा अर्थ होता 'वर्तयन्' के पीछे होने से इसका अर्थ यह होना चाहिये "मियाद रहने तक" (यावदवधि)। श्री शंकराचार्य जी ने ऐसा अर्थ किया है—

"यावद् ब्रह्मलोकस्थितिस्तावत् तत्रैव तिष्ठति" इत्यादि।

यहां मोक्ष के लिये "ब्रह्म लोक" शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात् जब तक मोक्ष की अवधि है तब तक। ब्रह्म लोक स्थान विशेष का नाम नहीं हैं। और यदि होता भी तो भी 'यावत्' शब्द उसकी स्थिति की अवधि का ही सूचक होता। 'यावत्' कहने मात्र से 'शाश्वत' का खण्डन हो जाता है। यह अवधि छान्दोग्य में अन्यत्र दी हुई है:—

"इयं मानवमावर्त्तं नावर्तन्ते।" (छान्दोग्य ४।१५।६)

शङ्कराचार्य ने यह वाक्य वेदान्त दर्शन के अन्तिम सूत्र के भाष्य में उद्धृत किया है। और अपने छान्दोग्योपनिषत् के भाष्य में इस प्रकार व्याख्या की है:—

इमं मानवं मनु सम्बन्धिनं मनोः सृष्टिलक्षणमावर्त्तं नावर्तन्ते।"

इसको आनन्दगिरि ने अधिक स्पष्ट कर दिया है:—

"कल्पान्तरे त्वावृत्तिरिति सूच्यते।"

अर्थात् यह न लौटना केवल कल्प भर के लिए हैं। अन्य कल्प में तो लौटना होगा ही।

छान्दोग्य के यह दो स्थल और वेदान्त का अन्तिम सूत्र यह तीनों एक ही प्रसंग के विषय में नहीं हो ऐसा तो कोई हेतु नहीं है। यह तो शंकर आदि सभी आचार्य मानते हैं कि स्वर्ग से लौटना होता है। स्वर्ग और मोक्ष में क्या अन्तर है इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यों तो साधारण सुख

को भी स्वर्ग कहा है और इस प्रकार तो मोक्ष पद का भी प्रयोग अन्य प्रकार के छुटकारों के लिये होता है। परन्तु पारलौकिक अर्थ में स्वर्ग और मोक्ष में भेद नहीं होना चाहिये। शायद लोगों ने स्वर्ग को स्थान विशेष मान कर ही उससे मोक्ष की भिन्नता कल्पित की है। यदि स्वर्ग का अर्थ न मोक्ष माना जाय न साधारण लौकिक सुख तो प्रश्न होगा कि स्वर्ग क्या है? स्थान विशेष तो हो नहीं सकता। इसके विषय में पहले लिखा जा चुका है। योनि विशेष भी नहीं हो सकता क्योंकि योनि प्राकृतिक होगी। यदि अवस्था विशेष है तो जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, मुमुक्षत्व, जीवन्मुक्ति और मोक्ष में से कौन सी अवस्था होगी। इसलिए मानना पड़ेगा कि पारलौकिक अर्थ में मोक्ष और स्वर्ग में भेद नहीं और स्वर्ग से पुनरावृत्ति मोक्ष से ही पुनरावृत्ति है।

"तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयते एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते"

इसका सीधा अर्थ तो यही है कि जैसे साधारण कर्मों द्वारा प्राप्त की हुई अवस्था की सीमा है उसी प्रकार 'पुण्य' (अर्थात् धार्मिक जीवन) के द्वारा प्राप्त की हुई मोक्ष अवस्था का भी अवश्य ही अन्त होना है। 'इह' और 'अमुत्र' दो शब्द प्रकट करते हैं 'पुण्यचित्' लोक मोक्ष ही है। 'अमुत्र' का अर्थ पुनर्जन्म का वह भाग जिसके कारण जन्म हुआ पुण्यचित् नहीं अपितु पापचित् ही है। शुद्ध पुण्यचित् तो मोक्ष ही है। छान्दोग्य उपनिषत् के पहले अध्याय के आठवें खण्ड का निम्न भाग विचारणीय है—

"अमुष्य लोकस्य का गतिरित्ययं लोकः।"

अर्थात् परलोक के पीछे क्या होगा? उत्तर दिया कि 'यह लोक'। इस पर प्रश्नकर्त्ता फिर पूछता है कि इस लोक के पश्चात् क्या होगा? इस पर उत्तर देने वाला झिड़क देता है कि इस प्रकार तो प्रश्नों का अन्त ही कभी नहीं होगा। इस प्रकार हमारा विचार है कि स्वर्ग से पुनरावृत्ति जो सर्व-सम्मानित सिद्धान्त है मोक्ष से ही पुनरावृत्ति है। स्वामी दयानन्द जी ने मोक्ष की अवधि बताते हुये मुण्डकोपनिषत् का यह वचन दिया है—

ते ब्रह्मलोके ह परान्तकाले परामृतात् परिमुच्यन्ति सर्वे। (मुण्डक ३।२।६)

अर्थात् परान्तकाल के पश्चात् अमृतात् (मोक्ष) से जीव लौट आते हैं।

आज कल मुण्डक उपनिषद् में 'परामृतात्' के स्थान में 'परामृताः' है। परन्तु कैवल्य-उपनिषत् में 'परामृतात्' आया है। कुछ कैवल्य-उपनिषदों में 'परामृताः' भी मिलता है। अतः हमारी धारणा है कि स्वामी दयानन्द को मुण्डक में भी 'परामृतात् ही मिला होगा और कैवल्य की पिछली प्रतियों में किसी ने 'परामृताः' पाठ कर दिया होगा क्योंकि मुक्ति से न लौटने का सिद्धान्त लोगों के हृदय में घर कर गया था। और उसी के अनुकूल उपनिषद् के पाठ को किसी ने बदल दिया। परन्तु केवल इतने से ही सचाई छिपी नहीं। श्री शंकराचार्य ने मुण्डक के भाष्य में इस प्रकार पाठ दिया है:—

ते ब्रह्म लोकेषु परान्तकाले, परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।

इसके भाष्य में 'परान्तकाल' का अर्थ इस प्रकार किया है:—

"संसारिणां ये मरणकालास्तेऽपरान्तास्तानपेक्ष्यमुमुक्षूणां संसारावसाने देह परित्याग-कालः परान्तकालः"।

यहाँ परान्त और अपरान्त का भेद शंकर स्वामी ने केवल इसीलिए किया कि वह मुक्ति से लौटना नहीं मानते थे। पाठकगण शंकर स्वामी का इस मंत्र पर सम्पूर्ण भाष्य पढ़ें। उनको पता चल जायगा कि समस्त भाष्य में एक प्रकार की अस्वाभाविकता है। परान्तकाल कालगणकों का पारिभाषिक शब्द है और मोक्ष की अवधि का सूचक है। शांकर-भाष्य में 'संसारावसाने' शब्द कई उलझनें उत्पन्न कर देता है जो मूल में नहीं हैं।

यद्यपि मोक्ष केवल परोक्ष का विषय है और आज कल के प्राकृतिक जीवन में इसका उपयोग प्रतीत नहीं होता तथापि हमने इसको इसलिये लिया है कि इस सिद्धान्त का हमारे लौकिक जीवन पर बड़ा प्रभाव पड़ता है और मोक्ष सम्बन्धी कई भ्रमात्मक सिद्धान्त हमारे लौकिक विकास में विघ्न डाल रहे हैं।

आर्य समाज के महाधन

[लेखक—श्री स्वामी स्वतन्त्रानन्द जी महाराज]

आर्यसमाज प्रचारक तथा सुधारक समाज है। संसार के आरम्भ में वैदिक धर्म ही धर्म माना जाता था, पश्चात् क्रमशः उसमें शिथिलता आकर धर्म के नाम पर अनेक बातें प्रचलित हो गईं। उनके सुधार के लिये अनेक महानुभावों ने समय समय पर प्रयत्न किये। उनके पश्चात् पुनः स्वार्थी और आलसी तथा धूर्त व्यक्तियों ने जनता को धर्म पथ से भ्रष्ट कर दिया, तब महर्षि दयानन्द जी ने वैदिक धर्म का प्रचार आरम्भ किया, और रूढ़िवाद में सुधार का सफल प्रयत्न किया। यह स्वाभाविक बात है कि पंथाई लोग अंध विश्वास के कारण सुधार नहीं चाहते हैं, और स्वार्थी लोग धर्म को समझते हुए भी स्वार्थवश रूढ़िवाद में रहकर अपना स्वार्थ सिद्ध करते हैं। अतः वह भी सुधारकार्य के विरोधी होते हैं। वह स्वयं तो विना निन्दा के कुछ कर नहीं सकते हैं, परन्तु अपने अन्ध भक्तों को प्रेरणा करते हैं, कि सुधारक को संसार से उठा कर पुण्यवान बनो। इसी पुण्य, स्वर्ग, बहिश्त के प्रलोभन में आकर वह सुधारक वा सुधारक दल के धर्म प्रचारकों का जीवन हरण करते हैं, यही महाधनों का मार्ग है।

जब पंथाई अपने पक्ष का मंडन युक्ति से नहीं कर सकते और उनके अगुआ केवल यह पूर्व से चला आता है, कह कर संतुष्ट हो जाते हैं। और उस दल में जो वृद्ध समझदार व्यक्ति होते हैं, वह तुलना करके, धर्म का यथार्थ रूप समझ कर रूढिवाद को तिलांजलि देते हैं, तब उस दल में अगुआ सुधारक धर्म प्रचारक धर्मात्मा जनों के शत्रु बन कर स्वयं वा अपने किसी विवेक-हीन, अन्धविश्वासी द्वारा उनका प्राणहरण ही धर्म समझ कर वैसा करने में तत्पर हो जाते हैं, और उन महात्माओं की जीवनलीला समाप्त करके ही संतुष्ट होते हैं।

यह साधारण नियम है। आर्यसमाज के साथ भी इसी नियम का पालन किया गया। आरम्भ से लेकर अब तक आर्य समाज के अनेक सज्जन इस मार्ग के अनुयायी हुए। रूढिवादियों ने उनकी जीवन-लीला समाप्त करके अपने कर उनके रुधिर से रँगे।

उनमें से कुछ के संक्षिप्त जीवन मैं यहां पाठकों की भेंट करता हूँ, क्योंकि मेरा विचार उन

सब के जीवन लिखने का है, जिस समय अवसर मिला, उसी समय कार्य किया जायगा।

आरम्भ में महर्षि दयानन्द जी के जीवन को इसी प्रकार समाप्त किया गया। पश्चात् पं० लेखराम जी आदि ने इसी प्रकार अपने प्राण वारे, जिनको आर्यसमाजी प्रायः जानते हैं। परन्तु इस लेख में मैं उन महाधनों (शहीदों) का उल्लेख करूंगा, जिनको जानने वालों की संख्या अत्यन्त अल्प है, और वह भी केवल पंजाब के न लिखकर दूसरे प्रान्तों के भी लिखूँगा,। इस समय केवल चार महाधनों की ही चर्चा करूँगा।

श्री खांडेराव जी

मुम्बई प्रदेश के नियमानुकूल इनका पूरा नाम खांडेराव गणपतराव जगताप था। इनका अपना नाम खांडेराव, पिता का नाम गणपतराव और जगताप अल है। आप का जन्म मराठा जाति में हुआ था। ध्यान रहे हम उत्तरनिवासी महाराष्ट्रनिवासी को मराठा समझते हैं। परन्तु महाराष्ट्र प्रन्त में मराठा एक जाति है, छत्रपति शिवाजी इसी जाति के रत्न थे। महाराष्ट्र में पहला विवाद है कि मराठा जाति क्षत्रिय है वा शूद्र है, जिस प्रकार पंजाब में जाटों के विषय में विवाद था, अब मराठा अपने आप को क्षत्रिय ही मानते हैं।

१५ मार्च सन् १८८६ ई० को श्री गणपतराव के घर में श्रीमती देवबाई के उदर से इस वीर का जन्म सूरत ज़िले के नारदौली तालुका के माहुवा ग्राम में हुआ था। माहुआ आपकी ननसाल थी, आपके पूज्य पिता पुलिस में नौकर थे ! अतः आपका जन्म आपकी ननसाल में ही हुआ।

श्री गणपतराव जी भरुच ज़िले की पुलिस में नौकर थे, अतः इनकी पूज्या माता देवबाई इनको लेकर भरुच आई, परन्तु मातृसुख इनके भाग्य में विशेष न लिखा था। जब आप अभी ढाई वर्ष के थे तो पूज्या माता देवबाई का देहान्त हो गया, और यह मातृविहीन हो गये। उस समय इनको इनकी बुआ (फूफी) ने संभाला और उसका लालन पालन किया। इनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया। यह बड़े होकर अपने पिता के पास आगये, तब यह गुजराती स्कूल में पढ़ने भेजे गये, पुलिस वालों की बदली प्रायः होती रहती है, यह नियम गणपतराव पर भी लागू था। अतः इनकी पढ़ाई नियमित रूप से एक स्थान पर नहीं हुई। इन्होंने गुजराती की मिडिल परीक्षा पास की।

मिडल पास करके प्रेमचन्द रायचन्द ट्रेनिंग कालिज अहमदाबाद में प्रविष्ट हो गये, और १६१० ईसवी में सीनीयर ट्रेंड हो गये, उसी समय बड़ौदा में इनका विवाह श्रीमती लक्ष्मीबाई से हो गया।

अहमदाबाद में उन्होंने आर्यसमाज के संस्कार लिये, और १६१३ ईसवी में जब भरुच में 'गुजरात आर्य धर्म परिषद्' का आयोजन हुआ, तब आपने बड़े उत्साह से काम किया।

आप स्कूल में काम करते थे, परन्तु साथ २ आर्य समाज का प्रचार भी करते थे इसलिये १६१४ में आर्य समाज के मंत्री बनाये गये और कई वर्षों तक मंत्री रहे। १६१६ में आपके पिता जी उस समय थानेदार थे पैनशन लेकर बड़ौदा में जाकर रहने लगे और अब खांडेराव जी विवश अपने पिता से पृथक् भरुच में रहने लगे।

काम

आर्य समाज का प्रचार और आर्य संगठन इनका मनभाता कार्य था। ग्राम हांसोर में एक मंदिर

की मूर्ति का भंग हुआ, आप वहां गये और प्रचार किया, आपका इतना प्रभाव पड़ा कि आर्य लोग उत्साहित हो गये और आगे को ऐसी घटना असंभव हो गई।

मुंबई प्रदेश का गुरुकुल शुक्ल तीर्थ में आगया, आप उनकी सहायता में समय देने लगे।

आर्य कन्या गुरुकुल हटोला की सहायता करते थे। पं० आनंद प्रिय जी के कन्या गुरुकुल बड़ौदा के लिये भी यथा संभव सहायक बनते थे।

शिवाजी जयन्ती बड़ी धूमधाम से मनाई गई, जिससे गुजरात प्रांत में वीर रस की बातें होने लगी, इसी उत्सव के समय अन्य कई नगरों में दंगे हुये। परंतु इस वीर की उपस्थिति में भरुच में शांति रही।

आप अमृतसर से कृपाण मंगवा कर वीरों को दिया करते थे, इसी पर पुलिस ने श्री खांडेराव जी, श्री रामराव जी (इनके साले) श्री महेश जी पर अभियोग चला दिया, न्यायाधीश ने कृपाणें जब्त कर लीं, और इनको दण्ड दिया। परंतु हाई कोर्ट ने दण्ड वापस दिला दिया और कृपाणें भी वापस मिल गईं।

गुजरात में अबलाहरण मुसलमान करते हैं, उसमें कुछ तो वैधव्य हेतु है तथा कुछ हिंदुओं का भीरुपन और मुसलमानों का गुण्डापन कारण है। आप इस विषय में सतर्क रहते थे, और कई स्त्रियों को गुण्डों के हाथ से छुड़ाकर लाये थे। कई बार कुछ लड़ाई भी हुई, परंतु आप अपने कार्य में तत्पर रहे।

इसी कारण गुण्डे मुसलमान इनसे बिगड़ गये।

१६२६ ई० में इनके पिता विशेष रोगी हो गये। आप उनकी सेवा के लिये बड़ौदा गये और भरसक उनके शरीर को बचाने का यत्न किया, परन्तु नश्वर शरीर नाश हुए बिना कब रहता है। जब आप वहां सेवा कार्य कर रहे थे, तो एक दिन पिता जी ने कहा—पुत्र मुझे मुसलमान गुण्डों का अनुभव है तूने उनसे न बिगाड़ना, यदि तू काम करेगा तो हिन्दू तेरा साथ न देंगे।' आपने उत्तर दिया—पिता जी मरना तो सब को है। मैं भी मरूंगा। यदि मारा गया तो शहीद हो जाऊँगा। यह तो सौभाग्य की बात है। इसमें प्रसन्नता है, डर नहीं है।

अंतिम दृश्य

गोपाल नाम का एक बालक था, वह दूध की दूकान पर काम करता था, एक मुसलमान उससे छेड़खानी किया करता था, एक दिन शराब पीकर उसने गोपाल को छेड़ा। मारामारी हो गई, गोपाल के कुछ थोड़ी चोट आई और उसने उस गुंडे की ऊंगली काट ली। इससे शत्रुता बढ़ गई। ४—३—३० को सायंकाल के समय गोपाल दूध का डब्बा टांगे पर रख कर लिये आता था, तब उस गुंडे और दो तीन मुसलमान लड़कों ने गोपाल को गालियां दीं और पत्थर मारे। परन्तु गोपाल आगे बढ़ गया। वह लड़के उसके पीछे आये। नगर के समीप आकर गोपाल भी उतर गया और लड़ने लगा। उसके कुछ चोटें आईं। उसने एक लड़के को गिरा कर पीट दिया और गाड़ी दौड़ा कर दुकान पर आ पहुँचा। लड़के ने हल्ला मचाया, मुसलमान इकट्ठे हो गये। वह गोपाल को पकड़ना चाहते थे। गोपाल थाने में चला गया। थाने के पास लगभग ७०० मुसलमान लाठी आदि लेकर जमा हो गये। शहर की दूकानें बन्द हो गईं। प्रत्येक हिन्दू उधर जाने से घबराता था। खांडेराव को ८ बजे इसकी सूचना

मिली। आप तुरन्त थाने में गये और थानेदार से आज्ञा लेकर गोपाल से मिले और उसको आश्वासन दिया। आपने गोपाल को छुड़ाना चाहा, परन्तु थानेदार ने कहा—रात के समय इसकी जान का भय है। अतः मैं नहीं छोड़ता, जब आप लौटने लगे तो पुलिस वालों ने आपको कहा—आप भी इस समय न जाएँ। परन्तु आपने इसे न माना और उन मुसलमानों के मध्य में से निकल कर अपने गृह पर आ गये।

उस समय तो आप निकल गये, परन्तु मुसलमानों ने निश्चय किया, कि येन केन प्रकारेण मास्टर खांडेराव को मारना चाहिये क्योंकि यह प्रत्येक कार्य में विघ्नकारी होता है।

दूसरे दिन यह भोजन करके स्कूल गये। स्कूल के पास एक झोंपड़ी में तीन क्रूर हत्या की भावना से छिपे बैठे थे, जिसका हमारे वीर को ज्ञान न था। जब वह स्कूल में पढ़ा रहे थे तो एक बूढ़ी स्त्री ने इनको बाहर बुलाया और कुछ बातें कीं। वह उत्तर देकर लौट रहे थे तो इमामखां ने पीछे से इनके सिर पर धारिये से वार किया इन्होंने लौट कर इसे पकड़ कर भूमि पर पटक दिया तब दूसरे साथी ने इनके पग पर लाठी मारी और तीसरे ने सिर पर धारिये से वार किया। उस धारिये के वार से यह गिर गये और वह तीनों वहां से भाग गये। यह घटना दिन के बारह बजे की है।

इनको उठा कर हस्पताल में पहुंचाया गया उस समय यह मूर्छित थे और सायंकाल ५ बजे यह अनाथों का सहारा अबलाओं का रक्षक वीर स्वर्ग सिधारा और अपने पीछे ७ प्राणियों का कुटुम्ब छोड़ गया।

६-३-३० को आपकी अर्थी धूमधाम से निकाली। पं० आनन्द प्रिय जी तथा गुरुकुल शुक्ल तीर्थ के विद्वान् भी अर्थी के साथ थे।

अभियोग चला परन्तु अभियुक्त बिना दण्ड छूट गये।

२. श्री ब्रजलाल जी

मध्य प्रदेश के बेतूल जिले में चिंचोली नामक स्थान में वीर ब्रजलाल जी ने जन्म ग्रहण किया था। आपके पिता का नाम धनाराम जी पटैल और माता का शुभ नाम तापी बाई था। ब्रजलाल जी का जन्म १८६८ ई० में हुआ था।

जब आपकी आयु लगभग २० वर्ष की थी तब आपने आर्यसमाज में प्रवेश किया, और भाषा के पुस्तकों द्वारा आर्यसमाज के सिद्धान्त समझे। सत्यार्थप्रकाश पढ़ने से आपके जीवन में विशेष उत्साह उत्पन्न हो गया। अतः आपने आर्यसमाज का काम आरम्भ किया। आपके पुरुषार्थ से चिंचोली आर्यसमाज के साप्ताहिक सत्संगों की रौनक खूब बढ़ी और उत्सव बड़ी शान से होने लगे। आर्य पर्व भी अच्छी प्रकार मनाये जाने लगे।

चिंचोली में ताजियों का बड़ा प्रचार है। मुसलमान तो ताजिया बनाना अपना धर्म समझते ही हैं। परन्तु वहां हिन्दुओं द्वारा भी प्रति वर्ष ३० वा ४० ताजिये बनवाये जाते थे। ब्रजलाल जी ने प्रथम इधर ध्यान दिया और प्रचार आरम्भ किया कि हिन्दुओं को यह कार्य नहीं करना चाहिये। तुम्हारे ३३ करोड़ देवता हैं, तुम उनको पूजो। यह ताजिये क्यों पूजते हो। दो मुसलमान परस्पर लड़ कर मरे,

तुम्हारा उनसे क्या सम्बन्ध है। फिर काग़ज़ और लकड़ी के ताजिये बना कर रोते पीटते हो, यह कैसा धर्म कृत्य है? इत्यादि।

इस प्रचार का परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं ने ताजिये बनाने छोड़ दिये और मुसलमान भाइयों के यत्न करने पर भी हिन्दुओं का कोई ताजिया न बना इससे मुसलमान बिगड़ गये और ब्रजलाल के शत्रु हो गये।

ब्रजलाल ने ताजिये के स्थान पर गणपति उत्सव का प्रचार किया। अब यह उत्सव बड़े समारोह से होने लगा और हिन्दुओं का उत्साह बढ़ा। इसने मुसलमानों के लिये जलती अग्नि पर तेल का काम किया।

भादों मास में अखाड़ा (मल्लयुद्ध) हुआ, उसमें मुसलमानों ने आकर ललकारा कि आये जिसे हमारे साथ मल्लयुद्ध करना हो, आगे बढ़ो, तुम दाल खाने वाले क्या कुश्ती करोगे। इस प्रकार आर्य-युवकों को भी जोश आ गया और जोड़ नियत हो गये। दैवयोग से जितने जोड़ हुये, सब में आर्य विजयी रहे। इससे मुसलमान लज्जित तो हुए, परन्तु मन में ब्रजलाल के तीव्र शत्रु हो गये और समझने लगे कि इस संगठन का मूल ब्रजलाल ही है, उसे मारना चाहिये।

इस काम के साथ २ ब्रजलाल जी शुद्धि का कार्य भी करने लगे, कई ईसाई शुद्ध होकर अपनी बिरादरी में मिल गये। उसी समय पुनिया नाम की एक स्त्री, जो कुसंग से मुसलमानी हो गई थी, वह पश्चात्ताप करके पुनः प्रायश्चित के लिये उद्यत हो गई। ब्रजलाल जी ने उसे प्रायश्चित करवा के उसका पुनर्विवाह उसी की बिरादरी में करवा दिया। इस संस्कार में अनेक हिन्दू भी सम्मिलित हुए।

इससे पिंजाड़े मुसलमान जल-भुन गये, और ब्रजलाल के घात के उपाय सोचने लगे।

दैवयोग से उन दिनों में ही इनके ग्राम में मौरूसी किसानों की भूमि नीलाम होने लगी। मुसलमानों ने अन्याय पूर्वक उसे प्राप्त करना चाहा। इस कारण न्यायालय में अभियोग चलाया गया। न्यायालय में वह भूमि ब्रजलाल को मिल गयी, और उसका दाम भी नियत किया गया।

जब ब्रजलाल जी भूमि पर अधिकार प्राप्त करने गये, तब अब्बासखां ने इनके सोने में धोखे से छुरी मारी। उसके तीन साथी और थे। छुरी लगते ही इनके प्राण पखेरू उड़ गये। यह घटना १२-१०-१९२८ ई० दिन के नौ बजे की है।

यह चारों अब्बासखां—दूसरा शेख, तीसरा लाल मुहम्मद, चौथा महताब, पकड़े गये, और बेतूल के जज ने चारों को प्राणदण्ड दिया, यह निर्णय १०-१२-१९२८ को हुआ।

अपील होने पर नागपुर के न्यायालय से १८-१-१९२९ को अब्बासखां को फांसी की सजा रही और शेष तीन बरी हो गये।

पुनः वायसराय के पास अपील करने पर अब्बासखां को भी फांसी से मुक्त करके १० वर्ष का कारागार हो गया।

३. सरदार घुन्नासिंह

ज़िला लुधियाना में लताला नाम का एक ग्राम है, जिसमें खंगूड़े गोत्र के जाट रहते हैं। उसमें भगवान सिंह नाम के एक प्रतिष्ठित ज़मींदार थे। उनके दो सुपुत्र थे, ज्येष्ठ पुत्र का नाम थम्मणसिंह और कनिष्ठ का नाम मितसिंह था। घुन्नासिंह जी इस बड़े थम्मणसिंह के एकमात्र पुत्र थे। घुन्नासिंह की माता का नाम श्रीमती भागण था। आपका जन्म १९३७ विक्रमी तदनुसार १८८१ ई० में हुआ था।

अपने घर में यह एक मात्र बालक थे। अतः इसका लालन पालन लाड़पूर्वक हुआ। जब आप की आयु ७ वर्ष की हुई तो आपको गुरुमुखी पढ़ने के लिये श्री ठाकुरदास जी उदासी महात्मा के पास भेजा गया। आपने गुरुमुखी का कुछ अभ्यास किया। उन दिनों में ग्रामों में सिख संप्रदाय में गुरु ग्रन्थ साहिब का पाठ कर लेना पढ़ाई की अन्तिम अवधि थी। आपने यह पाठ नहीं किया था। केवल पंज ग्रन्थी अवश्य पढ़ी थी। आप अपना सब काम काज गुरुमुखी अक्षरों में ही किया करते थे।

आपका परिवार कृषि कार्य में पटु समझा जाता था और उसके पास अच्छी भूमि थी। अतः आपको अपनी पढ़ाई वहां ही समाप्त करके कृषि कार्य में लग जाना पड़ा।

लताला ग्राम में उदासी साधुओं का एक प्रसिद्ध डेरा है। वह डेरा दो बातों के लिये प्रसिद्ध है, एक तो वहां संस्कृत की पाठशाला है, इधर उधर के ब्राह्मण और साधु जो संस्कृत पढ़ना चाहते हैं वह प्रथम वहां आकर ही पढ़ना आरम्भ करते हैं; दूसरे चिकित्सा कार्य- दूर दूर से रोगी वहां चिकित्सा के लिये आते हैं। वहां औषध का कुछ नहीं लिया जाता था। निःशुल्क दी जाती थी। और कई अवस्थाओं में तो पथ्य भी डेरे से ही मिलता था। इस कारण इस आश्रम की साधुओं और गृहस्थियों में ख्याति है।

इस डेरे के साधु श्री यमुनादास जी प्रज्ञाचक्षु तथा पं० विष्णुदास जी उस समय प्रसिद्ध थे। इनमें प्रथम वैयाकरण और नैयायिक प्रसिद्ध थे, और दूसरे वैद्य विख्यात थे। श्री यमुनादास जी ने आर्यसमाज के संस्कार कहीं बाहर ही प्राप्त किये। पं० विष्णुराम जी को सरदार हरीसिंह भैणी गंडा निवासी ने प्रथम पं० लेखराम जी के पुस्तक पश्चात् महर्षि के पुस्तक देकर आर्यसमाजी बनाया।

घुन्नासिंह इनके सत्संगी हुए और इनकी कृपा से ही देवनागरी लिपि सीखी। और आर्यभाषा पढ़ने में अच्छे हो गये और बंगवासी वा भारतमित्र के ग्राहक बन गये।

इनके संग से इनके विचार आर्यसमाज की ओर हुये और यह लुधियाना, रायकोट आदि समाजों के उत्सव पर गये और पक्के आर्यसमाजी हो गये। एक उत्सव लताला में भी करवाया जिसमें पं० धनीराम जी शास्त्री, पं० रामरत्न जी; मास्टर किसनसिंह जी मंगू आदि गये थे।

लुधियाने में आपके सर्वश्रेष्ठ परिचित मास्टर भानाराम जी, ला० लब्भूराम जी नैयड़, डा० बख्तावरसिंह जी, डा० वृन्दावन जी, मास्टर रामलाल जी, मा० श्री कृष्ण जी आदि थे।

सुधार कार्य

आपकी माता जी का जब देहान्त हुआ तो आपने अन्त्येष्टि संस्कार के पश्चात् कुछ न किया। इस पर गांव में खूब चर्चा हुई, परन्तु आप अपने विचारों पर दृढ़ रहे।

पश्चात् पूज्य पिता के स्वर्गवास के समय भी वैसा ही किया गया, तब चर्चा न्यून हुई। फिर आपने खेती छोड़ कर पनसारी की दुकान कर ली पुन: आपने अपनी ज्येष्ठ कन्या का विवाह डा० इन्द्रसिंह जी ग्राम बुरज नकलियां में किया। डाक्टर जी के पिता के बल देने पर भी आपने बरात बुलाना स्वीकार न किया। वर, वर का ज्येष्ठ भ्राता, नाई, गाड़ी वाला यह चार ही बरात रूप में आये। वैदिक रीति से संस्कार होना था, अत: ग्राम निवासी देखने को आये, संस्कार कराने वाला कोई ब्राह्मण न आया, अत: पं० विष्णुदास जी से पूछा गया, अब क्या किया जाय उन्होंने कहा—चलो मैं संस्कार करवाता हूं इस प्रकार विवाह सम्पन्न हुआ।

धैर्य

आपका ज्येष्ठ पुत्र आर्य हाई स्कूल लुधियाना में १० वीं श्रेणी में पढ़ता था, वह रोगी हुआ और मूर्छा हो गई। आपको सूचना दी गई। आप पं० विष्णुदास जी और अपने चचा के पुत्र हरनाम सिंह को साथ लेकर आये। लुधियाने के डाक्टर, वैद्य, हकीम सब बुलाये परन्तु मूर्छा न खुली। अन्त को देहान्त हो गया। अंत्येष्टि संस्कार के पश्चात् जब चलने लगे तो मैंने पूछा पैदल जाना है वा रेल द्वारा। उन्होंने उत्तर दिया पैदल जाऊँगा। इनका ग्राम लुधियाना से १८ मील होगा। मैंने कहा भोजन करके जाएँ तो अच्छा है, क्योंकि घर जाने पर रोना धोना आरम्भ होगा, भोजन कौन देगा, मेरे मुँह की ओर देख कर कहा, आपकी यही सम्मति है। मैंने उत्तर हां में दिया। आपने कहा अच्छा मंगवा दो। उसी समय मास्टर रामलाल जी को कह कर भोजन मंगवाया गया और आपने भोजन किया और चले गये।

आपने कई लड़के आर्य स्कूल में पढ़ने के लिये भिजवाये। और आप यथाशक्ति उनकी सहायता भी करते रहते थे।

लताला ग्राम में कन्या पाठशाला खोली गई। उसमें अध्यापक वहां के निवासी एक सज्जन थे वह अकाली थे। घुन्नासिंह कहता था, अध्यापक के स्थान पर अध्यापिका रखनी चाहिये। इस बात पर विवाद हो गया, सिखों के नेता समझौते के लिये आये। आर्यसमाजी पक्ष कहता था—व्यय आधा हम देते हैं, आधा सिख दें और अध्यापिका हो, सिख कहते थे कि तीन चौथाई आर्यसमाज दें, एक चौथाई हम देंगे अध्यापक यही रहे, अत: समझौता न हो सका।

अन्त में हवलदार वीरसिंह जी, रसाईदार भोलासिंह जी जमादार चंनणसिंह जी आदि घुन्नासिंह जी के साथ आ मिले और इन्होंने नई पाठशाला खोल के डिस्ट्रिक्ट बोर्ड को दे दी, जो अब तक चल रही है। अकाली इसे सह न सके। अपने इतिहास को भुलाकर इनकी जान के लागू हो गये। उन्होंने एक युवक को जिसका नाम वचन सिंह था, इस कार्य के लिये उभारा। उसने एक घोघड़ नाम का दूसरा व्यक्ति उसी ग्राम का और दो दूसरे ग्राम के अपने साथ मिलाकर घुन्नासिंह को मारने का निश्चय किया।

११ मई १९३० को प्रात:काल आप अपनी दुकान खोलने आये। जब आप ताला खोल रहे थे, तब वचनसिंह और घोघड़ ने आकर पीछे से पकड़ लिया और घसीट कर वचनसिंह के घर में, जो समीप ही था, ले गये। वहां चारों ने मिलकर लाठियों से खूब पीटा। हल्ला होने पर वसतासिंह आदि पहुँचे। उनके पहुँचने पर चारों भाग गये। इनको उठाकर बाहर लाया गया। सब से प्रथम

ज्वालासिंह दरजी सामने गया। उसने बताया कि सबसे प्रथम धुन्नासिंह ने कहा 'ज्वालासिंह देख लो, आखों में अश्रु तो नहीं हैं।"

शकट पर डालकर थाने को चले। जब ग्राम छपार पहुँचे तो धुन्नासिंह ने कहा, ठहर जाओ, शकट ठहराया गया, तब कहा 'कुछ घबराहट सी प्रतीत होती है।' जब फिर पूछा गया, तो उत्तर दिया 'बस, अब काम समाप्त है' यह कह के मुख से ओ३म् कहा और भौतिक शरीर को छोड़ कर वीर आत्मा ने देह त्याग दिया।

डाक्टर ने रिपोर्ट की थी कि गरदन के नीचे कोई भी अस्थि साबत नहीं है। ग्राम में लाकर अन्त्येष्टि क्रिया की गई।

वचनसिंह के अतिरिक्त तीनों व्यक्ति कुछ समय पीछे पकड़े गये, दो जो अन्य ग्राम के थे, उनकी पहचान हो सकी, वह मुक्त कर दिये गये। घोषण को फांसी की सजा हुई। अपील में काला पानी हो गया। जजों ने लिखा इसकी आयु २० वर्ष है अतः प्राण दण्ड काले पानी में बदला जाय।

वचनसिंह अकाली १६ मई १६३१ को जिला फीरोज़पुर के ग्राम से पकड़ा गया। अभियोग चलने पर उसे फांसी की सजा हुई। हाईकार्ट में जजों ने अपील सुन कर निर्णय दिया, कि वचनसिंह को फांसी का ही दण्ड होना चाहिये। यह निर्णय १२ जनवरी १६३३ को हुआ। अतः लुध्याना जेल में उसे फांसी दी गई। और लताल में ले जाकर अंत्येष्टि संस्कार किया गया।

धुन्नासिंह जी के ४ पुत्र २ कन्याएँ थी एक पुत्र भजनसिंह का देहान्त उनके सामने ही आर्य हाई स्कूल लुधयाना में हो गया था. तीन बख्तावरसिंह, सुखदेव सिंह, बलभद्र सिंह अब अपने ग्राम में काम करते हैं।

एक कन्या का विवाह डा० इन्द्रसिंह जी से उन्हों ने स्वयं किया था। और दूसरी का उनके पश्चात् हो गया।

उनकी विधवा पत्नी श्रीमती जयकुंवर अब तक जीवित हैं।

४—श्री श्यामलाल जी

श्री श्यामलाल जी का जन्म हैदराबाद राज्यांतर्गत बीदर जिले के भालकी नामक ग्राम में दिसम्बर १६०३ ईसवी में हुआ था। आपके पूज्य पिता का नाम श्री भोला प्रसाद जी और पूज्या माता का नाम छाटोबाई था। आपके पिता साधारण अवस्था के गृहस्थी थे, धार्मिक दृष्टि से आप कट्टर शैव थे।

श्री श्यामलाल जी के दो भ्राता और तीन बहिने थीं। इनके ज्येष्ठ भ्राता पंडित वंशीलाल जी हैं। जो हैदराबाद राज्य में आर्य समाज के नेता और मुख्य कार्यकर्ता हैं।

श्यामलाल जी की माता धैर्यवती और बड़ी कार्य कुशल तथा दया की मूर्ति थी वह गृह प्रबन्ध उत्तम रीति से करती थी। श्यामलाल में माता के विशेष गुण आये थे। ग्राम में गली में यदि किसी पर कुछ आपत्ति हो, तो वह मुक्त हस्त से सहायता किया करती थी, दूसरे के दुःख को अपना दुःख समझती थी।

श्यामलाल जी की शारीरिक अवस्था आरंभ से ही अच्छी न थी। अतः इनकी माता ने इनको विवाह से रोक दिया था। अतः आप बाल ब्रह्मचारी रहे। इनकी माता ने इनको धर्म कार्य करने का

आदेश दिया था। इन्होंने जीवन भर उस आदेश का पालन किया।

इनके पिता का इनकी छोटी आयु में ही देहान्त हो गया था। इसलिये संतान का पालन पोषण विशेषतया माता जी द्वारा ही हुआ।

आपके पूर्वज संयुक्त प्रांत से गये थे। अतः घर पर हिन्दी भाषा बोली जाती थी। और वहां की भाषा मरहटी थी वह बालकों से बोलते थे। आपकी पढ़ाई प्रथम भालकी में ही छोटी सी पाठ-शाला द्वारा हुई और पश्चात् अपनी बहिन के पास उदगीर में पढ़ते रहे। वे मिडल पास करके हलीखडे में अपने मामा के पास रहे। फिर द्वितीय मामा श्री दत्तात्रेय प्रसाद जी के पास गुलबर्गा में आकर वकालत की परीक्षा देकर वकील हो गये।

आपकी धार्मिक प्रकृति थी, और प्रायः ग्राम के सब मंदिरों की यात्रा किया करते थे, हनुमान पर विशेष श्रद्धा थी।

इनके मातुल श्री गोकुल प्रसाद जी वकील इनके परिवार में प्रथम आर्य समाजी बने। उनके संग से इनके बड़े भ्राता श्री वंशीलाल जी वकील आर्य समाजी हो गये। तब दोनों भाइयों में धार्मिक विषय पर शास्त्रार्थ हुआ करते थे। उनका ही परिणाम था कि आप भी आर्य समाजी हो गये। १६२४ में आपने गुलबर्गा में आर्य समाज की स्थापना की।

आपने वकालत का काम उदगीर में ही आरम्भ किया। वकालत के साथ साथ आर्य समाज का काम भी यत्न पूर्वक करते थे। इनके प्रचार से हिन्दुओं में जागृति हुई। इससे वहां के कई सरकारी कर्मचारी बिगड़ गए। उन्होने मुसलमानों को भड़काया। होली, विजय दशमी आदि उत्सवों के जलूस बड़ी रौनक से निकले।

इससे पूर्व ही आपको रुधिर विकार के कारण चर्म रोग हो गया था जिससे शरीर विकृत हो गया था। आप लाहौर चिकित्सा के लिये आये और श्री हरनाम दास जी वैद्य से औषधि ली। साधारण लाभ हुआ। पंजाब में आने से आर्य समाज का रंग अधिक पक्का हो गया। आप पंजाब से यही धारणा लेकर लौटे कि अब आर्य समाज का ही काम करना होगा। आपने यही प्रण अंत तक निभाया।

प्रचार कार्य्य में आप पर अनेक बार भिन्न २ स्थानों पर छुरे, लाठी आदि से आघात पहुंचाने के असफल प्रयत्न किये गये। उनसे आपके उत्साह में वृद्धि ही हुई। इससे आप ईश्वर के अनन्य भक्त और निडर धर्म प्रेमी बन गये।

१६२८में उदगीर में पहला उत्सव हुआ। जलूस भी निकाला। उत्सव अच्छा हो गया। पुलिस ने श्यामलाल जी पर मुकद्दमा बना दिया और न्यायालय से इनकी दो हज़ार की जमानत और दो हज़ार का मुचलका हो गया। परन्तु अपील में यह छूट गये, हाईकोर्ट के जज श्री असगर यारजंग बहादुर ने अपने निर्णय में लिखा था, 'इस व्यक्ति को (Religious mania) धार्मिक पागलपन प्रतीत होता है, इस रोग की औषधि यह धारा नहीं है, जो इन पर लगाई गई है।' इससे इनके धर्म-प्रचार की लगन का पूर्ण परिचय मिलता है।

इसी अभियोग के साथ पुलिस ने दूसरा अभियोग चला कर वकालत की सनद जब्त करवाने की सिफ़ारिश कर दी। पुलिस ने दोनों में मुँह की खाई।

अब श्यामलाल जी ने बाहर जाकर प्रचार करना आरम्भ किया। आपने अहमदपुर, शाहजहानी औरात, कल्याणी, लातूर औसा, अंधोरी आदि स्थानों पर आर्यसमाजें बनाईं।

आर्यसमाज के प्रचार के साथ आप अखाड़ों का प्रचार भी किया करते थे ताकि युवकों में व्यायाम का स्वभाव हो। आप में संगठन की अद्भुत शक्ति थी। आप जहां जाते वहां युवक आपके भक्त हो जाते थे। आप जहां जाते, वहां ही अपने साथी बना लेते थे। पंडित विनायकराव जी कहा करते हैं, 'हम जहां जाते हैं, हमें यत्न करना पड़ता है कि कोई साथी बने। परन्तु पण्डित श्यामलाल जी जहां जाते हैं, उनको अनायास ही साथी मिल जाते हैं। पता नहीं ईश्वर ने उनको क्या शक्ति दी है जो जनता उनके गिर्द जमा हो जाती है। ईश्वर वह हमें भी दे।'

जब हैदराबाद राज्य में आर्य में आर्य प्रतिनिधि सभा बनाने का समय आया तब पण्डित जी उसमें भी अग्रसर थे। कुछ समय पीछे ही आप इस सभा के मन्त्री पद पर आरुढ़ हुए और प्रचार पहले से भी अधिक बल से करने लगे।

एक बार आप प्रचार करके एक घोड़े पर सवार होकर लौट रहे थे। मार्ग में नदी पड़ती थी। उसमें से निकल रहे थे कि घोड़े सहित जल में बह गये। ईश्वर ने दया की, आगे जाकर एक स्थान पर पानी कम आ गया और आप बच गए।

अजमेर निर्वाण अर्ध शताब्दी में आप इस सभा के प्रतिनिधि रूप में गये। वापस आने पर डिवीजनल आफीसर ने नोटिस दिया, कि आप भविष्य में ऐसे उत्सवों में सम्मिलित न हों। आपने उत्तर दिया, मेरे आचार्य के नाम का जो उत्सव होगा, उसमें जाना मैं अपना धर्म समझता हूं। अतः मैं यह आज्ञा मानने को उद्यत नहीं। यह बात यहां ही समाप्त हो गई।

१६३४ में श्री श्यामलाल जी की पूज्या माता का शरीरान्त हुआ। इसके पश्चात् ज्येष्ठ भ्राता श्री बंशीलाल जी ने वकालत छोड़ कर आर्यसमाज का काम आरम्भ किया, अब सारा समय प्रचार कार्य और संगठन में लगाने लगे।

१६३५ में उदगीर के अखाड़े का उत्सव था, जो बड़ी धूमधाम से सम्पन्न हुआ। उस समय श्री श्यामलाल जी पर वारंट था, लोगों ने कहा आप उत्सव में न जायें। आपने कहा मैं उत्सव में अवश्य जाऊँगा, और गये।

दिन रात कार्य करने से श्री श्यामलाल जी का शरीर शिथिल हो गया और रोग प्रबल हो गये, चिकित्सा के लिये आप पंजाब में गये, वहां से बरेली में डा० कुन्दनलाल के पास उपचार किया, वहां से बदरीनारायण की ओर पर्वत में जाकर वास किया। कुछ लाभ प्राप्त करके मुंबई में आ गये। इस प्रकार २ साल उधर ही रहे। मुंबई में डाक्टरों की सम्मति से सब दांत निकलवा दिये और एक आंख भी निकाल दी गई और अब भोजन दूध और केलामात्र करने की आज्ञा थी। शरीर आरम्भ से रोगी था, परन्तु अब रोगों ने शरीर शिथिल कर दिया था।

१६३७ का दशहरा था। उस समय उदगीर निवासी आर्य और हिन्दुओं ने बल दिया, कि श्यामलाल जी दशहरा के उत्सव पर अवश्य दर्शन दें। इष्ट मित्रों का अनुरोध उनको मुंबई से उदगीर ले आया। उत्सव बड़े समारोह से मनाया गया। जलूस नगर के बाहर चला गया। वहां खेलें हो रही थीं, जबकि पीछे नगर में दंगा हो गया। उसमें एक मुसलमान मारा गया। उसी सम्बन्ध में कई

आर्य पकड़े गए और बीदर जेल में रखे गए। उनमें श्री श्यामलाल जी भी पकड़े गए। आपने अपने ज्येष्ठ भ्राता पं० वंशीलाल जी के नाम एक अन्तिम पत्र भेजा था, नीचे हम उसकी प्रति लिपि देते हैं।

"नये दारोगा साहिब हमारे लिये भेजे गये हैं, उन्होंने आते ही कह दिया, कि श्यामलाल को दरवाजे के सामने जहां खूब हवा मारती है. सारी रात सुलाएं। वहां मैं अकड़ता पड़ा रहा। एक गारद नियत किया गया, कि कोई कैदी इनसे इशारे से बात तो नहीं करता। तारीख १० को इसकी खुराक जो दूध दिया जाता था, वह एकदम बन्द कर दिया जाय। इसके बाद दो दिन भूखा पड़ा रहा, १५ तारीख को मुझे ऐसी जगह रखा गया, कि दूसरे कैदियों की सूरत तक दिखाई न दे। और शाम को दारोगा साहिब पहुचे और कहा, 'आम कैदियों का खाना क्यों नहीं खाते? मैंने कहा, जनाब आज १४ माह से दूध पर हूं, दवा ले रहा हूं, दवा पर परहेज है, जिससे मुझ को बहुत फायदा हो चुका है, अभी चार छः महीने लेना बाकी है, उसे कैसे छोड़ं। "तुमको यह खुराक खानी पड़ेगी" तारीख २६ को पेशी है, उस दिन तक दूध दीजिये, तारीख पर मेरे रिश्तेदार आवेंगे, तो उनसे दूध के पैसे दिला दूंगा और आयंदा मैं अपना इन्तजाम कर लूंगा, मेरी दवा न छुड़ाइये। अच्छा अब तक तुम्हारी इज्जत रही है, सो गनीमत समझो, अब कैसी रहती है देखता हूं अगर न लोगे तो बेंत से पीटे जावोगे। डाक्टर ने भूल की है, जो तुमको यह दवा खाने की इजाज़त दी है, वह चल दिया थोड़ी देर में ज्वार की दो रोटी और खट्टी मिरच की दाल भोजन बनाने वाले को साथ ले दफेदार हाथ में बेंत लिये पहुंचे "लो" खुराक नहीं ले सकता। 'लेना पड़ेगा' दारोगा जीको बुलाइये।' दारोगा आए। जनाब इतने दिन से दूध पर हूं, एकदम रोटी मिरच वग़ैरे की दाल खा लूं तो क्या हाल होगा? कुछ नहीं तुम महकमे के कानून की खिलाफ़वरजी करते हो, नतीजा बुरा होगा, "कुछ ले लो" जनाब मुँह में दांत नहीं, कैसे खाऊँ? आज ले लो, कल से चावल देवेंगे। आज जब से देखने को कानून मांग रहा हूं नहीं मिलता, यह रोटी लेकर रख दूं, तो भी खिलाफवरजी होगी, इसको हम माफ कर देते हैं, चला गया। मैं भूखा सो रहा, तारीख १६ को दफेदार छड़ी लेकर चावल खट्टी दाल लिये आया। खट्टा मिरच डाली हुई दाल है, मैं नहीं खा सकता। मत खाओ, लेकिन ले लो, पहले हुक्म की तामील करो, कल से इन्तजाम करेंगे। वरना गत बनेगी। अच्छा रख दीजिये उस दिन भी भूखा रहा। तारीख १७ को चावल फीकी दाल आई, एक छटांक खाकर पानी पिया होगा, पेट खराब हो गया, डकारें आने लगीं। शाम का खाना लौटा दिया, अब तक छटांक अनाज जाता है, डाक्टर नहीं है, कम्पाउँडर दवा दे रहा है, बहुत कमजोरी है, तारीख १६ को आफिस में बुलवाया, क्यों कैसा है मिज़ाज ?' अभी वैसा ही है। तुम्हारे पैर में जूता क्यों? डाक्टर साहिब ने मेरे मिज़ाज को देख कर इजाज़त दी है। दूसरे भी तो साहूकारों के बच्चे हैं। गरीब अमीर की बात नहीं। मुझ अलग क्यों रखा गया? 'मरज की वजह से' इसलिये मौहतमिम साहिब ने इजाज़त दी है। मैं ऐसे खिलाफ ज़ाबता हुक्म को नहीं मानता, छोड़ दो। जूते लिए। तारीख १५ से हवन करना भी मना कर दिया है। जिस दिन से दूध बन्द है, उस दिन से दवा भी बन्द है अब तक जब मैं भूखा था तो रामचन्द्र, लक्ष्मण, श्रीनिवास, वामन, प्रकाश, भूषण, रामदास, दिगम्बर, अमृतराव और महारुद्र* भी भूखे रहे, तो बेंत मारने की तय्यारी की गई, और

---

* यह सब उसी दशहरे के दंगे में पकड़े हुये थे, निर्णय के समय रामचन्द्र और अमृतराव को छोड़ कर सब मुक्त हो गये हैं। (कृष्णदत्त प्रतिलिपि लेखक)

कहा, तुम सरकारी खाने को इन्कार करते हो। नहीं भाई [1] को भूखे देख कर खाया नहीं जाता, क्या करें। अच्छा शरारत करते हो, कह कर पैर में डण्डे डाल कर छोड़े हैं, दोनों पैर में।

इसको शोलापुर पहुँचाना, पैसों की सूरत नहीं देखना कोई फिकर न करना "*

एक समय पं० वंशीलाल जी ने श्री कृष्णदत्त को श्यामलाल जी को भेंट के लिए बांदा भेजा। तीन दिन परिश्रम करने पर आज्ञा मिली, पं० वंशीलाल शोलापुर में आर्य सम्मेलन के काम में लगे हुये थे। और उनको स्टेट में जाने की आज्ञा न थी। कृष्णदत्त जी ने आकर जो समाचार दिये उसी के आधार पं० वंशीलाल जी ने सर अकबर हैदरी (प्रधान मंत्री) जी को पत्र लिखा था कि मेरे भ्राता श्यामलाल जी अस्वस्थ हैं, उनको या तो स्वयं भोजन का प्रबन्ध करने की अनुमति दें अन्यथा इनके अनुकूल भोजन सरकार दे, वह जेल में हैं, उनके जीवन मरण का उत्तरदायित्व सरकार पर ही है।

जिस समय श्री श्यामलाल जी का पत्र श्री विनायकराव जी को हैदराबाद पहुंचा। उससे दूसरे दिन ही ज्ञात हुआ कि श्यामलाल जी शहीद हो गये हैं।

१६ दिसम्बर १६३८ ईस्वी को आपका बीदर जेल में स्वर्गवास हुआ। आपके मामा श्री दत्तात्रेय प्रसाद जी वकील इसी अभियोग की पैरवी के लिये बीदर गये थे, इनको वहां ही सूचना मिली, इन्होंने यत्न करके शहीद का शव प्राप्त किया और पुलिस गार्ड के पहरे में शोलापुर को चले, और प्रातःकाल ५ बजे के करीब शव शोलापुर पहुंचा, उस समय समय आर्य सम्मेलन के उपलक्ष्य में श्री नारायण स्वामी जी आदि अनेक आर्य नेता शोलापुर में थे, उसी दिन उनका अन्त्येष्टि संस्कार शोलापुर में विधि पूर्वक किया गया।

शोलापुर के सहस्रों नरनारी उनकी शव यात्रा में सम्मिलित हुए थे। यह चार महाधनों के संक्षिप्त जीवन मैंने लिखे हैं। यदि संभव हुआ तो सब के जीवन लिखने का प्रयत्न किया जायगा। इस लेख में मैं अन्य महाधनों के नामों की सूची देना उचित समझता हूं, यदि किसी सज्जन को इनके जीवन की कोई घटना ज्ञात हो, तो लिख कर भेजने का यत्न करें।

महाधन सूची

(१) महर्षि श्री दयानन्द सरस्वती जी महाराज।
(२) पं० लेखराम जी।
(३) पं० तुलसी राम जी।
(४) स्वामी श्रद्धानन्द जी।
(५) म० रामचन्द्र जी।
(६) म० राजपाल जी।
(७) श्री पालामल जी।
(८) म० घुन्नासिंह जी।
(९) म० शांति प्रकाश जी।
(१०) „ मातूराम जी।

---

[1] श्यामलाल जी को हैदराबाद राज्य के आर्य समाजी भाई से सम्बोधन किया करते थे।
(कृष्णदत्त प्रतिलिपि लेखक)

* यह पत्र नियमानुकूल नहीं भेजा गया था। जिस प्रकार कैदी जिनको पत्र आदि भेजने की आज्ञा नहीं मिलती, गुप्त रूप में भेजते हैं, उसी प्रकार वह पत्र लिखकर भेजा गया था।

यह भी ध्यान रहे, श्यामलाल जी अभी हवालात के कैदी थे, निर्णय होकर दण्ड नहीं हुआ था।

(११) „ सुनहरासिंह जी ।
(१२) „ रत्तिराम जी ।
(१३) „ नन्दलाल जी ।
(१४) „ विद्यासागर जी ।
(१५) „ लोड़ीदा राव जी ।
(१६) „ देवकी नन्दन जी ।
(१७) „ फकीर चन्द जी ।
(१८) „ परमानन्द जी ।
(१९) भक्त अनड़ामल जी ।
(२०) „ फूलसिंह जी ।
(२१) श्री ताराचन्द जी ।
(२२) „ बदनसिंह जी ।
(२३) „ मलखानसिंह जी ।
(२४) „ छोटेलाल जी ।
(२५) „ दयानन्द जी ।
(२६) स्वामी कल्याण नन्द जी ।
(२७) „ सत्यानन्द जी (बंगलौर) ।
(२८) ठाकुर नारायणसिंह जी ।
(२९) श्री अशरफी लाल जी ।
(३०) „ वैद्यनाथ प्रसाद जी ।
(३१) „ नथूराम जी ।
(३२) „ नारूमल जी ।
(३३) „ नेवदराम जी ।
(३४) „ नरवतसिंह जी ।
(३५) „ मेघराज जी ।
(३६) „ भैरों सिंह जी ।
(३७) „ जयराम जी ।
(३८) „ राधा कृष्ण जी ।
(३९) „ ब्रजलाल जी ।
(४०) „ पुरुषोत्तम जी ।
(४१) „ नन्हूसिंह जी ।
(४२) ब्र० रामनाथ जी ।
(४३) श्री पुरुषोत्तम शाह जी ।
(४४) „ खांडेराव जी ।
(४५) „ वेदप्रकाश जी ।
(४६) „ धर्म प्रकाश जी ।
(४७) „ महादेव जी ।
(४८) „ रामा कृष्ण जी ।
(४९) „ भीमराव जी ।
(५०) „ माणिकराव जी ।
(५१) „ सत्यनारायण जी ।
(५२) „ श्यामलाल जी ।
(५३) „ वेंकटराव जी ।
(५४) „ विष्णु भगवान जी ।
(५५) „ महादेव जी ।
(५६) „ अर्जुन सिंह जी ।
(५७) „ राधा कृष्ण जी ।
(५८) „ गोविन्दराव जी नलगीर ।
(५९) „ सदाशिव जी पाठक ।
(६०) „ शिवचन्द्र जी ।
(६१) „ माधवराव जी, सदाशिवराव लातूर ।
(६२) „ लक्ष्मण राव जी ।
(६३) „ नृसिंहराव जी ।
(६४) „ लक्ष्मण जी ।
(६५) „ माधव राव जी ।
(६६) „ पाण्डुरंग जी ।
(६७) „ लक्ष्मण जी ।
(६८) „ गोविन्दराव लक्ष्मणराव जी नलगीर ।
(६९) ब्र० परमानन्द जी (हरद्वार) ।
(७०) श्री मुरलीधर जी (सरहद्दी) ।